पुराणान्तर्गत प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति
एक अध्ययन

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालयीय पीएच०डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

शोध छात्रा -

कु० शिवानी यादव

एम०ए० (हिन्दी), एम०ए० (संस्कृत)

गांधी नगर, कोंच (जालौन)

पर्यवेक्षक -

डॉ० कैलाश नाथ द्विवेदी

एम०ए०, साहित्याचार्य, सा०रत्न, पीएच०डी०, डी०लिट्०

प्राचार्य

मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोंच (जालौन) - २८५ २०५
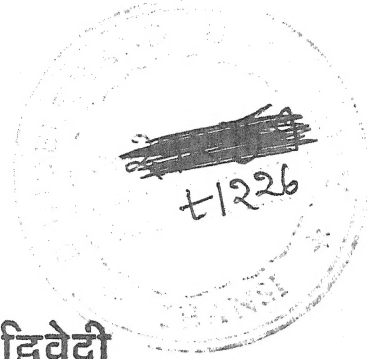
2000 ई०
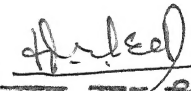
प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु0 शिवानी यादव ने मेरे निर्देशन में— "पुराणान्तर्गत प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति—एक अध्ययन" शीर्षक शोध प्रबन्ध तैयार किया है।

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के शोध अधिनियम के अन्तर्गत वांछित अवधि तक इन्होंने महाविद्यालय के शोध केन्द्र पर उपस्थित रहकर अपना शोध कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध शोधकर्त्री– कु0 शिवानी यादव का मौलिक कार्य है।

मैं इसको मूल्यांकन हेतु अग्रसारित करता हुआ शोध छात्रा के उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ।

{डॉ0 कैलाश नाथ द्विवेदी}

एम0ए0, साहित्याचार्य, सा0रत्न, पीएच0डी0,

डी0लिट0

शोध निर्देशक/प्राचार्य

म0प्र0 स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोंच{जालौन}

दिनांक 31-10-2000

-आत्म कथ्य-

सम्यक्-वातावरण का अभाव एवं परिजनों की आशायें-अपेक्षायें इन दोनों के बीच झूलती हुई समसामयिक-परिस्थितियों में कुछ किया जाये, इस तरह की उद्भावना से प्रेरित होकर मैंने सामान्य-जीवन की विषमताओं की अवहेलना आरम्भ की। फलस्वरूप, ऐकान्तिकता में कुछ करने के लिये उत्प्रेरणा मिली। फलस्वरूप, माध्यमिक-स्तर की पुस्तकों में आये हिन्दी-लेखों, निबन्धों के पढ़ने में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इण्टरमीडिएट के पाठ्यक्रम में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के "श्रद्धा-भक्ति" नामक निबन्ध में कुछ सोचने-समझने की प्रेरणा मिली। मेरे पिताश्री हरिभाई की जन्मस्थली बिजना, जनपद झाँसी (उ0प्र0) जो स्वर-ताल सम्राट स्व0 श्री छत्रपतिसिंह जू देव महाराज की प्रेरणा से अभिभूत तथा सर्वोदय-कार्य से संलग्न मेरे पिताश्री तथा माताश्री श्रीमती शकुन्तला यादव के सर्वोदयपरक भजनों आदि से भी मैं अभिभूत हुई। यह एक सफल संयोग ही था कि उसी समय महाविद्यालय में संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान पं0 श्री कैलाशनाथ जी द्विवेदी (साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, पीएच0डी0, डी0लिट्) प्राचार्य के पद पर आसीन हुये। उनकी मृदुल एवं उदारमयी भावनाओं के फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य से स्नातकोत्तर-उपाधि प्राप्त करने का सुअवसर मिला। उपरोक्त श्री द्विवेदी जी के सानिध्य ने एवं उनके सहज स्नेह ने मुझे प्रेरणा दी। श्री द्विवेदी जी की सदाशयता, सुशीलता और वन्दनीय गुरुपत्नी श्रीमती कुसुमादेवी द्विवेदी की प्रेरणा ने पौराणिक-अध्ययन हेतु प्रेरणा दी। मैं कुछ लिख सकी, ऐसा कहना मुझे आत्म-प्रशंसा एवं वंचना ही प्रतीत होती है, लेकिन तथ्य को नकारा भी तो नहीं जा सकता। विभिन्न जाने-अनजाने महानुभावों से पौराणिक-साहित्यिक सामग्री उपलब्ध हुई। इसी क्रम में परीक्षा आदि के सन्दर्भ में श्री रामसहाँय जी पांचाल का सानिध्य प्राप्त हुआ, जिनकी अभिरुचि संगीत

के साथ-साथ साहित्य में भी थी। फलस्वरूप संगीत के क्षेत्र में भी मुझे प्रवेश पाने का सुअवसर मिला। मैं उन अनाम-बन्धु-बाँधवों को भी विस्मृत नहीं कर पा रही हूं।

मेरी अल्पबुद्धि से प्रसूत इस लेखन से यत्किंचित भी जिज्ञासु भाई-बहिनों को यदि लाभ मिला, तो मैं उसके लिये कृतकृत्य अनुभव कर अपना श्रम सार्थक समझूंगी।

-निवेदिका-

शिवानी यादव

शिवानी यादव

30.10.2000

-विषयानुक्रमणिका-

भूमिका

— विषय प्रवेश —

भूमिका

पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है- वह आधारपीठ है, जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है।

-पुराण शब्द की व्युत्पत्ति-

"पुराण" शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। "पुरा भवम्" {प्राचीनकाल में होने वाला} इस अर्थ में "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः ट्युट्युलौ तुट् च" {पाणिनिसूत्र 4/3/23}। इस पाणिनि के इस सूत्र से "पुरा" शब्द से "ट्यु" प्रत्यय करने तथा "तुट्" के आगमन होने पर "पुरातन" शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों-

"पूर्वकालैक- सर्व- जरत्पुराणनव- केवलाः समानाधिकरणेन" {2/1/49} तथा "पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" {4/3/105} में पुराण शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार "पुरा" शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियम प्राप्त "तुट्" का आगम नहीं होता। "पुराण" शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है, परन्तु वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला। यास्क के निरुक्त {3/19} के अनुसार "पुराण" की व्युत्पत्ति है- पुरा नवं भवति {अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है}। वायुपुराण-1 के अनुसार यह व्युत्पत्ति है- पुरा अनति अर्थात् प्राचीनकाल में जो जीवित था। पद्मपुराण-2 के अनुसार यह निरुक्ति इससे किंचित भिन्न है-

---

1- यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

—वायु० 1/203

2- पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।।

—पद्म 5/2/53

"पुरा परम्परां वष्टि कामयते" अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्डपुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है। "पुरा एतद् अभूत" अर्थात् "प्राचीनकाल में ऐसा हुआ।"

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि पुराण का सम्बन्ध "इतिहास" से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से "इतिहास-पुराण" नाम से अनेक स्थानों पर उल्लखित किये गये हैं। "इतिहास" के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक कल्पना से भी सर्वथा अपरिचित थे। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। यास्क के कथनानुसार ऋग्वेद में ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तर्गत "इतिहास-मिश्र" मन्त्र पाये जाते हैं।[2] यास्क ने अपने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं को "इतिहासमाचक्षते" कहकर उद्धृत किया है। इतना ही नहीं निरुक्त में वेदार्थ व्याख्या[3] के अवसर पर उद्धृत अनेक विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक पृथक् स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसका स्पष्ट परिचय "इति ऐतिहासिकाः" निरुक्त के इस निर्देश से मिलता है।

1- यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

—ब्रह्माण्ड 1/1/173

2- नितं कूपेऽवहितमेतद् सूक्तं प्रतिबभौ ।
तत्र ब्रह्मेतिहास- मिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।।

—निरुक्त 4/6

3- ऋग्वेदं भगवो ध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पंचम वेदानां वेदम्।।

— छान्दोग्य 7/1

-पुराणों का रचनाकाल-

-पुराणों का ~~xxxxxxxx~~- निर्माण किस स्थल पर हुआ और कब हुआ? यह समस्या पौराणिक वैदुषी के लिये एक जीती जागती चुनौती है साम्प्रदायिक मान्यता तो यह है कि महर्षि वेद व्यास ने प्राची सरस्वती के तीरस्थ अपने आश्रम में बैठकर ध्यानस्थ होकर समग्र पुराणों का प्रणयन किया- फलतः पुराणों के देश में ऐक्य के समान उनके काल में भी ऐक्य है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के विद्वानों को यह सिद्धान्त कथमपि रुचिकर नहीं है।पुराणों ने इदमित्थं रूप से अपने निर्माणक्षेत्र या प्रणयनस्थल का निःसंदिग्ध रूप से निर्देश नहीं किया है, केवल विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र पर विभिन्न पुराणों की आस्था है, उसे ही वे भारतवर्ष में प्रकृष्ट क्षेत्र या तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार की आस्था गाढ़ परिचय मूलक ही हो सकती है। पुराण का वह रचयिता उस तीर्थविशेष या प्रान्तविशेष से विशेष परिचय रखता है। और इसीलिए वह उस स्थान पर इतना आग्रह दिखलाता है तथा इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करता है। इसी पद्धति से पुराण के देश और काल का कुछ संकेत किया जा सकता है।

काल का निर्णय एक विषम पहेली है। पुराणों कीरचना की काल-निर्णय एक विषम समस्या है, जिसका समाधान नितांत कठिन है। इसका कारण अवान्तर शताब्दियों में पुराणों का संस्कार तथा प्रतिसंस्कार माना जाना चाहिऐ। मूलभूत पुराणों में कालान्तर में यत्र-तत्र स्फुट श्लोक ही नहीं जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय का अध्याय जोड़ा गया है। अनेक पुराणों में प्रतिसंस्कार की मात्रा में ने मूल स्वरूप को सर्वात्मना आच्छादित कर लिया है। उनके मूल रूप की खोज निकालना बहुत अधिक गम्भीर अनुशीलन चाहता है। किन्हीं पुराणों में तो मूल रूप की आविष्कृति सम्भावना से परे की बात हो गयी है। ऐसी स्थिति में पुराणों के मूल स्वरूप का समय निर्धारण नितान्त असम्भव नहीं है, तो दुःसम्भव अवश्य है। अतएव पुराणों के आविर्भाव काल के विषय में इदमित्थं रूप से कहना कठिन है। केवल तारतम्य परीक्षा के द्वारा दो पुराणों के बीच में किसी को इतर पुराणा-

पेक्षया अर्वाचीन अथवा प्राचीन माना जा सकता है।

-काल निर्णय के कतिपय नियामक साधन-

§क§ आवृत्त अंश वाले पुराण अनावृत्त अंश वाले पुराणों की अपेक्षा नूनं प्राचीनतर हैं। इस तथ्य का कारण भी अनिर्देश्य नहीं है। पुराण-संहिता का मूल परिमाण केवल चार सहस्त्र श्लोक ही हैं। इसका विकास कालान्तर में अष्टादश पुराणों के रूप में सम्पन्न हुआ। इसके विपरीत अनेक पुराण किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की मान्यता को अग्रसर करने के उद्देश्य से निर्मित हुये हैं। फलतः ये अभिनव रचनाएँ हैं, जिनका क्षेत्र नितान्त सीमित है। इसलिये उनके श्लोक अथवा अध्याय कहीं भी आवृत्त नहीं हुये। इस कसौटी पर कसने से विष्णु पुराण श्रीमद्भागवत् की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है। विष्णु पुराण के अनेक अध्याय या तदंश मार्कण्डेयपुराण में तथा हरिवंश में एकाकार है। प्राकृत-वैकृत रूप नव सर्गों के वर्णन वाले श्लोक दोनों में एक ही हैं। विष्णु पुराण, प्रथम अंश, पंचम अध्याय चतुर्थ श्लोक से आरम्भ कर 26 श्लोक तक का अंश मार्कण्डेय अ0 47 के 14 श्लोक से लेकर 37 तक एक ही है। इस प्रकार विष्णु0 के इसी अध्याय के 28 श्लोक से आरम्भ कर अध्यायान्त भाग मार्कण्डेय का 48 वाँ अध्याय है, जिसमें देवादि स्थावरान्त सृष्टि का विवरण है। इसके विपरीत, श्रीमद्भागवत का कोई भी विशिष्ट अंश किसी भी पुराण में आवृत्त नहीं हुआ है। इसका एक छोटा अपवाद अवश्य है। श्रीमद्भागवत केxxकोईxअंश प्रथम स्कन्द तृतीय अध्याय के 21 श्लोक §6-26 तक§ गरुड़ के पूर्वार्द्ध के प्रथम अध्याय में आवृत्तया उद्धृत हैं §गरुड़, 1/24-1/34§ यह अंश विष्णु के अवतारों का क्रमशः वर्णन करता है। परन्तु इससे हमारे मूल सिद्धान्त का विपर्यास नहीं होता कि विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत् अर्वाचीन है। इस तथ्य का पोषक एक अन्य प्रमाण भी अनुसन्धेय है। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पुराण है, जिसमें तत्सम्प्रदाय के मान्य तथ्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किये गये हैं। विष्णु पुराण किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त न होकर सामा-

न्यतः विष्णु-माहात्म्य का प्रतिपादक एक महत्वपूर्ण पुराण है, इसीलिए मध्ययुगीन समग्र वैष्णव-सम्प्रदायों का यह उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। जिस प्रकार, श्रीवैष्णवों तथा माध्वों ने इससे स्वकीय अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण तथा संपोषण किया, उसी प्रकार गौडीय वैष्णवों ने भी अपने अपनेक दार्शनिक तत्वों का आधार इसे ही बनाया। फलतः इन दोनों साक्ष्य पर दोनों पुराणों के कालनिर्णय का तारतम्य भली-भाँति मिलाया जा सकता है। आवृत्त अध्यायों की अधिकता होने के कारण ही वायु तथा ब्रह्माण्ड प्राचीन पुराणों में गिने जाते हैं।

(ग) कभी-कभी किसी विशिष्ट शब्द के विकृत परिवर्तन के हेतु भी पुराणों का काल-तारतम्य निर्णीत किया जा सकता है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसे समझना चाहिये। आभीरजाति का वर्णन महाभारत तथा पुराणों में अनेकत्र उपलब्ध होता है। महाभारत के मौशल-पर्व में 7 तथा 8 अ0 इस विषय में विशेषरूपेण दृष्टव्य है। आभीरों का हथियार कोई धातु ज शस्त्र न होकर लाठी तथा ढेला ही था। वे ग्राम में ही रहते थे, पंचनन्द (पंजाब) के धनधान्यपूर्ण क्षेत्र में। गोपालन आभीरों का प्रधान व्यवसाय था। इनकी संख्या बहुत ही अधिक थी। फलतः श्रीकृष्ण की स्त्रियों को उसी मार्ग से लौटाते समय आभीरों के हाथों से अर्जुन को पराजित होना पड़ा था। वेदव्यास जी के आश्रम पहुंचने पर उन्होंने अर्जुन से हतप्रभ होने के कारण की जिज्ञासा की। इसी प्रसंग में एक गूढार्थ श्लोक आता है-

> नखकेशदशा कुम्भवारिणा किं समुक्षितः ।
> आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया ।
> युद्धे पराजितो भासि गतश्रीरिव लक्ष्यते ।।
>
> —मौसल पर्व, 8/5-6

किसी भी व्यक्ति को हतश्री बनाने वाले ऊपर निर्दिष्ट सात कारणों में से "आवीरजानुगमनं" अन्यतम कारण है। "आवीरजा" का अर्थ नीलकण्ठ ने "रजस्वला" देकर छुट्टी ले ली। इस शब्द की पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी-

आावर (भूतं) रजः यस्याः सा आवीरजा[1] तस्या अनुगमनं मैथुनम्। रजस्वला से तीन दिनों से पूर्व अनुगमन करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। उसका आचरणकर्ता नियमेन दुःखी होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

विष्णुपुराण के पंचम अंश (38 अध्याय) में यही प्रसंग इसी रूप में आया है, जहाँ मौसल-पर्व के श्लोकों की छाया है तथा कहीं-कहीं व्याख्या भी की गयी है। ऊपर निर्दिष्ट श्लोक का रूप यहाँ इस प्रकार है-

अवीरजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या कृताऽथवा
कुटाशाभंगदुःखीव ऋष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम्।

— विष्णु०, 5/38/37

दोनों श्लोकों को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण के समय "आवीरजा" शब्द अप्रसिद्ध होने से विलुप्तप्राय हो गया। फलतः महाभारत का वह शब्द "अवीरजोऽनुगमनं" के रूप में आया, जहाँ इसका अर्थ होता है— भेड़ों की धूलि का अनुगमन, जो किसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध भले ही हो, परन्तु मूल शब्द का विकृत रूप अवश्यमेव है। ब्रह्मपुराण के 212 अ० में ठीक यही वर्णन विष्णु पुराण के समान श्लोकों में ही है, परन्तु उक्त श्लोक का परिवर्तित रूप इस प्रकार है—

अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या थवाऽकृता
घटाशाभंगदुःखीव ऋष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम्।।

— ब्रह्म० 212/37

विष्णु पुराण का "अवीरजोऽनुगमनं" शब्द यहाँ लेखक को खटका और उसने झट से उसे बोधगम्य रूप में परिवर्तित कर दिया—अजारजोऽनुगमनम्"।

---

1. "आावर + रजः" इत्यत्र "रो रि" इति रेफलोपे "ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति सूत्रेण लोपपूर्वकस्य इकारस्य दीर्घे आवीरजेति सिध्यति।

इस विशिष्ट शब्द के अर्थानुसन्धान करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कठिन मूल शब्द से बोधगम्य अर्थ निकालने के प्रयास में लेखकों ने उसे पूरे तौर पर बदल ही डाला है। जिन ग्रंथों में यह श्लोक उपलब्ध होता है, उनके काल के विषय में हम कह सकते हैं कि मौशलपर्व सबसे प्राचीन है। विष्णु पुराण उससे कालक्रम में हटकर है तथा ब्रह्मपुराण तो विष्णु से भी अवान्तरकालीन है।

(ग) पुराणों में निर्दिष्ट चरित्रों का तुलनात्मक समीक्षण भी उनके काल-निर्णय का एक साधन माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित की ही मीमांसा इस विषय में दृष्टान्त-रूप से ली जा सकती है। यह चरित मूल में तो एकाकार ही है, परन्तु घटनाओं के विन्यास से इसका क्रम विकास भी अनुसन्धेय है। जितना कम विस्तार किसी पुराण में होगा, वह उतना ही प्राचीन होगा। मान्यता यह है कि प्राचीन पुराणों में कृष्णचरित की स्थूल कतिपय घटनाएँ ही उल्लिखित हैं और अवान्तरकाल में श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा आकर्षण की अभिवृद्धि होने से उस चरित्र में नयी-नयी घटनाएँ जोड़कर उसे परिपुष्ट किया गया है। इस मान्यता को ध्यान में रखने पर उस कथा के वर्णनपरक पुराणों का काल-निर्णय भली-भाँति किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण के पंचम अंश में श्रीकृष्ण का चरित केवल 38 अध्यायों में वर्णित है। इसमें किसी प्रकार के अलंकृत परिबृंहण का उद्योग ग्रन्थकार की ओर से नहीं किया गया। रासलीला का प्रसंग भी संक्षिप्त शब्दों में ही यहाँ किया गया है (5/13/13-64)। अब हरिवंश में दिये गये श्रीकृष्ण चरित की इससे तुलना कीजिये तो पता चलता है कि हरिवंश की नयी-नयी घटनाओं को जोड़कर उसे परिबृंहित करता है। हल्लीसक नृत्य का वर्णन अभिनव है। फलतः यहाँ उस चरित का विकास स्पष्टतः लक्षित होता है। श्रीमद्भागवत में उस चरित में और भी नयी-नयी बातों का समावेश लक्षित होता है। श्रीमद्-भागवत के श्रीकृष्ण-वर्णन का प्राण विशेषतः गोपियों का प्रसंग, उद्धव द्वारा संदेश भेजने तथा गोपियों के समझाने का प्रसंग है। तथ्य यह है कि भागवत ने उस चरित में विलक्षण माधुरी तथा सौन्दर्य की सृष्टि की है। विष्णुपुराण में वह केवल ऐतिहासिक चरित के समान ही

केवल घटनाप्रधान नीरस है। भागवत में वह चरित घटनाप्रधान न होकर रसप्रधान हो गया है। इन तीनों ग्रन्थों में अभी राधा के चरित की सूक्ष्म सूचना होने पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है। वह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवर्त में स्फुटतर हो जाती है। यहाँ राधा का प्रभुत्व तथा माहात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णचरित के विकासक्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणों का काल-क्रम सिद्ध होता है---- विष्णुपुराण [सबसे प्राचीन]---हरिवंश---श्रीमद्भागवत---ब्रह्मवैवर्त [अवरोह क्रम से]। फलतः विष्णुपुराण इस पुराण-चतुष्टयी में प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवर्त नवीनतम। अन्य प्रख्यात चरितों के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

[4] पुराणों का अन्तरंग परीक्षण--- अन्तः साक्ष्य---

पुराणों का अन्तरंग परीक्षण भी उनके समय-निर्णय के लिये विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणों ने विशेषतः विश्वकोश की समता वाले पुराणों ने अपनी विविध सामग्री का संकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तद् शास्त्रीय ग्रन्थों से किया है, कहीं बिना नामोल्लेख किये ही और कहीं पर नामोल्लेख के साथ। फलतः इन मुख्य ग्रन्थों के साक्ष्य पर इन पुराणों का काल-निर्देश सुचारु रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ--- अग्नि०[1] का काव्य- विवेचन [337 अ०, 346-347अ०] दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित है। फलतः उस अंश का दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है।

---

1. अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।
नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ॥3॥

— अग्नि पुराण [337अ०]

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिस्तत्र दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥
---अग्नि०

केवल घटनाप्रधान नीरस है। भागवत में वह चरित घटनाप्रधान न होकर रसप्रधान हो गया है। इन तीनों ग्रन्थों में अभी राधा के चरित की सूक्ष्म सूचना होने पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है। वह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवर्त में स्फुटतर हो जाती है। यहाँ राधा का प्रमुत्व तथा माहात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णचरित के विकासक्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणों का काल-क्रम सिद्ध होता है---- विष्णुपुराण {सबसे प्राचीन}---हरिवंश---श्रीमद्भागवत---ब्रह्मवैवर्त {अवरोह क्रम से}। फलतः विष्णुपुराण इस पुराण-चतुष्टयी में प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवर्त नवीनतम। अन्य प्रख्यात चरितों के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

{५} **पुराणों का अन्तरंग परीक्षण--- अन्तः साक्ष्य---**

पुराणों का अन्तरंग परीक्षण भी उनके समय-निर्णय के लिये विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणों ने विशेषतः विश्वकोश की समता वाले पुराणों ने अपनी विविध सामग्री का संकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तद् शास्त्रीय ग्रन्थों से किया है, कहीं बिना नामोल्लेख किये ही और कहीं पर नामोल्लेख के साथ। फलतः इन मूल ग्रन्थों के साक्ष्य पर इन पुराणों का काल-निर्देश सुचारु रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ--- अग्नि०[1] का काव्य- विवेचन {337 अ०, 346-347अ०} दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित है। फलतः उस अंश का दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है।

---

1. अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।
   नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ॥3॥
   — अग्नि पुराण {337अ०}

   कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
   व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥
   ---अग्नि०

गरुड़पुराण ने कितने ही अध्यायों (93-103अ0) में याज्ञवल्क्य-स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिवपुराण में दो शिव सूत्रों का तथा उनके ऊपर निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलतः शिवपुराण की रचना शिवसूत्रों के तथा वार्तिक की रचना के अनन्तर हुई। शिवसूत्रों के रचयिता वसुगुप्त का समय 800-825 ई0 तथा उनके वार्तिककार भास्कर का समय 850 ई0 है। इन ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख से शिवपुराण नवम-शती से प्राचीन नहीं हो सकता। उधर अलबरूनी (1030ई0) ने पुराणोंकी सूची में शिवपुराण को उसमें अन्यतम स्थान दिया है। इन दोनों के बीच में आविर्भूत होने से शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

(इ) -बहिरंग साक्ष्य-

बहिरंग साक्ष्य के ऊपर भी पुराणों का काल-निर्णय किया जा सकता है। महाभारत ने "वायुप्रोक्त पुराण"[1] स्पष्ट निर्देश किया है (वनपर्व, 191 अ0, 16 श्लो0) तथा उसे अतीतानागत विषयों का प्रतिपादक भी स्वीकृत किया है। यह स्पष्टतः आजकल प्रचलित वायुपुराण का संकेत करता है, जिसमें अतीतकाल की घटनाओं के वर्णन के संग अनागत=भविष्य-काल के राजादिकों के वृत्त भी वर्णित हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में वायुपुराण के स्वरूप का तथा लोक-प्रचलित प्रवचन का भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्टतः हर्षचरित (सप्तम शती का पूर्वार्द्ध) तथा महाभारत (लगभग द्वितीय शती) से प्राक्कालीन होने के कारण वायुपुराण का समय द्वितीय शती से पूर्व ही मानना चाहिये। सप्तम-शती से तो वह कथमपि पीछे नहीं लाया जा सकता।

1. एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि- संस्तुतम्।।

—महाभारत, वनपर्व 191/16

धर्मशास्त्रीय निबन्धों में, तत्तत् विषय की पुष्टि में प्रमाण देने के लिए पुराणों के वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे भी उनके समय का निरूपण किया जा सकता है। अरब यात्री अलबरूनी ने अपने समय में (11 शती का पूर्वार्द्ध) उपलब्ध पुराणों की सूची दी है, जिसमें उन पुराणों की प्राक्कालीनता स्वयं ही अनुमेय है। इन निबन्धकारों में जयचन्द्र (12 शती का उत्तरार्द्ध) के सभापण्डित लक्ष्मीधर भट्ट का अनेक खण्डों में विभक्त "कृत्यकल्पतरु" प्राचीन निबन्ध माना जाता है— द्वादश शती की रचना। इसमें उद्धृत होने वाले पुराणों की इससे पूर्वकालीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, इन निबन्धकारों ने पुराणों के विषयों में बड़े सुन्दर विवेचन भी किये हैं, जिनसे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय लगता है।

बल्लालसेन ने अपने प्रख्यात निबन्ध "दानसागर" में पुराणों के विषय में बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। इससे भी उनके रूप का, श्लोक परिमाण का तथा रचनाकाल का परिचय आलोचकों को मिल ही जाता है। बल्लालसेन के द्वारा स्पष्ट संकेतित होने से ही अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत को ही पुराण मानना पड़ता है तथा देवीभागवत को उपपुराण। बल्लालसेन की समीक्षा से पुराणों के स्वरूप का तथा उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा परिचय परीक्षक को मिल जाता है।

दानसागर का कथन है कि भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय— इन तीनों पुराणों से श्लोकों का संग्रह इसलिए नहीं किया गया कि ये तीनों दानविधि से शून्य हैं। यह कथन भागवत के लिये निर्णायक माना जा सकता है कि बल्लालसेन की दृष्टि में श्रीमद्-भागवत ही वास्तव में "भागवत" पुराण है, क्योंकि सचमुच इसमें दानविधि का प्रतिपादन नहीं मिलता। देवीभागवत का भागवत शब्द से ग्रहण संकेत इन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि इस भागवत में एक समग्र अध्याय (स्कन्ध 9, अ0 30) ही दान के विषय का सांगोपांग वर्णन करता है। ग्रन्थकार की दृष्टि में "देवीभागवत" अभिमत "भागवत" पुराण होता, तो ऐसी आलोचना व्यर्थ होती। दानसागर का रचनाकाल निश्चित होने से बल्लालसेन के

पूर्वोक्त कथन बड़े महत्व तथा गौरव से सम्पन्न हैं। फलतः 12वीं शती के मध्यकाल में पुराणों-उपपुराणों की स्थिति के विषय में ये कथन नितान्त महत्वशाली हैं।

§ख§ कलिराजाओं के वृत्तवर्णन के आधार पर भी पुराणों का काल-निर्देश किया जा सकता है। पार्जीटर ने इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन कर भविष्यपुराण के कलि-राजाओं के वृत्त को मूलभूत तथा प्राचीनतम माना है। इसी का उपबृंहण कालान्तर में मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड के भविष्य-वर्णन में अर्थात् कलियुग के शासकों के विषय में उपलब्ध होता है। विष्णु तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध यह विवरण भविष्य के ही आधार पर है, परन्तु अवान्तरकालीन संक्षिप्त विवरण है।

भविष्य में इस ऐतिहासिक वृत्त का संकलन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के समय में द्वितीय शती के अन्त में किया गया। यह विवरण कालान्तर में अन्य पुराणों में गृहीत हुआ, तब उसे परिबृंहित करने तथा अपने काल तक लाने का प्रयास किया गया। जब भविष्य-पुराणीय विवरण मत्स्यपुराण में गृहीत हुआ, तब उसमें 260 ई० तक का वृत्त आन्ध्र वंश के अन्त तक का निश्चिततया जोड़ दिया। आगे बढ़कर वायु तथा ब्रह्माण्ड में ग्रहण के अवसर पर वही विवरण गुप्त साम्राज्य के आरम्भिक उदय तक, अर्थात् 335 ई० बढ़ा दिया तथा संक्षिप्त रूप प्रस्तुत होने पर विष्णु तथा भागवत में यही विवरण गृहीत हुआ। पुराणों में कलिराजाओं के ऐतिहासिक वृत्त के स्वीकरण की यही सामान्य रूपरेखा है। इसे विशेष रूप से समझा जा सकता है।

मत्स्यपुराण §273/17-26§ में आन्ध्र, गर्दभिल्ल, शक, मुरुण्ड, यवन, कैवर्त, आभीर तथा किकिलों का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष में इन विदेशीय जातियों का शासन कुषाण राज्य के ध्वंस होने पर द्वितीय-तृतीय शती के बाद हुआ— यह तो इतिहासविदों को ज्ञात ही है। आन्ध्रनरेश का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करना मत्स्यपुराण की अपनी विशिष्टता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड विस्तार से तथा विष्णु और भागवत संक्षेप में ही गुप्तों के शासनक्षेत्र का वर्णन करते हैं, जब यह वंश प्रयाग, साकेत §अयोध्या§ तथा मगध के ऊपर शासन कर रहा था। गुप्तवंश के महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम §समय, 320ई०-326ई०§

के राज्य-विस्तार का यह संकेत करता है। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। भारतवर्ष के समग्र प्रान्त गुप्तसाम्राज्य के अन्तर्गत इस समय तक आ गये थे— इसका परिचय वहाँ मिलता है। यदि पुराण समुद्रगुप्त की इस दिग्विजय से परिचित होते, तो वे प्रयाग— अयोध्या — मगध तक ही गुप्त राज्य को सीमित बतलाने की धृष्टता नहीं करते। फलतः यह वर्णन 330 ई0 से प्रथम, समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्व ही गुप्तों का संकेत करता है।

इस ऐतिहासिक वृत्त के वर्णन से समय का निर्देश किया जा सकता है— (क) भविष्य का रचनाकाल द्वितीय शती का अन्त है, (ख) मत्स्यपुराण का निर्माण तृतीय शती के आरम्भ अथवा 236ई0 तक हो चुका है, (ग) वायु तथा ब्रह्माण्ड गुप्तराज्य के आरम्भ काल तक समाप्त हो चुका था, (घ) विष्णुपुराण का कलिवृत्त प्रकरण भी इसी युग का संकेत करता है, (ङ) श्री मद्भागवत् भी, जैसा अन्य पोषक प्रमाण से सिद्ध होता है, गुप्तकाल की ही रचना है। कुछ भाग पीछे के भले हों, परन्तु षष्ठ शती से पूर्व यह समाप्त हो चुका था।

इन निर्णायक साधकों के द्वारा पुराणों का कालक्रम से विभाजन हो सकता है। जब हम कहते हैं अमुक पुराण प्राचीन है, तब हम किसी पुराण की अपेक्षा ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं। पुराणों की तीन श्रेणियाँ हैं— (क) प्राचीन प्रथम शती से लेकर 400 ई0 तक। इसके अन्तर्गत हम वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य तथा विष्णु को रखते हैं। (ख) मध्यकालीन— इस श्रेणी में हम श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द, पद्मपुराण को रखते हैं (500ई0-900ई0) (ग) अर्वाचीन— इस श्रेणी में हम ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिंग आदि (900ई0-1000ई0) को रखते हैं।

यह तो सामान्य विवेचना हुई। अब हम प्रत्येक पुराण के देशकाल का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे। वायु तथा विष्णु पुराण को सर्वपुराणों में प्राचीनतम मानने के पक्ष में हैं। इस विषय में विशिष्ट प्रमाण आगे उपन्यस्त किये गये हैं।

-ब्रह्मपुराण-

ब्रह्म पुराण ही अष्टादश पुराणों में अग्रिम तथा प्रथम माना गया है। इसके देश के विचार प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि यह पुराण पृथ्वीतल में सर्वश्रेष्ठ देश भारत-वर्ष को मानता है तथा उस भारत में भी सर्वश्रेष्ठ तीर्थ दण्डकारण्य है। दण्डकारण्य के भीतर ही होकर गौतमी या गोदावरी नदी प्रवाहित होती है, जो नदियों में मुख्य है। इस नदी के तीरस्थ तीर्थों का ही सूक्ष्म विवरण पूरे 106 अध्यायों में {प्र069अ0-175अ0} ब्रह्मपुराण करता है। इस विवरण से पुराणकार का दण्डकारण्य तथा विशेषतः गोदावरी प्रदेश पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। अतः इन अध्यायों का रचना-देश निश्चित रूप से गौतमी {या गोदावरी} प्रदेश ही प्रतीत होता है। एतद्-विषयक दो-तीन श्लोक प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं---

पृथिव्यां भारतं वर्षं दण्डकं तत्र पुण्यदम् ।
तस्मिन् क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्ति-मुक्तिप्रदं नृणाम् ।।{18}

तीर्थानां गौतमी गंगा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्।
तत्र यज्ञेन दानेन भोगान् मुक्तिमवाप्स्यति।।{19}।।

---88 अ0

यह गौतमी नदी दण्डकारण्य की नदियों में सर्वश्रेष्ठ है---

श्रूयते दण्डकारण्ये सरिद् श्रेष्ठास्ति गौतमी।
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी ।।{62}

---129अ0

फलतः ब्रह्मपुराण का अत्यधिक भाग गोदावरी प्रदेश की रचना प्रतीत होता है, परन्तु इसका आदिम भाग {आरम्भ से लेकर 69अ0} तक उत्कल देश प्रणीत जान पड़ता है, क्योंकि 28अ से 69अ0 तक 41 अध्यायों में पुरुषोत्तम क्षेत्र {जगन्नाथ क्षेत्र} के छोटे-छोटे तीर्थों में मूर्धन्य स्वीकार किया गया है। 28अ0 में कोणादित्य {आधुनिक नाम कोणार्क}

की महती प्रशंसा है और तत्प्रतिष्ठित भगवान् भास्कर के स्वरूप तथा पूजा के विषय में छह अध्याय {29अ-34अ} प्रयुक्त किये गये हैं। 66अ में गुडिवा यात्रा के दर्शन का विशिष्ट फल दिया गया है।[1] "गुडिवा" या "गुण्डिवा" का शुद्ध रूप गुण्डिचा है। जगन्नाथ अपने अग्रज संकर्षण तथा भगिनी सुभद्रा के साथ आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथ के ऊपर चढ़कर जो यात्रा करते हैं, वही रथ-यात्रा गुण्डिचा[2] यात्रा के नाम से उत्कल में प्रसिद्ध है। इस स्थानीय उड़िया शब्द के प्रयोग से ग्रन्थकार का इस प्रदेश से गाढ़ परिचय रखना स्वतः सिद्ध होता है। फलतः लेखक की दृष्टि में ब्रह्मपुराण के आरम्भिक अंश की रचना का देश उत्कल माना जा सकता है।

इस पुराण में 245अ हैं तथा 13783 श्लोक {आनन्दाश्रम-संस्करण में} हैं। इस पुराण में तीर्थों का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है। और माहात्म्य प्रसंग में ही तीर्थ-सम्बन्धिनी प्राचीन कथा का भी समुल्लेख अधिकता से किया गया है। डा० हाजरा का कथन है कि श्री शूलपाणि, बल्लालसेन तथा देवण्णभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्म-पुराणीय श्लोक प्रचलित ब्रह्मपुराण में उपलब्ध नहीं होते। इस पुराण ने महाभारत के ही नहीं, प्रत्युत विष्णु, वायु तथा मार्कण्डेय के अनेक अध्यायों को अक्षरशः अपने में सम्मिलित कर दिया है। इसलिये यह ब्रह्मपुराण मूल पुराण न होकर कालान्तर में विरचित प्रक्षेप विशिष्ट पुराण है। इन प्रक्षेपों को अवलोकन करने पर पता चलता है कि यह पुराण मूल रूप से 175 अ0 में ही समाप्त हो जाता है, जहाँ गौतमी गंगा का विशद माहात्म्य अपने पर्यवसान पर पहुँच जाता है। उसी अध्याय के अन्त में {88-90श्लोक} इस पुराण के

---

1. गुण्डिचामण्डपं यान्तं ये पश्यन्ति रथे स्थितम्।
   कृष्णं बलं सुभद्रां च ते यान्ति भवनं हरेः ॥{1}

   गुण्डिचा नाम यात्रा मे सर्वकामफलप्रदा ॥ {8} ——ब्रह्म० 3066

2. "गुण्डिचा" शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में उड़िया भाषा के विद्वान भी एकमत नहीं हैं। बहुत से मान्य भाषाविदों की धारणा है कि यह शब्द आर्य भाषा का न होकर कोलभीलों की भाषा का कोई स्थानीय शब्द है। जगन्नाथ जी का वर्तमान मन्दिर 15वीं शती से प्राचीन भले ही न हो, परंतु उनकी पूजा तो बहुत प्राचीन है।

श्रवण तथा दान का माहात्म्य वर्णित है, जो निश्चित रूप से पुराण के अन्त में ही किया जाता है। फलतः 175 अ0 से लेकर अन्तिम 245अ0 पीछे से जोड़ा हुआ अंश है। निबन्धकारों में इसकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। कल्पतरु ने कम से कम पन्द्रह सौ श्लोक इसके उद्धृत किये गये हैं, जिनमें से केवल नव श्लोकों का पता उसके सम्पादक को लग सका है। श्राद्ध के विषय में सैकड़ों श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। कल्पतरु में इसी पुराण सर्वाधिक अधिकतम श्लोक उद्धृत हैं। वायु तथा मत्स्य का नम्बर तो इसके बाद आता है। परन्तु इन श्लोकों की प्रचलित पुराण में उपलब्धि न होने से इसके वर्तमान रूप को अधिकतर प्रक्षेप- विशिष्ट मानना कथमपि (46अ0 से आगे वाले अंश को) तीर्थ-चिन्तामणि में उद्धृत है। इसके लेखक वाचस्पति का समय 1425ई0–1490 ई0 अर्थात् 15वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। फलतः प्रचलित ब्रह्म की रचना का काल इससे पूर्व 13 शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(2)–पद्मपुराण–

इसकी दो वाचनाएँ विद्यमान हैं— (1) उत्तर भारतीय वाचना, (2) दक्षिण भारतीय वाचना। प्रथम के अनुसार यह पाँच खण्डों में विभक्त है और दूसरी वाचना के अनुसार, जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है, छह खण्डों में विभक्त है— जिनके नाम हैं— आदि भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। यह निःसंदेह उत्तरकालीन वाचना है। पूर्वकालीन वाचना बंगीय हस्तलेखों के आधार पर पाँच खण्डों में विभाजित है– सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर खण्ड। मत्स्य तथा पद्म के सैकड़ों श्लोक दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। आनन्दाश्रम से प्रकाशित पद्मपुराण में अध्यायों की संख्या 628 है तथा श्लोकों की 48,452, जो नारदपुराण में निर्दिष्ट संख्या से बहुत घटकर न्यून है। निबन्ध में कल्पतरु ने पद्मपुराण से नाना विषयों के श्लोक प्रामाण्य में उद्धृत किया है। विद्वानों ने इसके अन्तर्गत कथाओं का समीक्षण कर उसमें अनेक को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। डा0 लूडर्स का कथन है कि पद्मपुराणान्तर्गत

(पातालखण्ड) में। ऋष्यशृंग की कथा महाभारत में उपलब्ध वनपर्व में वर्णित उस कथासे प्राचीनतर है। अन्य विद्वान पद्मपुराण में वर्णित तीर्थयात्रा प्रकरण को महाभारत (वनपर्व) में वर्णित तीर्थयात्रा प्रसंग से प्राचीनतर मानते हैं।

पद्मपुराण तथा कालिदास में परस्पर सम्बन्ध क्या था? वंगीय हस्तलेखों में उपलब्ध वाचना के अनुसार पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड (तृतीय खण्ड) में शकुन्तला का उपाख्यान वर्णित है, जो महाभारतीय उपाख्यान से न मिलकर कालिदास के "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" नाटक से अपूर्व समता रखता है। इस विषय में लेखक का मन्तव्य है कि किसी भी पौराणिक कथानक में नायिका के साथ उसकी संगिनी के रूप में एक ही सखी का होना पर्याप्त है, दो सखियों की क्या आवश्यकता? अतः दो सखियों का यहाँ होना सर्वथा अस्वाभाविक है, पुराण की शैली से सर्वथा विरुद्ध तथा असंगत। अतः पद्मपुराण को ही इस विषय में कालिदास का अधमर्ण मानना सर्वथा न्याय्य तथा समुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् पर आश्रित होने से स्वर्गखण्ड का तथा संपूर्ण पद्मपुराण की रचना का काल पंचम शती से अर्वाचीन ही मानना उचित है। यह प्रचलित पद्मपुराण का निर्माण काल है। मूल पद्मपुराण को इससे प्राचीन होना चाहिये।

नागरी में मुद्रित उत्तरखण्ड तथा वंगीय हस्तलेखों में प्राप्त अमुद्रित वंगीय वाचनानुसार उत्तरखण्ड में महान् पार्थक्य है। यह पार्थक्य परिमाण के संग-साथ में निर्माणकाल के विषय में भी है। मुद्रित उत्तरखण्ड में 382 अध्याय हैं और वंगीय हस्त-लेखों में केवल 162 अध्याय हैं। "उत्तरखण्ड" स्वयं इस तथ्य का द्योतक है कि यह खण्ड मूल पुराण में पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु कितना पीछे? इसका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। वंगीय कोशवाला उत्तरखण्ड तो मुद्रित उत्तरखण्ड से भी अवान्तरकालीन है। वह श्रीमद्भागवत का तथा राधा का ही उल्लेख नहीं करता, प्रत्युक्त रामानुज मत का भी उल्लेख करता है। अतः यह श्रीरामानुज से प्राचीन नहीं हो सकता। इस खण्ड में द्रविड़

देश के एक वैष्णव राजा की कथा दी गयी है, जिसने पाखण्डियों अर्थात् शैवों के मिथ्या उपदेशों के प्रभाव में आकर अपने राज्य से विष्णुमूर्तियों को फेंक दिया, वैष्णव मन्दिरों को बन्द कर दिया और प्रजा को शैव होने के लिए बाध्य किया। श्री अशोक चटर्जी का कथन है कि यह कुलोत्तुंग द्वितीय का संकेत करता है, जो शैवो के प्रभाव से उग्र बन गया था। उसे राजसिंहासन पाने का समय 1133ई0 है, जिससे इस खण्ड को उत्तरकालीन होना चाहिये। हितहरिवंश के द्वारा 1585 ई0 में प्रतिष्ठित राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा का ही प्रामुख्य है, जिसका प्रभाव उक्त लेखक इस खण्ड पर मानते हैं। फलतः उनकी दृष्टि में यह उत्तरखण्ड 16वीं शती के पश्चात् की रचना है।[1]

(3) -विष्णुपुराण-

पुराण साहित्य में विष्णुपुराण का गौरव सातिशय महनीय है। नारदीय पुराण में इसका विस्तार 24 सहस्र श्लोकों को बतलाया है, बल्लालसेन ने भी इसके 23 हजार श्लोकों वाले सम्प्रदाय का उल्लेख किया है, विभिन्न टीकाकारों ने भी इसके विभिन्न श्लोक-परिमाणों का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु यह आजकल छह सहस्र श्लोकों का ही उपलब्ध होता है। और इसी संस्करण के ऊपर तीनों व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं— श्रीधर स्वामी की, विष्णुचित्त की (विष्णुचित्तीय) तथा रत्नगर्भ भट्टाचार्य की (वैष्णवाकूतचन्द्रिका)। इन व्याख्याओं की सम्पत्ति से ही इसका माहात्म्य नहीं प्रकट होता, प्रत्युत वैष्णव मत के समधिक दार्शनिक तथ्यों से मण्डित होने से भी इसका गौरव है। छोटा होने पर भी विषयप्रतिपादन में महनीय है, क्योंकि इसमें पुराण के पाँचों लक्षण बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। इसके वक्ता पराशर जी हैं, जिन्होंने मैत्रेय को इस पुराण का प्रवचन किया।

---

1. द्रष्टव्य— Some observations on the date of the Bangali-recension of the Uttra Khanda of the Padma-Purana—— Purana Bulletin (All India Kashiraja-Trust) भाग 5, पृष्ठ- 122-126।

-विष्णुपुराण का समय-

विष्णुपुराण के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, परन्तु कुछ ऐसे नियामक साधन हैं, जिनका अवलम्बन करने से हम समय का निर्देश भली-भाँति कर सकते हैं—

{क} कृष्ण कथा की दृष्टि से— भागवत तथा विष्णु की तुलना का परिणाम इस परिच्छेद के आरम्भ में ही दे दिया गया है। दोनों में पार्थक्य यह है कि विष्णु जहाँ ध्रुव, वेन, पृथु, प्रह्लाद, जडभरत के चरित को संक्षेप में ही निवृत्त करता है, वहाँ भागवत उनका विस्तार दिखलाता है। कृष्णलीला के विषय में ही यही वैशिष्ट्य लक्ष्य है। फलतः विष्णु० भागवत० से प्राचीन है।

{ख} ज्योतिषविषयक तथ्यों के आधार पर— भी विष्णु का समय निर्णीत है। विष्णु {2/9/16} में नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से करता है।[1] और वराहमिहिर {लगभग 550 ई०} के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उनसे प्राचीनकाल में नक्षत्रों का जो आरम्भ कृत्तिका से होता था, वह उनके समय में अश्विनी से हो गया। फलतः कृत्तिकादि क्रम का प्रतिपादक विष्णु नियमेन 500 ई० से प्राचीन है, इसी प्रकार राशि का भी उल्लेख विष्णु में अनेकत्र है {3/8/28,[2] 2/8/30, 2/8/41-42, 2/8/62-63}। ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थों में याज्ञवल्क्यस्मृति में राशियों का समुल्लेख उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का रचनाकाल द्वितीय शती है। फलतः विष्णुपुराण द्वितीय शती से प्राचीन नहीं हो सकता।

---

1. कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः।
   दृष्टार्कपतितं ज्ञेयं तद् गांगं दिग्गजोज्झितम्।।
   ——विष्णु०, 2/9/16

2. अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
   ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विजा।।
   ——विष्णु०, 2/8/28

§ग§ वाचस्पति मिश्र §841 ई0 ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्ववैशारदी में 2/32, 2/52, 2/54 में विष्णुपुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा 1/19, 1/25, 4/13 में वायुपुराण के वचन उद्धृत किये हैं। "स्वाध्यायाद् योगमासीत" इस भाष्य की टीका में वे लिखते हैं— "ॐ अत्र वैयासिकी गाथामुदाहरति" अर्थात् वाचस्पति की दृष्टि में व्यासभाष्य में उद्धृत "स्वाध्यायाद् योगमासीत" व्यास का वचन है और यही श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश, 6ऽ0 के द्वितीय श्लोक के रूप में मिलता है। योगभाष्य का एक वचन §3/13— तदेतद् त्रैलोक्यं आदि§ न्यायभाष्य में उपलब्ध है §1/2/6§ जिससे योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य के समय §द्वितीय-तृतीय शती§ से प्राचीनतर होना चाहिये। योगभाष्य में वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर उद्धृत होने के कारण विष्णुपुराण को प्रथम शती से पूर्व मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। अपर कलियुग के राजाओं के वर्णन-प्रसंग में विष्णु गुप्तों के आरम्भिक इतिहास से परिचय रखता है, जब वे साकेत §अयोध्या§, प्रयाग तथा मगध पर राज्य करते थे। यह निर्देश चन्द्रगुप्त प्रथम §320ई0-326ई0§ के राज्यकाल में गुप्त-राज्य की सीमा का द्योतक माना जाता है। फलतः विष्णुपुराण का समय 100 ई0-300 ई0 तक मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

§घ§ विष्णुपुराण की प्राचीनता के विषय में तमिल- साहित्य के एक विशिष्ट काव्यग्रन्थ से बहुत ही दिव्य प्रकाश पड़ता है। ग्रन्थ का नाम है- "मणिमेखलै", जिसमें मणिमेखला नामक समुद्री देवी के द्वारा समुद्र में आपद्ग्रस्त नाविकों तथा पोताधिरोहियों के रक्षण की कथा बड़ी ही रुचिरता के साथ दी गयी है। ग्रन्थ का रचनाकाल ई0 की द्वितीय शती माना जाता है। इसमें एक उल्लेख विष्णुपुराण के विषय में निश्चयरूपेण वर्तमान है। वेंजी की सभा में विभिन्न धर्मानुयायी आचार्यों के द्वारा प्रवचन तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख यह ग्रन्थ करता है, जिनमें वेदान्ती, शैववादी, ब्रह्मवादी, विष्णुवादी, आजीवक, निर्ग्रन्थ, सांख्य, सांख्य-आचार्य, वैशेषिक व्याख्याता और अन्त में

भूतवादी के द्वारा मणिमेखला के सम्बोधित किये जाने का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ में तमिल में एक पंक्ति आती है— कललवर्ग पुराणमोदियन्; जिसका अर्थ है— विष्णु-पुराण में पाण्डित्य रखने वाला व्यक्ति। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि संगमयुग में "विष्णु" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस देवता के निर्देश के लिये तिरुमाल तथा कललवर्ग विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं। फलतः इस पंक्ति में विष्णु-पुराण का ही स्पष्ट संकेत है, भागवत, नारदीय तथा गरुड़ जैसे वैष्णव डा० रामचन्द्र दीक्षितर का, जिन्होंने तमिल-साहित्य तथा इतिहास का गम्भीर अनुशीलन अपने एतद्विषयक ग्रन्थ- "स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्टरी" में किया है। मणिमेखले के इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तमिल देश में उस समय पुराणों का प्रवचन तथा पाठ जनता के सामने उसके चरित के उत्थान के निमित्त चुने जाने वाले पुराण का समय उस युग से कम से कम एक शताब्दी पूर्व तो होना ही चाहिये। इससे स्पष्ट है कि कम-से-कम प्रथम शती में विष्णुपुराण की, अथवा उसके अधिकांश भाग की, निश्चयेन रचना हो चुकी थी। व्यास-भाष्य के साक्ष्य पर निर्धारित समय की पुष्टि इस उल्लेख से आश्चर्यजनक रूप में हो रही है। फलतः निश्चित रूप से ई० के आरम्भिक काल कम से कम हैं। लेखक की दृष्टि में इस पुराण का रचनाकाल ई० पूर्व-द्वितीय शती में होना चाहिये।

(4)- -वायुपुराण-

इस पुराण में 122 अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या 10,991 है। ब्रह्माण्ड के समान ही यह चार पादों में विभक्त है। ब्रह्माण्ड तथा वायु के सम्बन्ध का विवेचन पीछे किया गया है तथा इसके मूल रूप पीछे से जोड़े गये। मत्स्य के समान ही इसमें

---

1. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।।
——वायु०, 99/383

धर्मशास्त्रीय विषयों की विपुलता है। कल्पतरु ने वायुपुराण के लगभग 160 उद्धरण श्राद्ध पर दिये हैं, लगभग 35 मोक्ष के विषय में, 22 तीर्थ पर, 7 दान, 5 ब्रह्मचारी तथा 4 गृहस्थ के विषय में। अपरार्क ने लगभग 75 उद्धरण श्राद्ध के विषय में दिये हैं। इन उद्धरणों से वायुपुराण का धार्मिक क्रियाओं पर प्रामाण्य प्रकट होता है।[1]

वायु ने गुप्तराज्य के आदिम काल की राज्य-सीमा का उल्लेख किया है। यह पाँच वर्षों के युग को जानता है (50/183)। मेष, तुला (50/196), मकर तथा सिंह (82/41/42) को जानता है। इन उल्लेखों से इसके समय का निरूपण यथार्थ रूप से किया जा सकता है। बाणभट्ट ने अपने गद्यकाव्यों में— हर्षचरित तथा कादम्बरी में— वायुपुराण का उल्लेख किया है। गुप्तराज्य का वायुपुराण कृत उल्लेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन है। फलतः 350 ई0 से लेकर 550 ई0 के बीच में ही इसका रचनाकाल है— लगभग 400 ईस्वी। सप्तम शती के पुराणों में यह अग्रगण्य माना जाता था, जैसा शंकराचार्य के उल्लेख द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होता है। प्राचीन पुराणों में अन्यतम पंचलक्षण का स्पष्ट परिचायक यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

(5) —श्रीमद्भागवत—

"भागवत" नाम से प्रख्यात दोनों पुराणों की तुलनात्मक समीक्षा पूर्व ही की गयी है, जिसका निष्कर्ष यही है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों में अन्यतम है तथा देवीभागवत केवल उपपुराण है, जो श्रीमद्भागवत से पूर्व परिचय ही नहीं रखता, प्रत्युत अनेक तथ्यों के प्रतिपादन में उसका अधमर्ण भी है। भागवत पंचलक्षण के बृहद्रूप दश लक्षणों से समन्वित एक महनीय आध्यात्मिक-पुराण है, जिसमें भूगोल तथा खगोल, वंश और वंशानुचरित का भी विवरण संक्षेप में उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण को भगवान्

1. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।।
—वायु0, 9?/383

रूप में चित्रित करने तथा उनकी ललित लीलाओं का विवरण देने में भागवत अद्वितीय पुराण है। परन्तु प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में भागवत से उदाहरण नहीं मिलते। डा० पी०वी०काणे महोदय का कथन है कि मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु तथा स्मृतिचन्द्रिका जैसे प्राक्कालीन निबन्धों ने भागवत से उद्धरण नहीं दिया। बल्लालसेन भागवत को पूर्णतः जानते हैं, परन्तु दानविषयक श्लोकों के अभाव में "दानसागर" में उसे उद्धृत नहीं करते। यह आश्चर्य की बात है कि कल्पतरु मोक्षकाण्ड में भी इसका उद्धरण नहीं देता, जब वह विष्णुपुराण से तीन सौ के आस-पास श्लोकों को उद्धृत करता है। इसीलिए काणे महोदय इसे नवम् शती से प्राचीन मानने के लिये उद्यत नहीं हैं।

देश- श्री मद्भागवत के रचना-क्षेत्र के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। भागवत दक्षिण भारत के भौगोलिक स्थानों तथा तीर्थों से उत्तर भारतीय तीर्थों की अपेक्षा विशेष परिचय रखता है। भागवत-11 स्कन्ध में {5/38-40} द्रविड़ देश की पवित्र नदियों का— पयस्विनी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, कावेरी तथा महानदी—— नामोल्लेख करते हुऐ कहता है कि कलियुग में नारायण-परायण जन तो कहीं-कहीं ही होंगे, परन्तु द्रविड़ देश में वे बहुलता से होंगे {द्रविड़ेषु च भूरिशः} और पूर्वोक्त नदियों का जल पीने वाले मनुज प्रायः करके वासुदेव के भक्त होंगे। विद्वानों की धारणा है कि यह द्रविड़ देश के आड्वारों का गूढ़ निर्देश है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरंजन विदर्भ-नरेश की कन्या का अगले जन्म में उसका विवाह पाण्ड्यनरेश मलयध्वज के साथ हुआ, xxxxxx तथा उससे सात पुत्र द्रविड़ राजा हुऐ {4/28/29-30}। ऋषभदेव की जीवन-लीला का पर्यवसान कर्नाटक देश में हुआ, जहाँ का राजा उनका भक्त हो गया। उनके सात पुत्रों में से अन्यतम "द्रुमिल" द्रविड़ का प्राचीन रूप माना गया है। द्रविड़ देश के राजा सत्यव्रत जब कृतमाला {द्रविड़देशीय नदी} में स्नान कर रहे थे, तब उनकी अंजुलि में मत्स्य का प्रादुर्भाव हुआ {भाग०, 8/24/12-13}। जाम्बवती के पुत्रों में "द्रविड़" नामक पुत्र का उल्लेख केवल भागवत में ही है {10/61/12}, हरिवंश में नहीं।

बलराम जी की तीर्थयात्रा में दक्षिण भारत के तीर्थों का विशेष उल्लेख मिलता है §भाग० 10/79/13§। इन सब भौगोलिक उल्लेखों के साक्ष्य पर इतना तो स्पष्ट है कि भागवतकार दक्षिण भारत से सामान्यतः और उसमें भी तमिल प्रान्त से विशेषतः अधिक परिचय रखते हैं। गोपीगीत मैं तमिल छन्द से साम्य की बात कही जाती है, परन्तु वही तथ्य राजस्थानी भाषा की कविता में भी व्यापक होने से पूर्व कथन पर श्रद्धा नहीं रखी जा सकती।

-काल- श्रीमद्भागवत का भी काल-निर्देश इसी बहिरंग साक्ष्य पर निर्भर है। हेमाद्रि यादव नरेश महादेव §1260-1271ई0§ तथा रामचन्द्र §1271ई0-1309ई0§ के धर्मामात्य तथा बोपदेव के आश्रयदाता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ "चतुर्वर्ग-चिन्तामणि" के "व्रतखण्ड" में भागवत के "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां"[1] वाला श्लोक उद्धृत किया है। द्वैत मत के संस्थापक आनन्दतीर्थ §मध्वाचार्य, जन्म 1199ई0§ ने "भागवततात्पर्यनिर्णय" में श्रीमद्भागवत के मूल तात्पर्य का निर्देश किया है तथा इसे पंचम वेद माना है। आचार्य रामानुज §जन्मकाल 1017ई0§ ने अपने "वेदान्ततत्वसार" में भागवत की वेदस्तुति §10/87§ से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय श्लोकों का उद्धृत किया है, जिससे भागवत का तत्पूर्ववर्तित्व होना सिद्ध है। श्रीशंकराचार्य ने "प्रबोध-सुधाकर" में अनेक पद्य भागवत की छाया पर निबद्ध किये हैं। इनके गुरु गोविन्द भगवत्पाद के गुरु गौडपादाचार्य ने अपने "पंचीकरण-व्याख्यान" में भागवत से "जगृहे पौरुषं रूपम्" §भाग०1/3/9§ श्लोक उद्धृत किया है। "उत्तरगीता" के भाष्य में उन्होंने "भागवत" का नाम-निर्देश करके यह प्रख्यात पद्य उद्धृत किया है— तदुक्तं भागवते—

---

1. स्त्रीशूद्र- द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।।

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्यते विभो

क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते

नान्यद्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।।

यह श्लोक दशम स्कन्ध के ब्रह्मकृत प्रसिद्ध स्तुति 14310 का चतुर्थ पद है।

इस प्रकार ब्राह्य साक्ष्य के आधार पर श्रीमद्भागवत गौडपाद से प्राचीनतर होना चाहिए। आचार्य शंकर का आविर्भाव काल सप्तम शती के अन्तिम भाग में लेखक ने विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है। उनके दादा गुरु गौडपाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में युक्तियुक्त है। अतएव भागवत षष्ठ शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।

इति भारतमाख्याने कृपया मुनिना कृतम्।।

----भागवत, 1/3

§6§ -नारदीयपुराण-

पुराण-साहित्य में नारदीयपुराण तो प्रख्यात है ही, उसी के साथ "बृहन्नारदीय" नामक भी एक पुराण 38 अध्यायों में विभक्त लगभग 3600 श्लोकों से सम्पन्न कलकत्ता से प्रकाशित है §एशियाटिक सोसाइटी§। यह पुराणत्य पंचलक्षणों से सर्वथा विरहित है और वैष्णव-मत का प्रचारक एक साम्प्रदायिक पुराण है, जिसे उपपुराण मानना न्यायसंगत है। मत्स्यपुराण §53/23§ में वर्णित नारदीय प्रचलित नारदीय से कोई भिन्न ही पुराण प्रतीत होता है। यह निःसन्देह वैष्णव धर्म का विशिष्ट प्रचारक ग्रन्थ है। इसमें वैष्णवागम का ही उल्लेख नहीं है §37/4§ प्रत्युत पांचरात्र अनुष्ठान का भी पूर्ण संकेत उपलब्ध है §53/9§। बौद्धों की बड़ी निन्दा की गयी है। एकादशी व्रत के अनुष्ठान का माहात्म्य बड़े वैष्णव रुक्मांगद राजा का उल्लेख है,

जिन्होंने अपने राज्य में आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष वयवाले व्यक्तियों के लिये आदेश जारी कर रखा था कि इनमें जो एकादशी का व्रत नहीं करेगा तो वह वध्य माना जाएगा। स्मृतिचन्द्रिका (1120-1225ई0) ने एकादशी व्रत के माहात्म्य सूचक अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है, जिसमें पूर्वोक्त श्लोक भी है। अपरार्क ने भी इसी माहात्म्य के दो श्लोक दिये हैं।[1]

नारदीयपुराण अग्नि तथा गरुड़ के समान समस्त विद्याओं का प्रतिपादन करने वाला विश्वकोश के समान एक महार्घ पुराण है। इन विद्याओं के प्रतिपादक किसी मान्य ग्रन्थ का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक विषयों के विवरण में यह महाभारत का विशेषभावेन ऋणी है। यह विषय नारदीय पुराण के पूर्वभाग 42-44,45 अध्यायों में उपलब्ध होता है (वेंकटेश्वर सं0) तथा महाभारत के शांति पर्व, 175-185, 187, 388, 211-212 अध्यायों में यही विषय इन्हीं श्लोकों में मिलता है। महाभारत में श्लोकों की संख्या 435 है तथा नारदीय से तत्समान श्लोकों की संख्या 428 है। दोनों के तारतम्य-परीक्षण से नारदीय नियत रूप से महाभारत का[2]

---

1. यह श्लोक इस प्रकार है--

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्णाशीतिवत्सरः।
यो भुंक्ते मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत।
स मे वध्यश्च दण्डयश्च निर्वास्यो विषयाद् बहिः।।

स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत यह नारदीय वचन मुद्रित पुराण में इस प्रकार है--

यो न कुर्याद् नरो मेऽद्य धर्म्यं विष्णुगतिप्रदम्।
स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च निर्वास्यो विषयाद् ध्रुवम्।।

--(उत्तरखण्ड, 23/41)

2. इस परीक्षण के लिये द्रष्टव्य--बेडेकर महोदय का सुचिन्तित लेख The Identical Philosophical Texts in the Narada-Purana and the Mahabharata: Their contents and Significance. -- पुराण (पञ्चम खण्ड 1963), पृष्ठ 280-304

अर्वाचीन है। नारदीय की रचना का काल अनुमेय है। नारदीय का एक पद्य (1/9/50) किरातार्जुनीयम् के एक प्रख्यात पद्य के भाव को प्रायः उन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

अविवेको हित सर्वेषामापदां परमं पदम्।

—नारद०, 1/9/50

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।

—किरात०, 2/30

नारदीय बौद्धों की तीव्र आलोचना करता है और बौद्ध-मन्दिर में प्रविष्ट होने वाले ब्राह्मण के लिए सैकड़ों प्रायश्चित करने पर निष्कृति नहीं होती है ऐसा प्रतिपादित करता है।[1]

बौद्धों के प्रति यह आलोचना का भाव सप्तम शती के धार्मिक-वातावरण का स्पष्ट द्योतक है, जब कुमारिलभट्ट ने अपने मीमांसा ग्रन्थों के द्वारा बौद्धों के मत का प्रबल खण्डन कर उनकी तीव्र निन्दा की। लेखक की दृष्टि में यह पुराण इस प्रकार भारवि (षष्ठ शती) तथा कुमारिल (सप्तम शती) से अवान्तरकालीन होना चाहिये। फलतः 700 ई0-900 के बीच में इसका रचनाकाल मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

(7)—मार्कण्डेयपुराण—

पुराणों में मार्कण्डेयपुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर 13 अध्यायों में (81अ0-92अ0) देवी माहात्म्य का प्रतिपादक बहुत ही महनीय अंश है, जिसमें देवी के विविध रूप— महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चरितका वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के

1. बौद्धालयं विशेद् यस्तु महापद्यपि वै द्विजः।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तशतैरपि।।

अतिरिक्त मन्वन्तरों का विस्तृत विवरण इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन 69अ0-73अ0, तामस का 74अ0, रैवत का 75अ0, चाक्षुष का 76अ0, वैवस्वत का 77 अ0-79अ0 तथा सावर्णि का 80अ0-93अ0 तक है देवी-माहात्म्य या सप्तशती सावर्णि मन्वंतर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इसमें पुराण के पंचलक्षण का विवरण प्रायः उपलब्ध होता है। इस पुराण में वैदिक इष्टियों के महत्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्रवृन्दा नामक इष्टि द्वारा अपनी परित्यक्ता पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा सरस्वती इष्टि के द्वारा उस नागकन्या के गूँगेपन को दूर किया, जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता द्वारा अभिशप्त होने से गूँगी बन गयी थी। सारस्वत सूक्तों के जप होने के कारण से यह इष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेयपुराण का आरंभ तो महाभारत सम्बन्धी चार प्रश्नों के समाधान के लिए होता है। मार्क0 में व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय में श्लोक नहीं हैं, परन्तु आश्रमधर्म, राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट) के विवरण देने में विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण में विद्वानों ने विश्लेषण से तीन स्तरों को खोज निकाला है—— (1) अध्याय—— 1-42, जहाँ पक्षी वक्ता के रूप में कहे गये हैं, (2) 43अ0 से लेकर अन्त तक, जिसमें मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का संवाद वर्णित है, (3) सप्तशती (अ081-93अ0) इसी खण्ड के भीतर एक स्वतन्त्र अंश मानी जाती है। ये तीनों आपस में असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट हैं।

निबन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। कल्पतरु ने मोक्ष के प्रसंग में इस पुराण से लगभग 120 श्लोक योग-विषय में उद्धृत किये हैं, जो प्रचलित पुराण में मिलते हैं। अपरार्क ने 85 उद्धरण दिये हैं, जिनमें से 42 योग के विषय में तथा अन्य दानादि के विषय में हैं। मार्क0 का 54अ0 में (ब्रह्माण्ड के समान ही) कथन है कि सह्य पर्वत के उत्तर भाग में गोदावरी के समीप का देश जगत् में सर्वाधिक मनोरम

है— लेखक की दृष्टि में इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय में यह संकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणों में अन्यतम माना जाता है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्तकाल की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख में "सर्वमंगलमांगल्ये" (सप्तशती का प्रख्यात श्लोक) उद्धृत है। इसका समय 289 दिया गया है, जिसे भण्डारकर गुप्त संवत् मानते हैं (=608ई०), परन्तु मिराशी इसे ही तद्भिन्न शाटिक सम्वत् का निर्देश मानकर इसका समय 813 ई० मानते हैं।[1] जो कुछ भी हो, यह पुराण 600 ई० से प्राचीनतर है और 400-500 ई० के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरितों का वर्णन देवी भागवत में भी आता है (5 स्कन्ध, 32-30)। इन दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से प्रतीत होता है कि मार्क० का देवीमाहात्म्य (सप्तशती) देवीभागवत के एतद्-विषयक विवरण से निःसन्देह प्राचीन है।

(8) -अग्निपुराण-

वर्तमान "अग्निपुराण" विभिन्न शताब्दियों में प्राचीन ग्रन्थों से सार संगृहीत कर निर्मित हुआ है और यही कारण है कि निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत इसके वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होते। डा० हाजरा के पास "वह्निपुराण" का हस्तलेख विद्यमान है, जिसमें निबन्धकारों के अग्निपुराणीय वचन शतशः उपलब्ध होते हैं और इसी कारण में वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित अग्नि पांचरात्रों के द्वारा प्रतिसंस्कृत, वैष्णव पूजार्चा का माहात्म्य बोधक पुराण है, जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नहीं है।

---

1. द्रष्टव्य— मिराशी का लेख—

A Lower limit for the date of the Devi-Mahatmya. (Purana Vol 1. No 4 PP. 181-186).

इस पुराण के विषय में ज्ञातव्य है कि लोक-शिक्षण के लिये उपयोगी विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है, जिसे हम आजकल की भाषा में "पौराणिक विश्वकोष" के अभिधान से पुकार सकते हैं। इसका उद्देश्य समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करना है। इस उद्देश्य में ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है, क्योंकि उसने तत्तत् शास्त्र-विषयक प्रौढ़ ग्रन्थों से सामग्री संकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया है। धर्मशास्त्रीय विषयों के संकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयों का संग्रह भी बड़ा मार्मिक है। ऐसे विषयों में हैं---आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद {282अ0}, गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा {246अ0}, धनुर्विद्या {249अ0-252अ0} वास्तुविद्या {40अ0,93-94अ0,105-106अ0}, आदि-आदि। इन्हीं विद्याओं के विवरण से अग्निपुराण के निर्माणकाल का परिचय दिया जा सकता है।अग्निपुराण भोजराज के सरस्वती कण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। फलतः इसे एकादशी शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ दण्डी का काव्यादर्श है {सप्तम शती}। फलतः सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः अग्निपुराण का रचनाकाल सप्तम्-नवम् शती के मध्य में कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण वह्निपुराण नाम से भी प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिव-रहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है— यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणों में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होता है, जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है। यह प्राचीन पुराण है, जिसकी रचना का काल चतुर्थ शती से अर्वाचीन नहीं माना जाता। अग्निपुराण में विहित तान्त्रिक अनुष्ठानों में कतिपय विशिष्ट अनुष्ठान बंगाल में ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। इसलिये इसका उद्भव स्थान बंगाल का पश्चिमी भाग प्रतीत होता है।

(9) -भविष्यपुराण-

भविष्यपुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अंश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसंस्कारों के कारण बिल्कुल अज्ञेय है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसके चार विभिन्न हस्तलेखों का निर्देश किया है, जो आपस में नितान्त भिन्न हैं। वैंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य में इतनी नवीन बातें जोड़ी गयी है कि इन प्रक्षेपों की इयत्ता नहीं। इसकी अनुक्रमणी नारदीय (1/100, 30) में, मत्स्य (53/30-31) में तथा अग्नि (272/12) में उपलब्ध होती है, जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नहीं खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है, परन्तु इसके नाम के द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृंहण खूब ही किया है। इसके चार पर्व हैं— ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायुपुराण भविष्य का निर्देश करता है।

> यान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।
>
> तेभ्यः परेऽत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः ।।
>
> —(99/267)

परन्तु यह निर्देश प्राचीन भविष्य के विषय में है, प्रचलित भविष्य के विषय में नहीं। वराहपुराण ने भविष्य का दो बार उल्लेख किया है, जिसमें साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्यदेव की मूर्ति-स्थापना की चर्चा है। बल्लालसेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिल्कुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग 160 पद्य इसके उद्धृत करते हैं। अलबरूनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्य का समय दशम-शती मानना कथमपि असंगत न होगा।

(10) -ब्रह्मवैवर्तपुराण-

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त को हम प्राचीन पुराण मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इसका एक विशिष्ट कारण है।

(क) मत्स्य के अनुसार यह राजस पुराण है, जिसमें ब्रह्मा की स्तुति की गयी है।[1] स्कन्दपुराणीय "शिवरहस्य" खण्ड के अनुसार यह पुराण सविता (सूर्य) का प्रतिपादक माना जाता था। मत्स्य के अनुसार इस पुराण का दानकर्ता ब्रह्मलोक में निवास करता है। इस प्रकार, ब्रह्मलोक को ब्रह्मा के प्रतिपादक पुराण द्वारा उच्चतम माना जाना स्वाभाविक ही है।[2]

परन्तु प्रचलित ब्र० वै० कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानता है और उनका निजी लोक गोलोक है, जिसकी उपलब्धि वैष्णव भक्तों की एक परमाराध्य अभिलाषा है। इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्मा की निन्दा भी यत्र-तत्र पाई जाती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पश्चात्पद नहीं होते कि किसी समय में ब्रह्मा-प्रतिपादक पुराण को वैष्णव लोगों ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर उसे सर्वतः वैष्णव-पुराण बना डाला है। राधासंवलित श्रीकृष्ण ही परमात्मरूप में यहाँ स्वीकृत हैं।

(ख) इसमें तान्त्रिक सामग्री की विपुलता पायी जाती है, विशेषतः प्रकृति तथा गणेशखण्ड में। तान्त्रिक अनुष्ठान का पुराण में संकलन अर्वाचीन काल की घटना है--नवम्-दशम शती की। यह वैशिष्ट्य मूल पुराण में न होकर उसके अवान्तरकालीन प्रतिसंस्कार में ही निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

---

1. पद्मपुराण ब्रह्म० वै० को निश्चित रूप से "राजस" मानता है--

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे।।

--(आनन्दा० सं० उत्तरकाण्ड 264/84)

2. मत्स्य के अनुसार "राजस" पुराण में ब्रह्मा की ही स्तुति प्राधान्येन विशिष्ट रहती है--"राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः" (मत्स्य०,53/28)। इन्हीं दोनों वाक्यों की एकवाक्यता करने पर ब्र० वै० ब्रह्मा का प्रतिपादक पुराण मूलतः प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी होता है कि ब्र०वै०पुराण का दाता ब्रह्मलोक में पूजित होता है--

पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च।
पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते।। --(मत्स्य०,53/35)

(ग) स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि, रघुनन्दन का स्मृतितत्त्व आदि निबन्धों में तत्तत् लेखकों ने ब्र0 वै0 से विपुल वचनों का उद्धृत किया है। वचनों की संख्या 1500 पंक्तियों के आस-पास है, परन्तु प्रचलित ब्र0 वै0 में केवल 30 पंक्तियां ही इनमें से प्राप्य हैं-- यह स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रचलित ब्र0 वै0 मूल पुराण नहीं है।

(घ) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में देवनागिरी में लिखित दो हस्तलेख (सं० 3820 तथा 3821) हैं, जो पुष्पिका में "आदि ब्रह्मवैवर्तपुराण" नाम से निर्दिष्ट हैं। इनकी एक विशिष्टता तो यह है कि ये खण्डों में विभक्त नहीं हैं, प्रत्युत समग्र ग्रन्थ एक ही सूत्र में निबद्ध है। दूसरे इनमें श्लोकों की संख्यायें प्रचलित ब्र0 वै0 से न्यून हैं। यह आदि ब्र0 वै0 प्रचलित एतत्पुराण से निश्चयरूपेण प्राचीनतर है तथा उस नारदीयपुराण के अनुक्रमणी प्रतिपादक अंश से भी प्राचीन है, क्योंकि नारदीय चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र0 वै0 से ही परिचय रखता है। नारदीय के अनुसार यहाँ श्लोकों की संख्या 18 सहस्त्र होनी चाहिये, जब आज इसमें 22 हजार (बंगवासी सं0) तथा 25 हजार (वेंकटेश्वर सं0) उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि नारदीय ~~के अनुसार यहाँ श्लोके~~ की अनुक्रमणी-रचना के अनन्तर भी इसमें तीन हजार से लेकर पाँच हजार तक श्लोक जोड़े गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र0 वै0 मूल प्राचीन पुराण नहीं है, प्रत्युत अवान्तर विषयों तथा श्लोकों से समन्वित मध्ययुगीन पुराण है। ब्रह्मा की महिमा प्रतिपादक मूल ब्र0 वै0 का यह प्रतिसंस्कृत वैष्णव रूप है, जहाँ कृष्ण की अपेक्षा राधा की ही महिमा सर्वातिशायिनी है।

स्कन्दपुराण (7/1/2/53) में भी यही श्लोक उपलब्ध है। फलतः पुराणों की दृष्टि से मूल ब्र0 वै0 ब्रह्मदेव की स्तुति तथा माहात्म्य का प्रतिपादक पुराण निश्चित होता है। परन्तु प्रचलित ब्र0 वै0 में यह वैशिष्ट्य उपलब्ध नहीं होता।

इस पुराण के उद्‌गमस्थल का निर्देश की अन्तरंग-परीक्षा से किया जा सकता है। यह पुराण बंगाल के रीति-रस्मों, विश्वासों तथा आचार-व्यवहारों से विशेषरूपेण परिचय रखता है तथा उनका वर्णन करता है। ब्रह्मखण्ड के दशम-अध्याय में संकर जातियों की उत्पत्ति का विशिष्ट प्रसंग आता है। यहाँ म्लेच्छ जाति का निर्देश है {10/120}, जो मुसलमानों को ही निर्देश आता है। उसके अनन्तर यह श्लोक भी अपने उद्‌गम प्रदेश की स्पष्ट सूचना देता है-

म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह। {10/121}

जोला {"जुलाहा" शब्द का बंगीय रूप} म्लेच्छ {अर्थात् मुसलमान} से कुविन्द {बुनकर} की कन्या में उत्पन्न हुआ अर्थात् वह जात्या मुसलमान ही है। यह बंगाल की स्पष्ट मान्यता तथा दृढ़ विश्वास है। अश्विनीकुमार के वीर्य से विप्रकन्या में "वैद्य" की उत्पत्ति होती है। {10/123}— यह भी बंगाल की ही मान्यता है, जहाँ वैद्य जाति इसीलिए ब्राह्मणों से न्यून सामाजिक प्रतिष्ठा में मानी जाती है। इतना ही नहीं, बंगाल के लोकप्रचलित देवी-देवता की यहाँ पूजा-अर्चा का विशेष विधान है। ऐसी देवियों में षष्ठी, मंगलचण्डी तथा मनसा देवी का विशिष्ट स्थान है। षष्ठी देवी की उत्पत्ति प्रकृति-खण्ड के 43 अध्याय में, मंगलचण्डी की 44अ० में तथा मनसा {नागदेवी} की उत्पत्ति 45 अ० में तथा उनका पूजाविधान 46अ० में है। इन तीनों देवियों की पूजा-अर्चा का भौगोलिक क्षेत्र काशी से पूरब का प्रदेश {भोजपुर} भी है,[1] यद्यपि बंगाल में इसकी ख्याति अधिक है और मध्ययुग के अनेक बंगला काव्यों में- जिन्हें काव्य की आख्या से पुकारते हैं— इनसे सम्बद्ध कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मवैवर्त की अपनी विशिष्ट उद्‌गमभूमि बंगाल ही है।

---

1. षष्ठी देवी भोजपुर प्रान्त में छठी माता के नाम से पूजी जाती है और उनका काम बालकों की रक्षा करना है, जैसा यह पुराण बतलाता है।

इसका समय-निरूपण भी इन्हीं वर्णनों के आधार पर किया जा सकता है। राधा की विवाद-पूजा तथा अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन इस पुराण का समय नवम-दशम शती से प्राचीन सिद्ध होने नहीं होने देता। राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव इस राधोपासनापरक पुराण के ऊपर मानकर बहुत से विद्वान् तो इसे 15वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं मानते। म्लेच्छों का निर्देश करने वाला अंश तो मुसलमानों के आगमन के समय तक इस पुराण को खींच लाता है। यह समयनिर्देश प्रचलित ब्र० वै० के विषय में है। आदि ब्र०वै० तो निःसन्देह एक प्राचीन रचना है।

§11§ -लिंग पुराण-

लिंग पुराण की श्लोक संख्या इसी पुराण §2/5§ में दी गयी है एकादश-सहस्र श्लोक §अेकादशसाहस्त्रैः कथितो लिंग शैवकः§ तथा नारदीयपुराण §102अ0§ के अनुसार भी यही संख्या निर्दिष्ट है। पूर्वार्ध §108अ0§ तथा उत्तरार्ध§55अ0§ में निबद्ध शिवपूजा का प्रधान प्रतिपादक यह लिंग पुराण निबन्धकारों में पर्याप्त-रूपेण प्रसिद्ध रहा है। 92अ0 में काशी तथा उससे सम्बद्ध नाना तीर्थों का विस्तृत विवरण काशी की भौगोलिक स्थिति की जानकारी के लिये भी उपादेय है। इस अध्याय में काशी के उद्यानों का बड़ा ही चमत्कारी साहित्यिक-वर्णन नाना छन्दों में दिया गया है §12-32 श्लोक§। उस युग में यह पाशुपतों का केन्द्र बतलाया गया है। अविमुक्तलिंग का ही प्राधान्य था, जिस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गयी है। कल्पतरु ने काशी-सम्बन्धी इन श्लोकों में से अधिकांश को तीर्थ-खण्ड में उद्धृत किया है। अपरार्क ने छह श्लोकों को उद्धृत किया है--- शिवपूजा तथा ग्रहण के अवसर पर स्नान के विषय में। दानसागर के अनुसार §पृ07,64 श्लोक0§ 6 हजार श्लोकों वाला एक दूसरा भी लिंगपुराण था, जिसका उपयोग बल्लालसेन ने नहीं किया। सम्भवतः उस युग में दो लिंगपुराण थे--- एक बड़ा 11 हजार श्लोकों वाला तथा दूसरा 6 हजार श्लोकों वाला। यह पुराण शैवव्रत तथा अनुष्ठानों की

जानकारी देने में बड़ा ही उपयोगी है। उत्तरार्ध के कई अध्याय गद्य में है तथा तान्त्रिक-प्रभाव के सद्यः प्रतीक है। शैवदर्शन के भी अनेक तथ्य बिखरे पड़े हैं। उत्तरार्ध के 13वें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्ट मूर्तियों के वैदिक नाम दिये गये हैं। जैसे पृथिव्यात्मक शिवमूर्ति का नाम है शर्व, जलीय मूर्ति= भव, अग्नि-मूर्ति= पशुपति, वायुमूर्ति= ईशान, आकाशमूर्ति= भीम, सूर्यमूर्ति= रुद्र, सोममूर्ति= महादेव, यजमानमूर्ति= उग्र। प्रत्येक मूर्ति की पत्नी और एक पुत्र का भी नाम यहाँ दिया गया है। 96 अ0 {पूर्वार्ध} में शरभरूपधारी शिव का नरसिंह के साथ वार्तालाप वर्णन है। 98 अ0 में विष्णुकृत "शिवसहस्त्रनाम" है, जिसमें शिव के नाम तो महत्वपूर्ण है, परन्तु वैदिक नामों का संग्रह यहाँ न्यून ही दृष्टिगोचर होता है। पाशुपत व्रत के स्वरूप तथा महिमा का विस्तरेण व्याख्यान सिद्ध कर रहा है कि लिंगपुराण का विस्तार पाशुपत शैवों के सम्प्रदाय में हुआ। इस सम्प्रदाय का उदय तो द्वितीय-तृतीय शती में हो गया था, परन्तु विशेष अभ्युदय सप्तम-अष्टम शतियों में सम्पन्न हुआ और लिंगपुराण के आविर्भाव काल का भी यही युग है।

इस तथ्य के पोषक कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं। इस पुराण में अश्विनी से ही आरम्भ होने वाले नक्षत्रों का, मेषादि राशियों तथा सूर्यादिग्रहों का उल्लेख मिलता है। अवतारों में बुद्ध तथा कल्कि के नाम निर्दिष्ट हैं, जिससे इसकी रचना सप्तम- शती से प्राक्कालीन सिद्ध नहीं होती। अलबरूनी ने ही {1030 ई0} लिंग का निर्देश नहीं किया, प्रत्युत्त उससे परवर्ती लक्ष्मीधर भट्ट ने भी अपने "कल्पतरु" में लिंगपुराण का बहुशः उद्धरण दिया है। लिंगपुराण के नवम-अध्याय में योगान्तरायों का समग्र वर्णन व्यासभाष्य से अक्षरशः साम्य रखता है, जिससे इस संग्रहकारी पुराण ने इस अंश को व्यासभाष्य से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। व्यासभाष्य का समय षष्ठ शतक से कथमपि घटकर नहीं है। पुराण ने संग्रहबुद्धि से

योग के अन्तराय विषयों का संकलन अशतः योगभाष्य से किया है— व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि का लिंगपुराण में प्रदत्त लक्षण योगभाष्य से सर्वात्मना लिया गया है। फलतः यह पुराण योगभाष्य से भले प्रकार से परिचय रखता है। लिंगपुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(12) -वराहपुराण-

यह समग्रतया वैष्णव-पुराण है। इसमें 217 अध्याय और 9,654 श्लोक है, यद्यपि कतिपय अध्यायों में पूरा गद्य (81-83अ0, 86-87अ0 तथा 74अ0) ही है। कतिपय अध्यायों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है, जैसे व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिमा तथा तत्पूजा, आशौच श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बड़ी संख्या में श्लोकों को उद्धृत किया है। 150 श्लोक व्रत के विषय में तथा [illegible] श्लोक श्राद्ध के विषय में उद्धृत है। ब्रह्म-पुराण (220/44-47) ने "वराहवचन" कहकर इस पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। वराहपुराण से भविष्यपुराण निश्चय रूप से प्राचीन है, क्योंकि वराह (177 अ0 34 श्लोक तथा 51 श्लोक) ने भविष्य से दो वचनों को उद्धृत किया है, जिसमें दूसरा सचिव बहुत महत्त्व रखता है—

भविष्यत्-पुराणमिति ख्यातिं कृत्वा पुनर्नवम् ।

साम्बः सूर्य-प्रतिष्ठां च कारयामास तत्त्ववित्।।

जिसमें साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराहपुराण में तीन विशिष्ट स्थानों पर सूर्य मन्दिर की स्थिति निर्दिष्ट है— यमुना के दक्षिण में, बीच में कालप्रिय में (कालपी, उत्तर/देश में कानपुर के पास) और पश्चिम में मूलस्थान (मुल्तान) में। भविष्य में भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। वराह पुराण में नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है, जिसका वर्णन पूर्व ही किया गया है (द्रष्टव्य-पृष्ठ 153)।

वराहपुराण वैष्णवता से आमूल आलुप्त है— इसका परिचय रामानुजीय श्रीवैष्णवमत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है। नारायण की आदिदेव रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञान-कर्म का समुच्चय, सृष्टिप्रकार, भुवनकोश का प्रकार, श्राद्धानुष्ठान-प्रक्रिया, श्राद्ध-वर्ज्य पदार्थ, प्रतिद्वादशी को विष्णुपूजन की प्रक्रिया, नाना धातुओं से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा उनके प्रतिष्ठापन-आराधन के प्रकार, पाँचरात्र का प्रामाण्य— वराहपुराण में वर्णित ये समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये हैं। दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आश्चर्यजनक है।

इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

(13) -स्कन्दपुराण-

यह पुराणों में सबसे बृहत्काय पुराण है। श्लोकों की संख्या 81 हजार मानी गयी है। दो प्रकार के संस्करण हैं— खण्डात्मक तथा संहितात्मक, जिनका उल्लेख पूर्व किया गया है। यद्यपि यह पुराण "स्कन्द" नाम से प्रख्यात है, परन्तु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नहीं मिलता है। पद्मपुराण 5/59/2 में स्कन्दपुराण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के प्रथम खण्ड में किरात के श्लोक की छाया मिलती है ("सहसा विदधीत न क्रियाम्" श्लोक की)। काशीखण्ड के 24/10 से बाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बड़ी सुन्दर परिसंख्या तथा श्लेष दिये गये हैं।

विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः।।-9

बाणेषु गुणविश्लेषो: बन्धोक्ति पुस्तके दृढा।
स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने।। -19

यत्र क्षपणका एव श्रूयन्ते मलधारिणः।

प्रायो मधुव्रता एव यत्र चैकलवृत्तयः।। -20

भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डों का वैशिष्ट्य है। इसके चतुर्थ खण्ड— काशीखण्ड— में काशीस्थ शिवलिंगों का दिशाओं के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिंगों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्तीखण्ड में नर्मदा नदी के तीरस्थ-तीर्थों का एक विराट विवरण धार्मिक और भौगोलिक उभय प्रकार का महत्व रखता है। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में सत्यनारायण की प्रख्यात कथा है। प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में स्कन्द के वचन उद्धृत मिलते हैं। मिताक्षरा ﴾याज्ञ०स्मृति 2/290﴿ ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण का उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु ने इस पुराण के बहुसंख्यक वचन उद्धृत किये हैं। काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरु ने व्रत के विषय में तो केवल 15 श्लोक उद्धृत किये हैं, परन्तु तीर्थ के विषय में 92, दान के विषय में 44, नियतकाल के विषय में 63, राजधर्म के बारे में 18 श्लोक उद्धृत किये हैं। दानसागर ने दान के विषय में 48 श्लोक दिये हैं।

यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमें प्रक्षिप्त अंशों को जोड़ने के लिये पर्याप्त अवसर है। अतः समय का यथार्थ निरूपण असम्भव ही है। सब प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम-शती के पूर्व-कालीन और नवम-शती से उत्तरकालीन नहीं हो सकती। दोनों के बीच में सम्भवतः प्रणीत हुआ।

﴾14﴿ -वामनपुराण-

यह स्वल्पाकार वाले पुराणों में अन्यतम है। इसमें 95 अध्याय हैं। इसने अपने 12वें अध्याय में भिन्न पदार्थों में श्रेष्ठ वस्तुओं की जो वर्णना की है, उससे

इस पुराण के उदय-स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरुक्षेत्र मण्डल में उत्पन्न हुआ था— ऐसा मानना सर्वथा उचित है, क्योंकि क्षेत्रों तथा तीर्थों में यह क्रमशः कुरुजांगल तथा पृथूदक को सर्वश्रेष्ठ मानता है और दोनों वस्तुएँ कुरुक्षेत्र में विद्यमान हैं—

क्षेत्रेषु यद्वत् कुरुजांगलं वरं।
तीर्थेषु तद्वत् प्रवरं पृथूदकम्।।

—12/45

वामन अवतार का प्रतिपादक होने के कारण यह मूल रूप में वैष्णवपुराण है, परन्तु किसी समय में यह शैव रूप में परिणत कर दिया गया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलतः शिव-पार्वती का चरित्र यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित है। पार्वती की घोर तपश्चर्या, बहुरूपधारी शिव से वार्तालाप, शिव से विवाह आदि विषय यहाँ अलंकृत शैली में वर्णित हैं। वामन अपने वर्णनों में आलंकारिक-चमत्कृति से मण्डित है और इसके ऊपर कालिदास का, विशेषतः विषयसाम्य के कारण कुमारसम्भव का प्रभाव विशद-रूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रंजन करता है। कालिदास के राजा "प्रकृतिरंजनात्" का ही भाव रखता है।[1] उमा का नामकरण इसलिए हुआ कि उनकी माता ने उन्हें तपस्या

---

1. ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्यां रंजनादभूत्। —वामन०, 47/24

तुलना कीजिये—

राजा प्रकृतिरंजनात्।

राजा प्रजारंजन-लब्ध-वर्णः
परन्तपो नाम यथार्थनामा।।

—रघु०6/21

करने से निषेध किया (उ+मा)– यह भी कालिदास की प्रख्यात उक्ति का संकेत है।[1] कालिदास के कुमारसम्भव का वामनपुराण के ऊपर बड़ा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा बटु का सम्वाद वामनपुराण में कुमारसम्भव में उपस्थित संवाद से अक्षरशः मेल खाता है— अर्थ में ही नहीं, प्रत्युत शब्द में भी। अनेकत्र छन्द भी समान ही प्रयुक्त हैं।

वामन	कुमारसम्भव
कथं करः पल्लवकोमलस्ते	अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते
समेष्यते शार्वकरं ससर्पम्।।	करो यमामुक्तविवाहकौतुकः।
—51/63	करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना
	सहिष्यते तव प्रथमावलम्बनम्।।
	—5/66
पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां	
गतिं धर्मस्य वै विदुः।।	प्रायेणैवंविधे कार्ये
—52/13	पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता।।
	—6/32
जामित्रगुणसंयुक्तां	
तिथिं पुण्यां सुमंगलाम्।।	तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।।
—52/60	—7/1

---

1. तपसो वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा। —वामन०,47/24

तुलना कीजिये—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा।

पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम।।

—कुमार०,1/26

शैव होने पर भी वैष्णव-मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या संघर्ष की भावना नहीं है। वर्णन सर्वत्र उदार, व्यापक तथा मौलिक है। कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है, अर्थात्--600ई0-900ई0 के बीच वामनपुराण का आविर्भाव मानना उचित है।

§15§ -कूर्मपुराण-

इसके दो खण्ड हैं-- पूर्वार्ध §53 अध्याय§ तथा उत्तरार्ध §46अध्याय§। डा0हाजरा की मान्यता है कि यह प्रथमतः पांचरात्र-मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय में इसका कथन है कि वह एक है §उत्तरार्ध 11-§112/15§, परन्तु उसने अपने को दो रूपों में विभक्त किया-- नारायण और ब्रह्मारूप में §1/9/40§ अथवा विष्णु और शिवरूप में §1/2/95§ अथवा तीन रूप में §1/10/77§ ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप में। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है §पूर्वार्ध 12अ0§। यह शक्ति चार प्रकार की मानी गयी है--शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही तन्त्रशास्त्र में "कला" के नाम से संकेतित की जाती है। इन्हीं के कारण परमेश्वर- ठीक पांचरात्रों के समान "चतुर्व्यूह" कहा जाता है §पूर्वार्ध 12/12§। इसी अध्याय में हिमालय-कृत देवी का सहस्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध में दो गीताएं हैं--ईश्वरगीता §अ01-11§, इसमें शैव-दर्शन-विषयक तत्वों का विवेचन है, जिसमें §11अ0 में§ पाशुपतयोग का विशद और महत्वपूर्ण विवरण है, व्यासगीता §12अ0-34अ0§ में वर्णाश्रम के धर्मों का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। निबन्धग्रन्थों में कूर्म के उद्धरण अधिक नहीं मिलते। पद्मपुराण के पातालखण्ड ~~अध्~~ में §102/41-42§ में कूर्मपुराण का नाम उल्लिखित है तथा एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है--

कौर्मे समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिदम्।

इदं पदं च शुश्राव पुराणज्ञेन भाषितम्।।

ब्रह्महा मुच्यः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।

कौर्मं पुराणं श्रुत्वैव मुच्यते पातकान्ततः।।

पाशुपत-मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ-सप्तम शती की रचना है, जब पाशुपत-मत का उत्तरभारत में, विशेषतः राजपुताना और मथुरामण्डल में, प्राधान्य था।

§16§ -मत्स्यपुराण-

मत्स्यपुराण पुराण-साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि से तथा वर्ण्यविषय की व्यापकता की दृष्टि से, अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, इसीलिए वामन पुराण मत्स्य को पुराणों में सर्वश्रेष्ठ अंगीकार करता है §पुराणेषु तथैव मात्स्यम्§। इसके देश तथा काल के निर्णय में अनेक मत हैं।

सबसे विचित्र मत पार्जीटर का है, जो आन्ध्रप्रदेश को इसका उदयस्थल मानते हैं। उनकी धारणा है कि मत्स्य में कलिवंश का वर्णन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के राज्यकाल में द्वितीय शती के अन्त में जोड़ा गया। परन्तु ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा इस मत की सम्पुष्टि नहीं करती। मत्स्यपुराण के अनुशीलन से नर्मदा नदी की असामान्य प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की गाथा अभिव्यक्त होती है:-

§क§ प्रलय के समय नाश न होने वाली वस्तुओं में नर्मदा नदी यहाँ अन्यतम मानी गयी है--

एकः स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्वपि परन्तप।

सोमसूर्यावहं ब्रह्मा चतुर्लोकसमन्वितः ।।

नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेयो महानृषिः।

भवो वेदाः पुराणाश्च विद्याभिः सर्वतो वृतम्।।

--मत्स्य0, 2/12-14

मत्स्य का यह वचन मनु से देवों को दग्ध हो जाने पर बचने वाले पदार्थों की सूची

देता है, जिसमें पुण्यनदी नर्मदा का उल्लेख है। सामान्यतः गंगा पुण्यतमा होने से प्रलयकाल में अपनी स्थिति अक्षुण्ण बनाये रखती है— यह वर्णन आश्चर्य नहीं प्रकट करता, परन्तु नर्मदा नदी को प्रलय में लुप्त न होने का संकेत ग्रन्थकार का विशेष पक्षपात इस नदी की ओर प्रकट कर रहा है।

(ख)— नर्मदा का माहात्म्य 9 अध्यायों में बड़े विस्तार से किया गया है। एक पूरे अध्याय में नर्मदा और कावेरी का संगम वर्णित है। यह कावेरी दक्षिण भारत की वह प्रसिद्ध नदी नहीं है, प्रत्युत मध्यभारत में ओंकारेश्वर के समीप नर्मदा से संगत होने वाली एक क्षुद्र नदी है। यह संगम गंगा-यमुना के समान अत्यंत पवित्र तथा सद्यः स्वर्ग-प्रापक बतलाया गया है।[1] नर्मदा तटवर्ती छोटे-छोटे स्थानों से भी यह पुराण परिचित है। यथा "दशाश्वमेध" का उल्लेख (192/21) मिलता है, जो भड़ौच में एक पवित्र घाट है, भारभूति (193/18) एक छोटा तीर्थ है, जो नर्मदा के उत्तरी तट पर भड़ौच से आठ मील दूर "भाड़भुत" के नाम से आज विख्यात है। इसी प्रकार कोटितीर्थ की स्थिति इसी नाम से है। इन छोटे-छोटे तीर्थों का वर्णन ग्रन्थकार के नर्मदा प्रदेश से एकदम गाढ़ तथा घनिष्ठ परिचय का द्योतक है।

इन प्रमाणों के आधार पर मत्स्यपुराण का रचना-देश नर्मदा प्रदेश मानना उपयुक्त तथा प्रामाणिक है।[2]

---

1. गंगायमुनयोर्मध्ये यत् फलं प्राप्नुयान्नरः।
   कावेरीसंगमे स्नात्वा तद् फलं तस्य जायते।।

   —189/19

2. विशेष के लिये द्रष्टव्य— S. G. Kantawala: Home of the Matsya Purana in Purana (Vol III. No. I Jan. 1961) P. P. 115.

मत्स्यपुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का बाहुल्य है। इस पुराण ने मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति से भी अनेक श्लोकों को आत्मसात् कर लिया है। शिव तथा विष्णु- इन दोनों देवों के बीच मत्स्य सन्तुलित वर्णन करता है। विष्णु तथा शिव दोनों के अवतारों का वर्णन समान भाव से बहुसंख्यक श्लोकों में करता है। काणे महोदय ने निबन्धों में उद्धृत मत्स्य श्लोकों का विवरण दिया है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक तथा मत्स्य के उर्वशी उपाख्यान {24 अध्याय} में आश्चर्यजनक साम्य है। दोनों में घटनाचक्र की समानता सचमुच आश्चर्यकारिणी है। यह निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अधमर्ण है? कालिदास मत्स्य का अथवा मत्स्य कालिदास का? मत्स्य प्राचीन पुराणों में अन्यतम है। इसका आविर्भावकाल 200 ई० से लेकर 400 के बीच मानना चाहिए। यदि कालिदास गुप्तयुग में उत्पन्न युग में उत्पन्न हुए, तो निश्चित रूप से उन्होंने मत्स्यपुराण से अपने उक्त नाटक की कथावस्तु को संगृहीत किया। अतः मत्स्य पुराण के वे ही अधमर्ण हैं।

{17} गरुड़पुराण-

गरुड़पुराण अग्निपुराण के समान ही समस्त उपादेय विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करता है और इसे हम "पौराणिक विश्वकोश" की संज्ञा से पुकार सकते हैं। इस पुराण के दो खण्ड हैं--{1}पूर्व खण्ड {229 अध्याय} तथा {2}उत्तरखण्ड {35अ0}। पूरे ग्रन्थ की अध्याय-संख्या 264 है। उत्तरखण्ड "प्रेतकल्प" के नाम से प्रख्यात है और मरणोत्तर प्रेत की गति विधि, कर्मजन्य स्थानप्राप्ति आदि यावद् प्रेतसम्बन्धी विषयों का यहाँ संकलन है। अपने स्वरूप के अनुसार यह पुराण महाभारत, रामायण तथा हरिवंश आदि मान्य ग्रन्थों का सार प्रस्तुत करता है।

गरुड़ पुराण में 108 अ0 से लेकर 115अ0 तक सामान्य व्यावहारिक नीति और विशिष्ट राजनीति के विषय में अनेक श्लोक संग्रहीत किये गये हैं। यह अंश

कहीं "नीतिसार" के नाम से और कहीं बृहस्पति संहिता" के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। बृहस्पति-संहिता "चाणक्य-राजनीति-शास्त्र" नामक ग्रन्थ में समुल्लिखित चाणक्य नीतिवाक्यों के साथ एकाकार है। संहिता के श्लोकों की संख्या 390 है। इनमें से 334 श्लोक चाणक्य-राजनीतिशास्त्र के श्लोकों के साथ समता रखते हैं, 11 श्लोक चाणक्य के द्वारा प्रणीत अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं और 5 श्लोक अन्य संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार "बृहस्पति संहिता" के केवल 39 श्लोक ही ऐसे हैं, जिन्हें हम गरुड़पुराण की निजी रचना मान सकते हैं। इनमें से 31 श्लोक ऐसे भी हैं, जो चाणक्य के ग्रन्थों में तथा इतर पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। "चाणक्य-राजनीतिशास्त्र" चन्द्रगुप्त मौर्य के विश्रुत मन्त्री चाणक्य की ही निःसन्दिग्ध रचना है— यह कथन विश्वासयोग्य नहीं है। तथ्य यह है कि इधर-उधर विकीर्ण नीतिविषयक श्लोक राजनीति में अलौकिक पाटव के कारण सम्मान्य चाणक्य की रचना के रूप में कल्पित कर लिए गए हैं और ऐसे ही श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ चाणक्य-राजनीतिशास्त्र है।

चाणक्य-राजनीतिशास्त्र तिब्बती तंजूर में तिब्बती भिक्षु "रिन-चेन-जोन-पो" के द्वारा अनूदित कर संग्रहीत किया गया है। इस भिक्षु का जन्म 955ई0 में हुआ था, जिससे हम इस तथ्य पर पहुंचते हैं कि कम से कम दशम-शती में यह ग्रन्थ संगृहीत हुआ था। उस युग में यह नितान्त प्रख्यात था तथा समादृत था। इसीलिऐ "गरुड़पुराण" में इसे संगृहीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। चाणक्य के नाम से प्रख्यात अनेक नीतिवाक्य केवल पुराणों में ही उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत्त बृहत्तर भारत के साहित्य में भी- यह सुरक्षित मिलता है। यह चाणक्यनीति की व्यावहारिकता, अनुभवप्रवणता तथा सार्वभौम-प्रभाव का विस्पष्ट निदर्शन है। फलतः गरुड़पुराण की इस "बृहस्पतिसंहिता" की रचना नवम-शती से भी प्राचीन माननी चाहिए। तिब्बत में जाने तथा वहाँ अनूदित किये

जाने के लिये एक शताब्दी का समय मानें तो, "चाणक्य-राजनीतिशास्त्र" का संकलन- काल अष्टम- शती में माना जा सकता है और गरुडपुराण में उसका संग्रह उस युग से थोड़ा हटकर-नवम-शती के आसपास होना चाहिए।

§18§ -ब्रह्माण्डपुराण-

पुराणों में यही अन्तिम पुराण है। वायु के समान इसके चार विभाग हैं, जो उसके समान ही नाम धारण करते हैं। इनमें सबसे बड़ा भाग तृतीयपाद है, जिसके आरम्भ में श्राद्ध का विषय बड़े ही सांगोपांग रूप में, मुख्य तथा अवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है। पुराणकार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के संघर्ष का बड़ा महत्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ़ हजार श्लोकों का उपयोग किया है। राजा सगर की तथा राजा भगीरथ द्वारा गंगा के आनयन की कथा दी गयी है। सूर्य तथा चन्द्रवंश के राजाओं का विवरण 59 अ0 में दिया गया है।

[1]सह्य पर्वत के उत्तर में प्रवाहित होने वाली गोदावरी नदी वाला प्रदेश भारतवर्ष में समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है, जिससे अनुमान होता है कि ब्रह्माण्ड के निर्माण का यही विशिष्ट देश था।

ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढंग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष के पश्चिमी तटवर्ती सह्याद्रि प्रदेश से है। परशुराम जी प्रधानतः महेन्द्र पर्वत §गंजम जिले में पूरबी

---

1. सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी।
   पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः।।
   तत्र गोवर्धनं नाम पुरं रामेण निर्मितम्।

   ---ब्रह्माण्ड0, 2/16/43-44

घाट की आरम्भिक पहाड़ी॰ पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान में दे डालने पर उन्हें अपने लिए भूमि खोजने की जरूरत पड़ी। उन्होंने समुद्र से वह भूमि माँगी, जो सह्याद्रि तथा अरबसागर के मध्य में सँकरी जमीन है। वही कोंकण है, जो चित्पावन ब्राह्मणों का मूलस्थान है। इस प्रकार परशुराम से विशेषभावेन सम्बद्ध होने से ब्रह्माण्डपुराण का उदयस्थल सह्याद्रि तथा गोदावरी प्रदेश में होना सर्वथा सुसंगत है।

वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनों के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डा० किरफेल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इन दोनों पुराणों के साम्य रखने वाले अध्यायों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। इन दोनों पुराणों के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आस-पास माना गया है। अर्थात् अनुमानतः 400 ई० के आस-पास ब्रह्माण्ड ने अपना वह विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। ब्रह्माण्ड राजनीति सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रयोग करता है, जिसमें "महाराजाधिराज" के साथ दी गयी है। ॰दृष्ट्वा जैनेरतावीमहाराजाधिराजवत्।— ब्रह्माण्ड, 3/22/28॰। इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप में गुप्त नरेशों ने किया, जिनके करद राजा "सामन्त" नाम से गुप्तों के अभिलेखों में व्यवहृत है। यह पुराण कान्यकुब्ज के भूप का निर्देश करता है ॰3/41/32॰, जो निश्चय रूप से गुप्त नरेशों के उत्तरकालीन मौखरि राजा का सूचक माना जा सकता है। कालिदास के काव्यों का तथा उनकी वैदर्भी रीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनों पर है। इन सब उपकरणों का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोत्तर युग में अर्थात् 600 ई० में मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नहीं है। 600ई०-900ई० तक तीन शताब्दियों में इसके प्रतिसंस्कार का समय न्यायतः माना जा सकता है।[1]

---

1. द्रष्टव्य---- Date of the Brahmanda Purana by S.N. Roy (Purana, Vol V No 2, July 1963) P.P. — 305 - 319.

सार-संक्षेप-

संस्कृत साहित्य में 18 संख्या बड़ी पवित्र, व्यापक और गौरवशाली मानी जाती है। महाभारत के पर्वों की संख्या 18 है, श्रीमद्भगवद्गीता के अध्यायों श्लोकों की संख्या 18 हजार है। इसी प्रकार, पुराणों की संख्या भी सर्वसम्मति से 18 ही है। पुराण की रचना सार्वजनिक है। पुराण का लक्ष्य भारतीय समाज के अन्तर्गत विराजमान प्रत्येक वर्ग के कल्याण तथा उद्धार की शुभ भावना है। कहना न होगा कि पुराणों का यह उद्देश्य पूर्णमात्रा में चरितार्थ हुआ। आज भारत में जो कुछ भी धर्म में अभिरुचि दीख पड़ती है, लोगों में धार्मिकता का जो अवशेष आज है, वह सब पुराण के ही व्यापक प्रभाव का अभिव्यक्त परिणाम है।

इस प्रकार, भारतीय साहित्य के इतिहास में "पुराण" का उदय वैदिक युग में हुआ और उसका अभ्युदय महाभागवत गुप्तों के साम्राज्य काल में सम्पन्न हुआ, सामान्यरीति से इस कथन को तथ्यपूर्ण माना जा सकता है।

-प्राचीन भारतीय संस्कृति में शिक्षा का स्वरूप-

"शिक्षा" शब्द का मूल "शिक्ष विद्योपादाने" धातु है। तदनुसार "शिक्ष्यते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा" अर्थात् "जिसके द्वारा विद्या का उपादान किया जाये, वह शिक्षा है। शिक्षा से जिस विद्या की प्राप्ति की जाती है, उसके स्वरूप का विवेचन करते हुए श्रीगुरुवरप मधुसूदन झा महाभाग "ब्रह्मसमन्वय" में कहते हैं कि---- "विद्यास्ति ज्ञानविज्ञानदर्शनः संस्क्रियात्मनि" अर्थात् शिक्षा के लक्ष्य ज्ञान-विज्ञान एवं दर्शनों से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न करना विद्या है।

दूसरे शब्दों में आत्मा को संस्कृत करना ही शिक्षा है। आर्य-शास्त्रों में अश्व-शिक्षा, गज-शिक्षा, मृग-शिक्षा, पक्षि-शिक्षा आदि अनेक उपादेय शिक्षाएँ

प्रसिद्ध है। मानव विभिन्न मतवादों की परस्पर विरुद्ध शिक्षाओं से शिक्षित होने पर भी जब तक सद्-शिक्षा से शिक्षित नहीं होता, तब तक वह यथाजात असंस्कृत, अपूर्ण, अनुन्नत, रुग्ण होने से अज्ञ (अशिक्षित) कोटि में परिगणित होता है। दूसरे शब्दों में वह अशिक्षित ही है। अतः वेद की दृष्टि से यथा-जात, अप्रबुद्ध, असंस्कृत, अविकसित, उन्नत, नीरोग एवं पूर्ण मानव बनाना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य एवं महत्व है।

"शिक्षा शिक्ष्यते अनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्ते इति वा शिक्षा वर्णादयः। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्।"

"जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाये, उसे "शिक्षा" कहते है अथवा जो सीखे जायें, वे वर्ण आदि ही शिक्षा है। शिक्षा को ही "शीक्षा" कहा गया है। शिक्षा के स्थान पर "शीक्षा" वैदिक प्रक्रिया के अनुसार है।"

(शांकरभाष्य तैत्तिरीयोपनिषद् 1/2/9)

-शिक्षक एवं शिक्षार्थी के लक्षण-

पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में शिक्षा अद्वितीय साधन है। निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जब विद्यार्थी गुरु से शिक्षा ग्रहण करता है, तब उसके मुमुक्षा-सिद्धि के अतिरिक्त कोई समस्या नहीं रहती। अतः प्राचीनकाल "विद्यार्थी" निश्चित दिशा की ओर बढ़ता हुआ अध्ययन करता है। "अमृतं हि विद्या", "विद्ययामृतमश्नुते"— इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विद्याध्ययन करता था।

शिष्य शब्द की व्याकरण से व्युत्पत्ति करने में "शास्" अनुशिष्ट धातु से योग्य अर्थ में "क्यप्" प्रत्यय होता है। उसके अनुसार शिष्य उसे कहते हैं जो अनुशासन की शिक्षा का सत्पात्र हो। वेदान्त दर्शन में शिष्य शब्द की व्युत्पत्ति "शासि अभि शासने" धातु से निष्पन्न होती है। उसके अनुसार शिष्य में अनुशासन की पात्रता गुरु के प्रयत्न से नहीं होती, अपितु गुरु द्वारा शिष्य का मात्र

संस्कारोद्बोधन होता है। अच्छे संस्कार वाला शिष्य स्वयं अभिशासन का पात्र बन जाता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में आचार्य धर्मार्थ शिक्षा देते थे। आचार्य शिष्यों में आचार अर्थात् चरित्र का निर्माण करते थे, शास्त्र के रहस्यों को खोलते थे और शिष्यों की बुद्धि को विकसित करते थे।

आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।

——निरुक्त

आंशिक रूप से वेद या वेदांगों का जीविका के लिए अध्यापन करने वाले "उपाध्याय" कहलाते थे।

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः। यो ध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।।

——[मनु02/141]

दस उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ माना जाता था। जिस किसी से जो सद् शिक्षा मिलती है, उसे गुरु मानकर उसका सम्मान किया जाता था।

-वैदिक साहित्य में निरूपित शिक्षा-पद्धति-

जो उत्तमतीर्थ [कुलीन, सदाचारी, सुशील और सुयोग्य गुरु] से पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारण से युक्त है, सम्प्रदाय शुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्तादि शुद्धस्वर से तथा कण्ठ-तात्वादि शुद्ध स्थान से प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है।।

----[अग्निपुराण अ0 336 शिक्षा-निरूपण]

वेदों ने मानवों के विकास के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भरपूर शिक्षाएँ दी हैं। प्रत्येक शिक्षा सत्य है, अतः लाभप्रद है, क्योंकि वेदों का अक्षर-अक्षर सत्य होता है। जब ईश्वर सत्य है, तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जब

तक वेद की इस सत्यता पर पूरी आस्था न जमेगी, तब तक वेदों की शिक्षा को जीवन में उतार पाना सम्भव नहीं है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी व्यक्ति का परम कल्याण वेदोक्त शिक्षा-प्रणाली से ही सम्भव है। धर्मनियन्त्रित शिक्षा पद्धति के बिना वेदोक्त-ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति असम्भव है। दूषित शिक्षा व्यक्ति को विनाशोन्मुख करने में समर्थ है। वह वस्तुतः शिक्षा कहने योग्य ही नहीं है।

-समाजोपयोगीसामयिक शिक्षा की प्रतिष्ठा-

-आयुर्वेद-

विश्व के सम्पूर्ण वैज्ञानिक पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि सबसे प्राचीन वेद हैं। आयुर्वेद-शास्त्र वेदों में विशेषकर अथर्ववेद में विस्तार से वर्णित है। आयु-सम्बन्धी ज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण इसे आयुर्वेद कहा गया। चरक ने भी कहा है— "यथा तस्यायुषः पुण्यतमो वेदविदो मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।"-

यह उस आयु का पुण्यतम वेद है, अतएव आयुर्वेद विद्वानों द्वारा पूजित है, क्योंकि यह मनुष्यों के लिए इस लोक और परलोक में हितकारी है।

आयुर्वेद को पुण्यतम ज्ञान बताया गया है। मनुष्य को आयुर्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने से इस लोक में आयु-आरोग्यादि की प्राप्ति होती है और स्वस्थ्य रहते हुए वह ~~धर्म~~ धर्मादि का अनुष्ठान कर स्वर्ग की भी प्राप्ति कर सकता है। यथा— "धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्" बताया गया है।

-आयुर्वेदोत्पत्ति-

आयुर्वेद आयु के हित- अहित, द्रव्य-गुण-कर्मों का प्रतिपादक विज्ञान है और विज्ञान की उत्पत्ति न होकर स्मृति ही हुआ करती है। सम्प्रति जो भी आविष्कार हो रहे हैं, निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं, उनमें व्यस्त उच्च आत्माएं

भी स्मृतिस्वरूप है। इसलिए चरक ने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहीत।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्।।
तेऽग्निवेशादिकास्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे।।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण कर उसे विश्व के उपकारार्थ प्रजापति को सिखाया। प्रजापति ने दोनों अश्विनी कुमारों को, उन दोनों बन्धुओं ने इन्द्र को, इन्द्र ने आत्रेयादि मुनियों को, आत्रेयादि महर्षियों ने अग्निवेश, पराशर, क्षारपाणि और हारीत आदि को आयुर्वेद की शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन लोगों ने आयुर्वेद में महान् दक्षता प्राप्त कर अपने नाम पर ग्रन्थों की रचना की। ब्रह्मा ने अपने नामसे एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम ब्रह्मसंहिता रखा, उसमें एक लक्ष श्लोक थे, किन्तु आजकल वह अप्राप्त है। आचार्य चरक ने अपने नाम का एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम चरक-संहिता है। वह संसार में विख्यात है। विश्व में चरक की बड़ी प्रतिष्ठा है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी लिखा है कि "यदि चरक की रीति से चिकित्सा की जाये तो सारा विश्व रोगमुक्त हो जाये।"

चरक के पश्चात् सुश्रुत का स्थान है। ये महात्मा महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे। सुश्रुत ने अपने नाम का जो ग्रन्थ लिखा उसी को आजकल सुश्रुत-संहिता कहते हैं। इस ग्रन्थ में शल्य-चिकित्सा या सर्जरी (चीरफाड़) का विशेष रूप से वर्णन है।

चरक सुश्रुत के पश्चात् वाग्भट्ट का स्थान है। इनका "अष्टांग-हृदय" ग्रन्थ भी उच्चकोटि का है। विद्वज्जन इस संहिता को "वाग्भट्ट" के नाम से जानते हैं। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट को बृहत्त्रयी कहते हैं।

भरद्वाज और भगवान् धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने आयुर्वेद का अध्ययन कर मानव-कल्याण के निमित्त मानव-समाज में उसका प्रचार किया।

भरद्वाज इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन कर मनुष्य लोक में उसका प्रचार करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। इनका आश्रम प्रयाग में है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम भी यहाँ पधारे थे। अब भी प्रयाग में यह आश्रम भक्त यात्रियों का प्रिय-स्थल है। रसायन और दिव्य औषधियों के प्रभाव से ऋषिगण दीर्घ-जीवी होते थे। आयुर्वेद के प्रभाव से भरद्वाज सबसे अधिक दीर्घायु हुये।

चरक ने शक्ति-सम्पन्न पुरुष को योगि-कोटि में माना है तथा योगियों के अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य प्रसिद्ध हैं। श्रीमद्भागवत में विष्णु के अंशांश से धन्वन्तरि की उत्पत्ति मानी गयी है तथा विष्णुपुराण में अमृतपूर्ण कलश लिए हुए उनकी उत्पत्ति समुद्र से मानी गयी है—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्।

× × ×

ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसामृतम्॥

× × ×

ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरः स्वयम्।

बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थितः॥

(1/9/78,85,98)

आयुर्वेद-शास्त्र के दो प्रयोजन हैं— स्वस्थ्य मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगग्रस्त मनुष्यों के रोग का निवारण। इन्हीं दो उद्देश्यों का मुख्य आधार आयु है। अतः धर्म, अर्थ और सुख का साधन आयु है, इस आयु की जिस पुरुष को चाह हो उसे चाहिए कि वह आयुर्वेद के उपदेशों का अतिशय आदर करे—

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

आयुर्वेद आठ अंगों में विभक्त है—

(1) शल्यतन्त्र को ही पाश्चात्य वैद्यक में सर्जरी कहते हैं। आयुर्वेद के जिस अंग में अनेक प्रकार के तृण, काष्ठ, पत्थर, रजः-कण, लोह, मृत्तिका, अस्थि (हड्डी), केश, नाखून, पूय-स्राव, दूषितव्रण, अन्तःशल्य तथा मृत गर्भ को शल्य-चिकित्सा का ज्ञान, यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म का ज्ञान, व्रणों का आम पच्यमान और पक्व आदि का निश्चय किया जाता है, उसे शल्य-तन्त्र कहते हैं।

(2) शालाक्य-तन्त्र— आयुर्वेद के जिस अंग में शरीर के ऊर्ध्वभाग-स्थित नेत्र, मुख, नासिका आदि में होने वाले व्याधियों की शान्ति का वर्णन किया गया है तथा शालाक्य यन्त्रों के स्वरूप तथा प्रयोग करने की विधि बतलायी गयी है, उसे शालाक्य-तन्त्र कहते हैं।

(3) काय-चिकित्सा— आयुर्वेद के जिस अंग में सर्व-शरीरगत व्याधियों ज्वर, रक्त, पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि की शान्ति का वर्णन है, उसे काय-चिकित्सा कहते हैं।

(4) भूतविद्या— आयुर्वेद के जिस अंग में देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहों से परिदूषित चित्त वाले रोगियों की शान्ति के लिये शान्ति-पाठ, बलि-प्रदान, हवन आदि, ग्रहदोषशामक क्रियाओं का वर्णन किया गया है, उसे भूत-विद्या कहते हैं।

(5) कौमार- भृत्य— आयुर्वेद के जिस अंग में बालकों की पोषिका धात्री के दुग्ध के दोषों के संशोधन, उपाय तथा दूषित दुग्धपान और ग्रहों से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन है, उसे कौमार-भृत्य-तन्त्र कहा जाता है। इसे बाल-चिकित्सा कहते हैं।

(6) अगदतन्त्र— सर्प, कीट, मकड़ी, चूहे आदि के काटने से उत्पन्न

विषय-लक्षणों को पहचानने के लक्षण तथा अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विषों से उत्पन्न विकारों के प्रशमन का जहाँ वर्णन है, उसे अगदतन्त्र कहते हैं।

§7§ रसायनशास्त्र- "जराव्याधिनाशनं रसायनम्।"

जिससे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो उसका नाम रसायन है। तरुणावस्था दीर्घकाल तक बनी रहे इसे रोकने के उपाय, आयु, धारणा-शक्ति और बल की वृद्धि करने के प्रकार एवं शरीर की स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्ति की वृद्धि के नियमों का जहाँ वर्णन है, उसे रसायन-तन्त्र कहा जाता है।

§8§ शरीर-पुष्टयर्थ वाजीकरण-तन्त्र है।

इन आठ अंगों में शल्य-तन्त्र ही मुख्य है, क्योंकि देवासुर-संग्राम में प्रहारजन्य व्रणों के रोपण करने से तथा कटे हुऐ सिरका संधान कर देने से इसी अंग को मुख्य माना गया है। प्रकुपित शिव ने यज्ञ का शिरश्छेदन कर दिया था, तब देवताओं ने अश्विनी-कुमारों के पास जाकर कहा कि— "ऐसा ही हो"। तब देवताओं ने अश्विनीकुमारों को यज्ञ का भाग मिलने के लिऐ इन्द्र को प्रसन्न किया। इस प्रकार अश्विनीकुमारों ने यज्ञ के कटे सिर का संधान किया। "तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति"— यह नित्य, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यशस्कर, आयु के लिए हितकर तथा जीविकोपयोगी है।

क्वचिद् धर्मः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः।

कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला।।

इससे धर्म, मैत्री, अर्थ आदि प्राप्त होते हैं—इसका उपयोग करने से यज्ञ किये— जैसा पुण्य मिलता है। चिकित्सा-शास्त्र- आयुर्वेद कदापि निष्फल नहीं है।

भारतीय ज्ञान- भण्डार की निगम, आगम और दिव्य नाम से प्रसिद्ध शतः विद्याओं के अन्तर्गत हिन्दू ज्योतिर्विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है §इन्द्रविजय

अथा।) ऋग्वेद -संहिता (2/3/22/164) में तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/4/6) में और इन्हीं मन्त्रों के भाष्य में सायणाचार्य ने प्रणवरूपा एकपदी, व्याहृति और सावित्रीरूपा द्विपदी, वेदचतुष्टयरूपा चतुष्पदी, छःवेदांग पुराण और धर्मशास्त्र अष्टपदी, मीमांसा, न्याय, सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेदरूपा नवपदी और अनन्त विद्याओं में ज्योतिर्विज्ञान का भी वर्णन किया है। छान्दोग्योपनिषद (7/1/2) में महर्षि नारद ने अपनी पठित विद्याओं में राशि-विद्या, गणित और दैवविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या एवं फलित-ज्योतिष का भी वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद (1/5) में अपरा विद्या के रूप में चारों वेदों के साथ ही षडंग में ज्योतिष को भी गिना गया है। विष्णुपुराण (3/7/28-29) आदि में 18 विद्याओं के अन्तर्गत ज्योतिष भी है। अवश्य ही जातकों में उल्लिखित 18 विद्याएँ वे ही हैं, जो विष्णुपुराण में कही गयी हैं और जिनमें वेदांग स्वरूप हमारा ज्योतिर्विज्ञान भी है।

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः

कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं

यो ज्योतिषं वेद स वेद सर्वं।।

—(विष्णुधर्मोत्तरपुराण/खण्ड/17अध्याय)श्लोक अंतिम

अर्थात्- वेद तो विविध यज्ञानुष्ठानों के लिए प्रवृत्त हैं और जितने यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान कालाधीन है। अतएव जो विद्वान् कालविधानशास्त्र-ज्योतिर्विज्ञान को जानता है, वही (यज्ञा)दि सब कुछ जानता है।

ज्योतिर्विज्ञान के गौणरूप से भले ही अनेक उद्देश्य हों, किन्तु मुख्य उद्देश्य है "कालविधान", जिसके बिना षोडश संस्कार, तिथि, वार, योग और नक्षत्रों के सम्बन्ध से विविध व्रतोत्सव तथा मुहूर्तादि विचार, प्रश्न, जातक एवं हायन (ताजक)-

सम्बन्धी होरा- विचार और शताध्यायी संहिता के शकुन, वास्तुपरीक्षा, मयूर-चित्रक, सद्यो वृष्टि, [illegible] गुह्यांगाटक आदि के विचार ही नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, काल-ज्ञान के बिना दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अष्टका, विषुव, मास, ऋतु, अयन आदि लौकिक, वैदिक एवं महालयादि पैतृक यज्ञों के अनुष्ठान भी नहीं हो सकते। सारांश यह है कि ज्योतिर्विज्ञान का मुख्य उद्देश्य काल-ज्ञान है।

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेद: क्रमा—

चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तरा:।

भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेः कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते

सिद्धान्त: स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधै:।।

—सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय(भास्कराचार्य)

अर्थात "त्रुटिकाल से लेकर प्रलय के अन्तकाल तक (त्रुटि, लेपक, प्राणपल, विनाड़ी, नाड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, सत्यादि चारों युग, स्वायम्भुवादि चौदह मनु और ब्राह्म दिन, रात्रि, कल्प) की गणना और नौ प्रकार के कालमान (ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, गुरु, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र) के भेद, सूर्यादि ग्रहों की चाल, व्यक्त-अव्यक्तरूप दो प्रकार का गणित, दिशा, देश और कालसम्बन्धी विविध प्रश्न तथा उनके उत्तर, पृथ्वी, नक्षत्र, और ग्रहों के संस्थान—कक्षादि और वेधद्वारा ग्रह- नक्षत्रादि के स्थान, क्रान्ति, शर आदि के मापक तथा क्षणादि अहोरात्रपर्यन्त काल के मापक तथा जल, बालुका एवं काल आदि द्वारा स्वयं चालित विविध यन्त्रों के बनाने की विधि और उपयोग का जिसमें वर्णन हो, उस गणितशास्त्र को विद्वान लोग ज्योतिर्विज्ञान का "सिद्धान्तस्कन्ध" कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के संहितास्कन्ध का वर्णन आचार्य वराहमिहिर ने महर्षियों के मतानुसार अपनी बृहत्संहिता (1/21) में विस्तार से किया है, जिसका सारांश यह है कि सूर्यादि ग्रहों, विविध-केतुओं- पुच्छल ताराओं, नक्षत्रों, सप्तर्षि, अगस्त्य आदि तारा-पुंजों के स्थान, चार योग, उदयास्तादि के द्वारा शुभाशुभादि का वर्णन तथा

विविध उत्पातों, शकुनों और उनके फलों के विचार और रत्नपरीक्षा, पशुपरीक्षादि के साथ ही विविध मुहूर्त्तों का वर्णन मानव-जाति के सभी व्यावहारिक विषयों का वर्णन संहिता में रहता है। अतएव इस ज्योतिःस्कन्ध का दूसरा नाम व्यवहार-शास्त्र भी रखा गया है। तीसरे होरास्कन्ध का लक्षण बलभद्र मिश्र ने अपने "होरा-रत्न" में कश्यप के वचन के आधार पर लिखा है, जिसका सारांश यह है कि होरा-स्कन्ध में राशिभेद, ग्रहयोनि, गर्भज्ञान, लग्नज्ञान, आयुर्दाय, दशाभेद, अन्तर्दशादि, अरिष्ट, कर्माजीव, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रहादियोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, दृष्टि, ग्रहभावफल, आश्रय और संकीर्णयोग, स्त्रीजातक, नष्टजातक, निर्याण तथा द्रेष्काणादि फलों का विचार— इन सब विषयों का वर्णन होता है। होरास्कन्ध का दूसरा नाम है— जातक, अथवा यों कहें कि होरास्कन्ध का प्रधान अंग जातक है। जन्मकाल के आधार पर जो शुभाशुभ फल का निर्णय करने वाला ग्रन्थ हो, उसे जातक कहते हैं।

सूर्यादि ग्रहों और अश्विन्यादि नक्षत्रों के गणित तथा फलित का वर्णन जिस शास्त्र में हो, उसे "ज्योतिषशास्त्र" कहते हैं, जो हिन्दू-ज्योतिर्विज्ञान के अर्थ में योग-रूढ़ माना गया है।

यथा शिखा मयूराणां
 नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां
 ज्योतिषं (गणितं) मूर्धनि स्थितम्।।

अर्थात् "जैसे मयूरों की शिखा और नागों की मणि शिरोभूषण है, वैसे ही (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषरूप) वेदाङ्ग शास्त्रों में ज्योतिष शिरो-भूषण है।"

-शोध प्रबन्ध की संक्षिप्त पृष्ठभूमि-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की भूमिका में विषय प्रवेश कराते हुए यहाँ "पुराणों में प्रतिपादित प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का आलोचनात्मक अध्ययन" किया गया है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत वैदिक-वांग्मय का प्राचीन शिक्षा पद्धति के निरूपण में पुराणों पर प्रभाव दर्शाया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत स्मृतियों के अनुसार पुराणों में प्रतिपादित शिक्षक का स्वरूप एवं आचार्य, उपाध्याय, गुरु का पुराणों के अनुसार स्वरूप निरूपण, पुराणों के अनुसार आदर्श गुरु के लक्षण उनका निदर्शन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत पुराणों में प्रतिपादित शिक्षार्थी (शिष्य) का स्वरूप, शिष्य की पात्रता, आदर्श शिष्य के लक्षण, शिष्य के दुर्गुण, कतिपय आदर्श शिष्यों का पौराणिक-निदर्शन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा (अध्ययन) के विविध विषयों का वर्णन किया गया है। जिसके अन्तर्गत पौराणिक-विद्याओं, शास्त्र एवं कलाओं (वेद वेदांग, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत, सैन्य (यौगिक) विज्ञान, साहित्य, शिल्पकलाओं) आदि का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-संस्थानों के स्वरूप का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है।

षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के अन्य-सम्बन्धित विविध पक्षों की शोधात्मक समालोचना की गयी है।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत परवर्ती संस्कृत- साहित्य की विविध-विधाओं की कृतियों में प्राचीन शिक्षा-पद्धति का शोधपूर्ण निरूपण किया गया है।

शोध-ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत शोध-निष्कर्षों का मूल्यांकन (पौराणिक-शिक्षा पद्धति की श्रेष्ठता वर्तमान शिक्षा प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में की गयी है।

प्रथम अध्याय

वैदिक वाङ्मय का प्राचीन शिक्षा पद्धति के निरूपण में पुराणों पर प्रभाव

-प्रथम अध्याय-

-वैदिक वाँगमय का प्राचीन शिक्षा पद्धति के निरूपण में पुराणों पर प्रभाव-

मानव-प्रवृत्ति आदिकाल से ही सीखने एवं सिखाने की ओर उन्मुख रही है। प्रारम्भ में आधुनिक संसाधनों के अभाव में मानव एक दूसरे के कार्य-कलापों का अनुकरण मात्र दृष्टिपात से ही कर लेते थे। एक दूसरे के अनुभवों और क्रिया-कलापों का अनुकरण करना ही उनके लिये एक मात्र विकल्प था। दैनिक जीवन में आने वाली विविध समस्याओं का समाधान वह एक दूसरे के अनुभवों के आधार पर ही कर लेते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी भारतीय संस्कृति के गर्भ में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही यह एक दूसरे के सीखने-सिखाने की मूलप्रवृत्ति निहित थी।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के आदर्श वाक्य के रूप में वेद का अनुशासन है— "विशिष्टज्ञानी—ज्ञानामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति अज्ञानियों में बैठकर उन्हें ज्ञान प्रदान करे"— "अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।"

{ऋग्वेद 7/4/4}

सामान्य दृष्टि से वेद अन्य ग्रन्थों की भाँति ही दिखलाती है, क्योंकि इनमें कुछ समताएं हैं। अन्यग्रन्थ जैसे अपने विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्य समूह दीखते हैं— यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जैसे कागज पर छापे या लिखे जाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि अन्य ग्रन्थों के वाक्य जैसे अनित्य होते हैं, वैसे वेद के वाक्य अनित्य नहीं है। इस दृष्टि से वेद और अन्य ग्रन्थों में वही अन्तर है, जो अन्य मनुष्यों से श्रीराम-श्रीकृष्ण में होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण करता है, तब साधारण जन उन्हें मनुष्य ही देखते हैं। वे समझते हैं कि जैसे प्रत्येक मनुष्य हाड़चर्म का बना होता है, वैसे ही वे भी हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि श्रीराम- श्रीकृष्ण के शरीर में

हाड़-माँस-चाम आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता।[1] इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप होता है। अतः अधिकारी लोग इन्हें ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं।[2] जैसे श्रीराम- श्रीकृष्ण मनुष्य दीखते हुए भी मनुष्यों से भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वैसे ही वेदों के वाक्य भी अन्य ग्रन्थों के वाक्यों की तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम- श्रीकृष्ण को "ब्रह्म", "स्वयम्भू" कहा गया है। इस विषय में कुछ प्रमाण ये हैं—

(1) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।।

(मनु0 1/23)

अर्थात् "ब्रह्मा ने यज्ञ को सम्पन्न करने के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से ऋग्, यजुः और साम नामक तीन वेदों को प्रकट किया। इस श्लोक में मनु ने वेदों को "सनातन ब्रह्म" कहा है।"

(2) कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।।

(गीता 3/15)

अर्थात् "अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्म को ब्रह्म (वेदों) से उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदों) को ईश्वर से आविर्भूत जानो।"

(3) स्वयं वेद ने अपने को "ब्रह्म" और "स्वयम्भू" कहा है-

"ब्रह्म स्वयम्भूः।"

(तै0आ0 2/9)

(4) इसी तथ्य को व्यासदेव ने दोहराया है-

(क) वेदो नारायणः साक्षात्।

(बृ0 नारदपु04/17)

---

1. (क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा। (वराहपुराण)

(ख) पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

(यजु0 40/8)

§घ§ वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम।

ब्रह्म सद्, चिद्, आनन्दरूप होता है— "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" §बृहदा० 3/9/29§। "सद्" का अर्थ होता है— त्रिकालाबाध्य अस्तित्व। अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, इसका कभी विनाश नहीं होता। "आनन्द" का अर्थ होता है— "वह आत्यन्तिक सुख, जो प्राकृतिक सुख-दुःख से ऊपर उठा हुआ होता है।" "चिद्" का अर्थ होता है— "ज्ञान"। इस तरह ब्रह्म जैसे नित्य सत्तास्वरूप, नित्य आनन्दस्वरूप है, वैसे ही नित्य ज्ञानरूप भी है। ज्ञान में शब्द का अनुवेध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।

§वाक्यपदीय§

नित्य ज्ञान के लिए अनुवेध भी तो नित्य शब्द का होना चाहिए। इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध वाले वेद ब्रह्म-रूप सिद्ध हो जाते हैं।

महाप्रलय के बाद ईश्वर की इच्छा जब सृष्टि रचने की होती है, तब वह अपनी बहिरंग शक्ति प्रकृति पर एक दृष्टि डाल देता है। इतने से प्रकृति में गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वों के रूप में परिणत होने लगती है। इस परिणाम में ईश्वर का उद्देश्य यह होता है कि अपंचीकृत तत्त्वों से एक समष्टि शरीर बन जाये, जिससे उसमें समष्टि आत्मा एवं विश्व का सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ बैठ जाये— "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे"

§ऋ०10/10/1§।

जब तपस्या के द्वारा ब्रह्मा में योग्यता आ जाती है, तब ईश्वर उन्हें वेद प्रदान करता है—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।"

§श्वेताश्व० 6/18§

इस तथ्य का उपबृंहण करते हुए मत्स्यपुराण में कहा गया है-

तपश्चचार प्रथममराणां पितामहः।

आविर्भूतास्ततो वेदाः सांगोपांगपदक्रमाः।।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।

§3/2,4§

अर्थात् "ब्रह्मा ने सबसे पहले तप किया। तब ईश्वर के द्वारा भेजे गये वेदों का उनमें आविर्भाव हो पाया। §पुराणों को पहले स्मरण किया§ बाद में ब्रह्मा के चारों मुखों से वेद निकले।" उपर्युक्त श्रुतियों एवं स्मृतियों के वचन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

§1§ ईश्वर ने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भ को बनाया। उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी।

§2§ ईश्वर ने हिरण्यगर्भ से पहले तपस्या करायी, इसके बाद योग्यता आने पर उनके पास वेदों को भेजा।

§3§ वे वेद पहले ब्रह्मा के हृदय में आविर्भूत हो गये। हृदय ने उनका प्रतिफलन कर मुखों से उच्चरित करा दिया। इस तरह ईश्वर ने ब्रह्मा को वेद प्रदान किये।

वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत्।।

§मीमांसा-न्यायप्रकाश§

उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलय के बाद ईश्वर की सत्ता की भांति उनके स्वरूपभूत वेदों की भी सत्ता बनी रहती है। इस तरह गुरु-परम्परा से वेद हम लोगों को प्राप्त हुए हैं। वेदों के शब्द नित्य हैं, अन्य ग्रन्थों की तरह अनित्य नहीं।

वेदों का एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है। सृष्टि के प्रारम्भ में इनका जो रूप था, वही सब आज भी है। आज भी वही उच्चारण और वही

क्रम है। ऐसा इसलिए हुआ कि इनके संरक्षण के लिए आठ उपाय किये गये हैं, जिन्हें "विकृति" कहते हैं। उनके नाम हैं— (1) जटा, (2) माला, (3) शिखा, (4) रेखा, (5) ध्वज, (6) दण्ड, (7) रथ और (8) घन——

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।

अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।।

विश्व के किसी दूसरी पुस्तक में ये आठों उपाय नहीं मिलते। गुरु-परम्परा से प्राप्त इन आठों उपायों का फल निकला कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेद के जैसे उच्चारण थे, जैसे पद-क्रम थे, वे आज भी वैसे ही सुने जा सकते हैं। हजार वर्षों की गुलामी ने इस गुरु-परम्परा को हानि पहुँचायी है। फलतः वेदों की अधिकांश शाखाएँ नष्ट हो गयीं, किन्तु जो बची हैं उन्हें इन आठविकृतियों ने सुरक्षित रखा है।

वेद के मन्त्र-भाग की जितनी संहिताएँ होती हैं, उतने ही ब्राह्मण-भाग भी होते हैं। आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं। इनमें अधिकांश का लोप हो गया है।

वेद की शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दी जाती थीं। शिवपुराण से पता चलता है कि दुर्गमासुर ने ब्रह्मा से वरदान पाकर समस्त वेदों को लुप्त कर दिया था। पीछे दुर्गा जी की कृपा से वे विश्व को प्राप्त हुऐ। कभी-कभी ऋषि लोग तपस्या द्वारा उन लुप्त वेदों का दर्शन करते थे।

इसतरह शास्त्र-वचनों के श्रवण और उपपत्तियों के द्वारा मन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद अन्य ग्रन्थों की तरह जीव के द्वारा निर्मित नहीं हैं। जैसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय हैं, वैसे वेद भी हैं। जैसे ईश्वर प्रलय में भी स्थिर रहते हैं, वैसे वेद भी।——"नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलये पि।" (मेधातिथि) इन्हीं वेदों के आधार पर सृष्टि का निर्माण होता है।

-वेदों की शिक्षा-

वेदों ने मानवों के विकास के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भरपूर शिक्षाएँ

दी है। प्रत्येक शिक्षा सत्य है, अतः लाभप्रद है, क्योंकि वेदों का अक्षर-अक्षर सत्य होता है। जब ईश्वर सत्य है, तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जब तक वेद की इस सत्यता पर पूरी आस्था न जमेगी, तब तक वेदों की शिक्षा को जीवन में उतार पाना सम्भव नहीं है।

-वनस्पति में चेतना-

वेदों ने हमें सिखाया है कि अन्य प्राणियों की तरह हम वनस्पतियों पर भी दया दिखलायें, क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों में जैसी चेतना होती है, वैसी वनस्पतियों में भी होती है। इन्हें जैसा सुख-दुःख होता है, वैसे वनस्पतियों को भी होता है। छान्दोग्य ने बतलाया है कि हरा वृक्ष जीवात्मा से ओत-प्रोत रहता है, अतः वह वृक्ष जलपान करता है और जड़ द्वारा पृथ्वी से रसों को चूसता रहता है—

स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।

{छा०उ०6/11/1}

"पेपीयमानोऽत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानस्तिष्ठति।"

{आचार्य शंकर}

श्रुति ने चेतना के इस सिद्धान्त को बुद्धिगम्य करने के लिए कुछ प्रत्यक्ष घटनाएँ प्रस्तुत की हैं— {1} हरे वृक्ष में ऊपर, नीचे, मध्य में, किसी भी जगह आघात करने से वह रस का स्राव करने लगता है। यह बात सूखे काठ में नहीं दीखती। इससे प्रतीत होता है कि हरा वृक्ष सजीव है। {2} जैसे प्राणियों का कोई अंग जब रोग या चोट से अत्यन्त आहत हो जाता है, तब उसमें व्याप्त जीवांश उससे उपसंहृत हो जाता है, जिससे वह सूख जाता है। वनस्पतियों में भी ठीक यही बात पायी जाती है। हरे-भरे वृक्ष की कोई शाखा रोग या चोट से जब अत्यन्त आहत हो जाती है, तब उसमें व्याप्त जीव उसे छोड़ देता है और वह सूख जाती है। इसी

तरह यदि दूसरी शाखा को छोड़ता है, तो वह सूख जाती है और तीसरी को छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है। इस तरह, यदि जीव सारे वृक्ष को छोड़ देता है तो सारा वृक्ष ही सूख जाता है—

अस्य यदेका ँ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति।
द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति,
सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति।।

{छा०उ० 6/11/2}

प्राणयुक्त जीव के द्वारा ही खाया-पीया अन्न-जल रसरूप में परिणत होता है। श्रुति ने वृक्ष के इस स्रवाव और शोषण-रूप लिंग से उसमें चेतनता, सजीवता सिद्ध की है—

वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिंगाज्जीववत्त्वं
दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति।

{आचार्य शंकर}

हमारी तरह वनस्पति भी प्यार चाहते हैं, प्यार पाकर वे बढ़ते हैं आदि बातों से वेदानुगत शास्त्र भरे पड़े हैं। फूल-पत्ती तोड़ते समय उनसे प्रार्थना करनी चाहिए, यह भी सीख है। व्यर्थ तोड़ने से प्रायश्चित का भी विधान है, किन्तु हजारों वर्षों से विश्व की बहुत बड़ी जनसंख्या वेदों के इस सिद्धान्त के विरुद्ध थी। इस समय वेदों का वह विवादास्पद सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है।

प्राचीन सिद्धान्त था कि व्यक्ति अपने को अजर और अमर समझकर विद्या प्राप्त करता रहे। यों वह आश्वलायन तथा हिरण्यकेशिन के अनुसार 12 वर्षों में वेदों में पारंगत हो सकता है, किन्तु एकदम पूर्णता प्राप्त करने के लिये 24 या 48 वर्ष भी लग सकते हैं। मानव-जीवन की सीमा को देखते हुए बोधायन ने लिखा है कि जब तक केश काले रहें तभी तक विद्या ग्रहण करे। पर आज की तरह प्रत्येक

छात्र को एक विषय में छमाही परीक्षा देनी होती थी। छमाही परीक्षा का नियम संसार ने भारत से सीखा है। एक सत्र §उपकरणम्§ श्रावण की पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर पौष की पूर्णिमा §अर्थात् जुलाई से दिसम्बर§ तक समाप्त होता था, जिसे उत्सर्जन कहते थे। चारो वेदों के अतिरिक्त वेदों के छ: अंग— §1§ शिक्षा, §2§ कल्प, §3§ व्याकरण, §4§ निरूक्त, §5§ छन्द, §6§ज्योतिष के ज्ञान बिना शिक्षा पूरी नहीं होती थी, फिर किसी एक अंग में विशेषता के लिये विशेष अध्ययन होता था। आज की तरह केवल वेतन के पीछे भागने वाले, पढ़ाने में दिलचस्पी न लेने वाले अध्यापक तथा परीक्षा के लिये पढ़ने वाले छात्र उस युग में नहीं होते थे। उस समय का पाठ्यक्रम आज से कहीं कठिन था। उदाहरण के लिये आज कालिजों में "शब्दव्युत्पत्ति-विद्या"। प्राचीन काल में "निरूक्त" यही विषय था जो आज से कहीं अधिक कठिन और व्यापक था।

"वीर मित्रोदय" के अनुसार जन्म से यज्ञोपवीत तक जो पथ-प्रदर्शन करे वह गुरू है। याज्ञवल्क्य की स्मृति के आचाराध्याय §35§ के अनुसार वेद के एक अंग कोपढ़ाने वाला "उपाध्याय" है तथा---वीरमिताक्षरा के अनुसार सम्पूर्ण विद्या देने वाला "आचार्य" होता है। तक्षशिला में कई आचार्य थे। अपने विषय में पारंगत कराने वाला आचार्य था। तक्षशिला में प्रवेश के लिए वही उम्र थी जो आजकल विश्वविद्यालयों में है। याज्ञवल्क्य के अनुसार- ब्राह्मण §चूँकि विद्वान् परिवार का है§ को यज्ञोपवीत के बाद 16 वर्ष, क्षत्रिय को 22 वर्ष तथा वैश्य को 24 वर्ष में शिक्षा पूरी करनी चाहिये। प्राचीनकाल के पाठ्यक्रम का वर्णन जातक-कथा "मिलिन्द-पिन्ह" में मिलता है, जिसके अनुसार निम्नलिखित विषय थे— §1§ चारों वेद, §2§ इतिहास §पुराण आदि§, §3§ शब्द-विज्ञान, §4§ छन्द:-शास्त्र, §5§ स्वर-विज्ञान-ध्वनि-विज्ञान, §6§ काव्य, §7§ व्याकरण, §8§ शब्द-व्युत्पत्ति-विद्या, §9§ फलित-ज्योतिष, §10§ गणित-ज्योतिष, §11§ छ:वेदांग

§12§ शकुन-विज्ञान, §13§ प्रतीत-शास्त्र, §14§ स्वप्न-विज्ञान, §15§ धूमकेतु तथा उल्का-विज्ञान, §16§ नक्षत्र-विज्ञान, §17§ सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, §18§ गणित, §19§ विवेचन-विद्या, §20§ सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शन, §21§ संगीत-शास्त्र, §22§ जादूगरी, §23§ पक्षियों तथा जन्तुओं की भाषा, §24§ चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान, §25§ कला, §26§ साहित्य, §27§ चित्रकला, §28§ युद्ध विद्या आदि। क्षत्रिय-वर्ग को युद्ध-विद्या के सब अंग- जैसे रथ चलाना, घोड़ा-हाथी की सवारी, अस्त्र-शस्त्र का उपयोग आदि विशेष शिक्षा दी जाती थी। छात्र अपना विशिष्ट विषय चुन लेता था। आज के पाठ्यक्रम से तुलना करें तो प्राचीन पाठ्यक्रम कहीं अधिक पूर्ण, उपयोग तथा समीचीन था।

क्रमिक विकास होते-होते यही प्रवृत्ति अपने मूर्त रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुई। भारतीय संस्कृति में अनेकानेक विशिष्ट-तत्वों में इस वृत्ति का भी अपना प्रमुख स्थान रहा है। इसमें प्रमुख रूप से दो तत्वों का दर्शन सुलभ होता है। प्रथम तो किसी वस्तु का ज्ञान कराने वाला तथा द्वितीय जो किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। किसी भी प्रकार का ज्ञान प्रदान करने वाला "गुरु" तथा उस ज्ञान को प्राप्त करने वाला "शिष्य" कहा जाता है। इनको विविध प्रकार की नामावलियों से भी विभूषित किया जाता रहा है।

हमारी भारतीय संस्कृति में निहित गुरु का वैशिष्ट्य आदि-काल से ही स्वीकार किया गया है। इसीलिये गुरु की समता त्रिमूर्ति देवों से की गयी है।

वैदिक-काल में शिक्षा-प्राप्ति हेतु उपनयनोपरान्त दोनों के मध्य विद्या-सम्बन्ध का निर्माण होता था। इन सम्बन्धों में यह अत्यावश्यक था कि गुरु-शिष्य की कल्याण-कामना के साथ निरन्तर उसको समुचित निर्देश प्रदान करे एवं उसके लिए हितकारी-मार्ग का प्रदर्शन करे। शिष्य के लिये भी यह परमावश्यक था कि वह सदा कर्तव्य-पालन में तल्लीन रहे तथा विनयपूर्वक शिक्षा प्राप्त करे। शिष्य को गुरु पर अतीव विश्वास था कि गुरु की उपस्थिति में उसका अध्ययन

निश्चित एवं शीघ्रतापूर्वक होगा।[1] उपरोक्त सम्बन्ध को भाष्यकार एवं काशिका-कार ने "ब्रह्मवर्चस्व" की पदवी से सुशोभित किया है।[2]

वैदिककाल में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान अत्यन्त कल्याण-कारी एवं पवित्र माना जाता था। यह सम्बन्ध अत्यन्त सटीक भी प्रतीत होता है, क्योंकि पिता अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट होने से पूर्व प्रारम्भिक ज्ञान प्रदान करता है।[3] अतः प्रारम्भिक अवस्था में पिता स्वयं ही अपने ~~कर्म~~ कर्तव्य निर्वाह से गुरु के पूजनीय स्थान को प्राप्त कर लेता था। दूसरी ओर यदि वह अधिक विद्वान होता था तो भी अपने अन्य शिष्यों के साथ पुत्र को भली-भाँति शिक्षित करता था। ऐसे पिता व गुरु दोनों की भूमिका निर्वाह करने का उल्लेख पाणिनि व पतंजलि ने किया है।[4] ऐसे शिष्यों को भाष्यकार ने पिता के अन्ते-वासी कहा है। इस प्रकार पुत्र को धर्म-सम्बन्धी उपदेश प्रदान करने का निर्देश उपलब्ध होता है।[5]

---

1. 3-3-133, भा0।, पृ0-324

"उपाध्यायश्चेदागतः क्षिप्रमध्येष्यामहे।

उपाध्यायश्चेदागतः आशसे युक्तो धीयीय।।"

2. 5-1-39 भा0।, पृ0-323 तथा का0

"ब्रह्मवर्चस्य निमित्तं संयोगो ब्रह्मवर्चस्यः।"

3. 6/3/23, पृ0-308 होतुः पुत्रः पितुरन्तेवासी।"

मनुस्मृति- अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्।।

4. 1-4-51 पृ0-177

"पुत्रं ब्रूते धर्मं, पुत्रमनुशास्ति धर्मम्।"

~~मनुस्मृति- "विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्षमाम्।~~

वस्तुतः उपरिवर्णित व्यवस्था तद्युगीन परिस्थितियों को देखते हुए भले ही तर्क-संगत रही हो तथापि निष्पक्षभाव से यह तथ्य विचारणीय है कि कितने पिता अपने पुत्रों को अन्य शिष्यों के समान निष्पक्षभाव से ज्ञान प्रदान कर सकते होंगे? यह एक मनोवैज्ञानिक व स्वाभाविक तथ्य है कि पुत्र के प्रति उत्कट मोह की स्थिति से विरले ही पुरुष स्वयं को पृथक् रख पाते होंगे। तब गुरु के सदृश अत्यन्त महिमामय पद को वह कैसे विभूषित कर सकेगा?

कतिपय पिता व पुत्र तो ऐसे रहे थे जिन्होंने उक्त सम्बन्ध के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी अतीव तत्परता व गौरव के साथ निर्वाह किया। पिता अपने पुत्रों को आध्यात्मिक शिक्षा स्वयं ही प्रदान करते थे। छा० व तैत्तिरीय० उपनिषदों में श्वेतकेतु ने आरुणि से एवं भृगु ने वरुण से ज्ञान प्राप्त किया था।

अतएव उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि वैदिक -काल में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एवं स्निग्ध रूप से विद्यमान थी।[1] यह सम्बन्ध एक ओर तो पिता-पुत्रवद् मंगलमय भी था क्योंकि गुरु-शिष्य के हित के समक्ष किसी भी प्रकार के व्यवधान को समूल नष्ट करने को उद्यत हो उठता था। इस प्रकार की भावना सामान्य-वर्ग में निहित पिता-पुत्र के सम्बन्धों में नहीं रह सकती थी। इसमें तो पुत्र के प्रति अनुराग की दुर्बल भावना निश्चित रूप से निहित रहती थी। इसी दुर्बलता के वशीभूत होकर पिता गुरु के रूप में स्वकर्तव्य-पालन में उतना सुदृढ़ नहीं रह सकता था।

सामान्य जन की शिक्षा तो पारिवारिक वातावरण से नितान्त पृथक प्राकृतिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण वातावरण में ही हो सकती थी। जहाँ निरन्तर पक्षपात

---

1. मनुस्मृति--"विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।।"
"यमेव तु शुचिं विद्या नियत ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।।"

की भावना से पृथक रहकर शिष्य को शिक्षित करता था। शिष्य भी गुरु के प्रति समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुये एवं विविध कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर अपना जीवन सार्थक करता था। इस प्रकार दोनों ही {गुरु-शिष्य} समाज के प्रति कर्तव्यपालन में पूर्णतः सजग रहते थे। अतः उपर्युक्त-सम्बन्ध परिवार, समाज एवं राष्ट्र इन तीनों के लिए अत्यन्त लाभप्रद था।

-वैदिक-काल में शिक्षा का स्थान व स्वरूप-

वैदिक कालीन शिक्षण-संस्थाएँ मात्र शब्द-ज्ञान का ही परिचय प्रदान करने वाला नहीं वरन् उनका उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ही सँवारना था। ज्ञानार्जन किसी भी स्वार्थ साधनवश नहीं किया जाता था अपितु वास्तविक ज्ञानार्जन ही इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य था। अतएव मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के विविधतापूर्ण पक्षों के निर्माण हेतु ये संस्थाएँ स्थापित की जाती थीं जिनमें अनेकानेक युगों से ज्ञान-साधना में तल्लीन रहने वाले, उत्कृष्टतम ज्ञानराशि के पुंज एवं परम-जितेन्द्रिय गुरुजन छात्रों के जीवन-निर्माण हेतु नियुक्त किये जाते थे।

एक प्रधान प्रतिष्ठापक होता था जो सम्पूर्ण गुरुकुल की व्यवस्था अपने हाथ में रखता था। साथ ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों का पूर्णरूपेण निर्वाह भी करता था। ये गुरुकुल विभिन्न युगों में विविध संज्ञाओं से अभिहित किये जाते थे, जो किसी भी प्रकार के नगरीय अथवा ग्रामीण-कोलाहल से नितान्त पृथक एवं परम-शान्त, रम्य एवं प्राकृतिक-वातावरण में स्थापित किये जाते थे। इनका उद्देश्य प्रमुख रूप से यही था कि छात्रवृन्द किसी भी प्रकार के भौतिक-आकर्षणों से मुक्त होकर अपनी उन्नति में ही निरन्तर संलग्न रहें। किसी भी प्रकार के प्रलोभन से वह अपने उद्देश्य के प्रति असावधान न हो। तत्कालीन शिक्षण-संस्थाएँ व्यक्तिगत रूप से भी स्थापित की जाती थीं, जिनमें पृथक्-पृथक अध्यापक कतिपय निश्चित छात्रों को शिक्षा प्रदान

करते थे।[1] अन्य प्रकार के शिक्षा-साधनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उच्च-शिक्षा प्रदान करने हेतु नियमित संस्थाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है।[2] इन संस्थाओं को प्रशासन की ओर से ग्रामदान दिये जाते थे, जिनसे इनका व्यय चलता था। यदा-कदा जन-सामान्य से प्रदत्त चन्दे से भी शिक्षण-संस्थाएँ चलती थीं। कतिपय शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी थीं, जिनमें वेद की एक ही शाखा का अध्ययन करने वाले शिष्य एवं गुरुजन रहते थे। पुनः इनका अन्य किसी शाखा से सम्बन्ध नहीं रहता था। इनका नाम भी संस्था के प्रधानाचार्य या शिष्य के नाम पर ही पड़ता था। इन्होंने संघ का आदर्श स्वीकार किया था।[3] इस चरण-साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौतसूत्र, कल्पग्रंथ, पाणिनि के समय से ही चले आ रहे थे। छन्दों तथा शाखाओं ने प्रकारान्तर से संस्थाओं का स्वरूप ग्रहण कर लिया था क्योंकि इनमें अध्ययन करने व अध्यापन करने वालों के नाम पर ही शिक्षण-संस्थाओं [चरणों] का नामकरण होता था

---

1. Rigvedic Culture by Dr. A. C. Das. Edition, 1979. Varanasi, chap. 10 — Student Life and Learning:—
"From the above references it would appear that there were in Rigvedic times private educational institutions, conducted by renowned teachers and sages, which were attended by young men, eager to master the sacred lore."

2- बृहदा० उप०— [6/2/1-7]

3- [काशिका 2/4/3]-6 चरण शब्दः शाखा निमित्तकः पुरुषेषु वर्तते"।

-शिक्षा संस्थाओं के स्वरूप में परवर्ती परिवर्तन व विकास-

क्रमशः अध्येतृ एवं अध्येतव्य के नाम से चलने वाली संस्थायें क्रमशः लुप्त-प्राय होने लगीं और इनके स्थान पर ऐसी संस्थाओं का आविर्भाव हुआ, जिनका सम्बन्ध अन्य शाखाओं से भी था। इनके शिक्षा-सम्बन्धी-नियम भी सरल थे तथा इनमें ~~xxxxx~~ स्वतन्त्र रूप से अध्ययन व अध्यापन होता था। यास्क-विरचित "निरुक्त" एवं पाणिनिकृत "अष्टाध्यायी" ऐसे ही ग्रन्थ थे, जिन पर किसी एक वर्ग का प्रभुत्व नहीं था वरन् ये अन्य सभी चरणों से सम्बद्ध थे। पतंजलि की "अष्टाध्यायी" के विषय में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है कि सभी चरणों की परिषदों ने इस ग्रन्थ को स्वीकार किया था।[1]

संक्षेप में ये परिषदें तीन प्रकार की थीं----

1-शिक्षा-सम्बन्धी- ये व्याकरण व उच्चारण के विषय में नियम-निर्देश करती थी। शाखा के पाठों के विषय में इन पर विचार होता था। इनमें सम्मिलित होने वाला पारिषद्य कहलाता था।[2]

2-सामाजिक परिषद- इनके विषय में विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता। सम्भवतः इनका शिक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्व भी नहीं रहा होगा।

3-प्रशासनिक परिषद्- ये प्रशासन सम्बन्धी परिषदें थीं। किसी प्रशासक के मन्त्रि-मण्डल के विद्वज्जनों से यह परिषद् सुशोभित होती थी।

---

1. भाष्य (2/1/58, 6/3/14)

"सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्"।

2. भाष्य (4/4/44)-

"परिषदं समवैति"।

निष्कर्षतः यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि सर्वाधिक उपयोगी परिषद् शिक्षा से सम्बन्धित ही थी। जो शिक्षा जगत के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण रही होगी।

-शिक्षा प्राप्त करने की अवधि-

सामान्य रूप से शिक्षा प्रारम्भ करने एवं एक निश्चित अवधि तक शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख वैदिक युग में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दीर्घकालिक एवं आजन्म शिक्षार्जन का वर्णन भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि शिक्षा-प्राप्ति हेतु निश्चित अवधि-बन्धन के रूप में नहीं थी। इसका प्रयोजन मात्र विषय-ज्ञान के निमित्त काल-निर्धारण था। एक सीमित समय में विशेष ज्ञानार्जनोपरान्त दूसरे विषय में रुचि होने पर उसका ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता था। तथा निश्चित अवधि तक ज्ञानार्जन के पश्चात् शिष्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाता था।

शिक्षा-प्राप्ति हेतु अवधि के विषय में विविध मत पाये जाते हैं। यथा श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की आयु से अध्ययन प्रारम्भ कर बारह वर्ष तक बनाये रखा।[1] इसी प्रकार उपकोशल ने अपने आचार्य सत्यकाम जाबालि के पास बारह वर्ष तक अध्ययन किया।[2] इससे भी दीर्घ-अवधि पतीस[3] वर्ष या जीवन-पर्यन्त का भी उल्लेख

---

1. {छा० उप० 6/1/2} "सह द्वादश वर्ष उपेत्य चतुर्विंशति वर्षः सर्वान् वेदान् अधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमा देशम प्राक्ष्यः।।"

2. छा० उप० {4/10/1}

3. {छा० उप० 8/6/3}

प्राप्त होता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में 12, 32 या आजीवन विद्यार्थी बने रहने के संकेत प्राप्त होते हैं, जिनमें विशेष रूप से ज्ञानेच्छुक छात्रों के लिए विद्याध्ययन की अवधि में पर्याप्त शिथिलता प्रदान की गयी थी। यहाँ तक कि वे सम्पूर्ण जीवन भी ज्ञान साधना में ही व्यतीत कर सकते थे। उनके लिए किसी अन्य आश्रम में प्रवेश करने हेतु किसी भी प्रकार का बंधन नहीं था जैसा कि एक प्रार्थना में दृष्टिगोचर होता है।[1]

यत्र-तत्र यह अवधि नौ, अठारह एवं छत्तीस वर्ष भी पायी जाती है {3/1,2} सम्भवतः यह अवधि एक वेद के अध्ययन हेतु पर्याप्त समझी गयी थी। निश्चित अवधि तक अध्ययन करने वाला छात्र का स्नातक {4/31} तथा निश्चित अवधि से पूर्व ही विद्याध्ययन पूर्ण करने वाला छात्र विद्या-स्नातक तथा सम्पूर्ण-जीवन अध्ययन करने वाले छात्र नैष्ठिक कहे जाते थे {2/243}

-शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी-

शिक्षा प्राप्त करने के वास्तविक अधिकारी या अनधिकारी— इस विषय पर वैदिककाल में विशेष उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। सम्भवतः यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सीमा-निर्धारण उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः ज्ञानार्जन का अधिकार तो सभी को होना चाहिए तथापि बौद्धिक क्षमता एवं कार्यक्षेत्र को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति यदि बौद्धिक-स्तर के अनुसार ज्ञानार्जन करे तो अपने कार्य-क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्राप्त करते तो वस्तुतः उसको सफलतापूर्वक जीवन-निर्वाह में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती।

---

1. Agni Purana ——
A study by Dr. S. D. Gyani ChowKhamba Publication. Edition First 1964 chapter VII Matter From Smriti Literature) (XI-5).

उत्कृष्टतम-कोटि का ज्ञान प्रदान करने हेतु सत्पात्र का चयन अत्यावश्यक है। इसीलिए स्वयं विद्या ने अध्यापक को निर्देश दिया है योग्य अधिकारी के चयन हेतु।[1] इसी प्रकार शिष्य के विषय में भी कतिपय योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं। जिनके अभाव में अर्थात् निर्देश न पालन करने की स्थिति में प्रदत्त वैदिक-ज्ञान व्यर्थ ही सिद्ध होता है।[2] इसके अतिरिक्त स्वयं वाग्देवी का यह कथन है कि जो ज्ञानेच्छुक ज्ञान-प्रदाता का पूर्णरूपेण सम्मान करता है, उनके प्रति अविनयाचरण नहीं करता। सर्वतोभावेन गुरुजनों के प्रति सेवा शुश्रूषा करते हुए ज्ञानार्जन का इच्छुक हो उसी को ज्ञान प्रदान करने में अध्यापक एवं जिज्ञासु दोनों की सफलता निश्चित होती है।[3]

---

1. {"निरुक्त" यास्क द्वारा विरचित 2/4} "हिन्दी ऋग्वेद भूमिका"
"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय माशेवधिष्टे उहमस्मि।
असूयकायानृजवे यताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥"

2. {हिन्दी ऋग्वेद भाष्य भूमिका— श्री सायणाचार्य विरचिता। व्याख्याकारः श्री जगन्नाथ पाठकः। पालित्रिपिटिक प्रकाशन विभाग, वाराणसी। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।} पृष्ठ- 60 {निरुक्त" यास्क द्वारा विरचित {2/4}।
"अध्यापिता ये गुरुनाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसाकर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतम्॥"

3. {मुण्डकोपनिषद् {द्वितीय खण्ड} 2/13}
"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम्॥

वस्तुतः वैदिक ज्ञान इतना गरिमामय एवं गहन विषय है जिसको प्राप्त करने हेतु प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी नहीं बन सकता। उस ज्ञान को अर्जित करने के लिए उसको समझने एवं व्यावहारिक-रूप से भी ग्रहण करने की क्षमता हो तथा समस्त बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का अदम्य साहस हो जिस जिज्ञासु में हो वही इसका वास्तविक अधिकारी बन सकता था।

शिक्षा का स्वरूप एवं विषय—

प्राचीनकालीन शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त उपयोगी एवं भव्य था। यह स्वरूप यथार्थ की कसौटी पर भी खरा उतरने वाला था। लेखन सामग्री के अभाव तथा तद्युगीन परिस्थितियोंवश मौखिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। यथार्थतः श्रुति परम्परायुत शिक्षण की यही प्रणाली तद्युगीन वैदिक-परम्परा को जीवन्त बनाये रखने में समर्थ थी। इस स्वरूप में प्रमुख भूमिका गुरु और शिष्य की थी, जिसमें बाह्य उपादानों लेखन सामग्री व पुस्तकें आदि का आश्रय ग्रहण नहीं करना होता था।[1] गुरु द्वारा विषय का सस्वर पाठ या पारायण एवं शिष्य द्वारा उसको बुद्धिमत्तापूर्वक ग्रहण कर उसको पुनः दोहराना ही प्रमुख कार्य था। इसका विशेष परिणाम यह भी होता था कि विद्या का प्रसार परम्परागत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी होता रहता था। साथ ही विद्या की सुरक्षा भी बनी रहती थी।

तत्कालीन विद्या मौखिक प्रधान थी, जिसमें गुरु द्वारा प्रदत्तज्ञान को शिष्य मनोयोग से श्रवण करता था।[2] इस विषय में एक रोचक उद्धरण वैदिक-साहित्य

---

1. Rigvedic Culture by Dr. A.C. Das "Whether the art of writing and books existed in those days is still a matter of controversy."

2. (Translation of a Rigvedic verse (R.V. I. 112, 2) by Wilson) 'Rigvedic Culture' by Dr. A.C. Das. Calcutta 1951.

से उद्धारित किया जा सकता है जिसमें शिक्षण प्रणाली का स्वरूप यथार्थकालीन मेढकों के समान प्रतिपादित किया गया।[1] इस प्रकार प्राप्त शिक्षा में शुद्ध उच्चारण पर विशेष बल दिया जाता था। किसी विषय को सीखते समय उसके उच्चारण में किसी भी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिए। इसीलिये उसका मेढकों के समान स्वर पुनः पुनः अभ्यास करवाया जाता था।

उपर्युक्त मौखिक शिक्षार्जन में मात्र रटने को ही प्रधानता नहीं दी जाती थी, वरन् विषय को भली-भाँति सुन समझकर, अध्ययन मनन कर उसको हृदयंगम करने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अन्यथा यह शिक्षा बिना ईंधन के सूखे ढेर के समान थी। किसी विषय को बिना भली-भाँति समझे रटने मात्र से उसकी महत्ता तो समाप्त ही हो जायेगी। अतः विषय का यथार्थ ज्ञान अत्यावश्यक था। जैसा कि विल्सन द्वारा अनूदित ऋग्वैदिक श्लोकों से ज्ञात होता है।[2]

---

1. (RV. VII. 103, 5) "------ Is mantras which had to be correctly pronounced and recited."
Referring to the croacking of frogs on the avent of the rains, a curious verse ------ Says how one frog imitates the croaking of another as a learner his teacher."

2. (RV. X. 71, 2-9) "The seven meters, Gayatri & c. are here referred to: The previous words refer to the diffusion of learning; those who have studied the Veda have afterwards taught it to thers."
"Seeing speech evidently connotes the idea of written speech (or verses), proving the existence of the art of writing in Rigvedic times, at any rate, in the later period."

वास्तव में उपरोक्त शिक्षा वैदिक-युग में अनुकरण पद्धति पर निर्भर करती थी जिसमें गुरु के द्वारा किसी विषय पर बोलना एवं शिष्यों द्वारा पुनः उसका अनुकरण करना था। इस प्रकार विषयवस्तु मस्तिष्क में दृढ़तापूर्वक अंकित हो जाती थी। यही प्रथा आज भी अपने पूर्व रूप का उस समय स्मरण करा देती है जब किसी प्राथमिक कक्षा के छात्र गिनती-पहाड़े याद करते हैं। यहाँ भी अध्यापक का शिष्य अनुकरण ही करते हैं। इसी प्रकार संगीत-शिक्षण में भी प्राचीन-शिक्षण-प्रणाली का ही दर्शन होता है।

ऋग्वेद में शिक्षा का अर्थ देना है जैसा कि वशिष्ठ की दो ऋचाओं से ज्ञात होता है।[1] वैदिक-भाषा-ग्रन्थ या छन्दों को उस समय पुनः पारायण की विधि थी, जिसमें अन्य प्रकार का पाठविधान निश्चित था। ऐसे छात्र वाच्यम कहे जाते थे (वाचिकमौ ब्रवे, 3/2/40) इस प्रकार वेदों का पारायण करने वाला खान-पान में भी विशेष संयमपूर्वक रहता था तथा मात्र दुग्धपान करने के कारण उसको पयोव्रतपति (3/1/21) कहा जाता था।

पुनः पुनः ग्रन्थ को रटने के कारण आवृत्ति संख्या के आधार पर भाषा में प्रयोग किया जाता था। जैसे पंचकी, सप्तकी पठितः। इनका तात्पर्य यह था जितनी आवृत्ति में जिसका अध्ययन पूर्ण हो जाता था उसके लिए उतनी आवृत्तियों का प्रयोग किया जाता था। पारायण करते समय जिस प्रकार की अशुद्धि होती थी, जैसे स्वर, पद सम्बन्धित अशुद्धियाँ तो इनको प्रकट करने के लिए भी भाषा का प्रयोग होता था (स्वरादि दुष्टः), (मिथ्याकारयते) एक पद के लिए, असकृदुच्चारणपति, 1/3/71। मिथ्योपपदात् (कृञोऽभ्यासे) इस प्रकार अत्यन्त दुर्दम्य प्रयास से किये गये अध्ययन से ही वेद कण्ठस्थ हो जाते थे। साथ ही इनकी रक्षा भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी होती रहती थी। अन्यथा अब तक में उपलब्ध होने वाले वैदिक-साहित्य का नामोनिशान भी शेष नहीं रह जाता।

---

1. (7/27/2), (7/10/35)

वेदाध्ययन पद्धति एवं शिक्षा के उद्देश्य-

आधुनिक शिक्षण पद्धति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन अध्ययन कार्य अत्यन्त कष्टप्रद था। आधुनिक समय के समान विविध सुविधाओं एवं भोगविलास समय वातावरण का नितान्त अभाव था। छात्रगण अपनी दिनचर्या अत्यन्त कष्टपूर्वक व्यतीत करते थे।

सर्वप्रथम तो उनका बाह्य वेश ही अत्यन्त रूक्ष एवं कष्टप्रद होता था। मृगचर्म धारण करना, दीर्घकेश धारण अथवा सिर मुंडवाकर रहना जैसे चिन्हों से कठोर एवं रूक्ष वेशभूषा का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त प्रातः से सायंकाल तक कठोर अध्ययन, असावधान होने पर दण्ड का भाजन करना, गुरु की सेवा शुश्रूषा करना जैसे संक्षिप्त निर्देशों से तत्कालीन अध्ययन की कष्टसाध्यता का ज्ञान भली-भाँति हो जाता है।

इनके अतिरिक्त अन्य विविध कष्टों का संकलन डॉ० शिवदत्त ज्ञानी[1] विरचित "वेदकालीन समाज" में उपलब्ध होता है। यथा— छात्र सर्दी के दिनों में करीष (उपले) जलाकर अध्ययन करता था। गुरुजनों का दुराचार व उपालम्भ भी सहना पड़ता था। विद्यार्थी लौकिक भोजन त्यागकर जिज्ञासा के शमन हेतु आते थे[2], अध्ययन में कठोर श्रम भी करते थे।

साहित्य में सम्पूर्ण दिवस एवं रात्रि पर्यन्त अध्ययन करने वाले छात्रों का वर्णन भी प्राप्त होता है।[3] शीतकालीन-रात्रि में अग्नि के समीप उच्चस्वर में पढ़ते थे, अध्यापक भी उच्च स्वर में पढ़ाते थे। साहित्य में एक ऐसे अध्यापक का

---

1. "वेदकालीन समाज" द्वारा डॉ० शिवदत्त ज्ञानी–3-1-26, शा० ब्रा० 7।
   "कारीषोऽग्निरध्यापयीत।"
   1-4-28 पृ० 164 "उच्चैरधीयान नीचैरधीयान।वही।
2. 5-1-74 शा० 2 पृ० 337
3. (2-4-32 शा० पृ० 478) "दनकाम्यां रात्रिरधीता अर्धां आम्यामहरप्यधीतम्।"

का उल्लेख आता है, जिसका स्वर बैठ गया था।[1] इसके अतिरिक्त शीघ्र विद्या प्राप्त करने के इच्छुक होते थे, जिसके लिए निषेध था। इतना कठोर श्रम करने पर भी प्रत्येक छात्र अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हो पाता था। कतिपय छात्र कठोर श्रम करने पर भी अध्ययन में निपुण नहीं हो पाते थे तथा कुछ बिना अधिक श्रम किये सफलता के सोपान पार करते चले जाते थे[2] कभी-कभी अध्यापकों के अध्यापन में त्रुटियाँ होने के कारण भी छात्रों को पढ़ा हुआ पाठ समझ में नहीं आता था।

उपरोक्त अध्ययन से सम्बन्धित कठिनाइयों के उल्लेख से विविध तथ्य हमारे समक्ष आते हैं---- सर्वप्रथम तो अनेकानेक कष्टों को सहन करने का परिणाम यथार्थ एवं ठोस होता है जो बाह्य-रूप से तो शुष्क एवं कठोर प्रतीत होता है परन्तु जिसका अन्तस्वरूप अत्यन्त कल्याणमय होता है। उपर्युक्त तथ्य दुःख एवं सुख के क्रमिक आगमन की ओर विशेष रूप से इंगित करता है।[3] वस्तुतः प्रत्येक दुःखद स्थिति के उपरान्त सुखद क्षणों का आगमन होता है।

द्वितीय तथ्य में अनुशासित जीवन का सुन्दर उपदेश निहित रहता है, जिसका आचरण करने से हम स्वयं ही नहीं वरन् सम्पूर्ण परिवार एवं समाज भी

---

1. अ०2 पृ079। उपादात्तताख्य स्वरः समान महिमानानां केचिद् वैयुंज्य-न्ते ऐरेन।

2. अ०1, वा08, पृ029- "यतवता व नाम प्रयतेन भवितव्यम् न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः व्यतिरेकोऽपि वे लभ्यते। दृश्यन्ते हि कृत प्रयत्नाश्चा-प्रवीणा अकृत प्रयत्नाश्च प्रवीणाः।"

3.

"सर्वापि दुःस्थितिस्तस्मात् सुस्थितिरेव कारणम्।
एवं दुःखागमो नूनं कल्याणायैव जायते।।"

लाभान्वित होता है। इस प्रकार एक आदर्श परिवार व समाज का दर्शन हमें होता है।

तृतीय तथ्य हम अपने जीवन को, परिवार, समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्र को नैतिक, उच्चमनोबल युक्त, भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त समृद्धशाली बनाते हैं।

पुराणान्तर्गत प्राचीन शिक्षा-पद्धति-

निखिल विश्व को अपनी अपूर्व निधि से चमत्कृत करने वाली भारतीय संस्कृति में अनूठी गरिमा से परिपूर्ण गुरु-शिष्य-सम्बन्धों का अपना विशिष्ट माहात्म्य है। जिस परम्परा ने युगों-युगों तक भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को जीवित एवं अक्षुण्य बनाये रखा, उसका अनुसरण कर समस्त विश्व समृद्धि के उच्चतम-शिखर पर पहुंच सकता है। अत्यन्त लघु इकाई के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर भी सर्वांगीण विकास लक्षित होता है। उपर्युक्त गुरु एवं शिष्य दोनों के कर्तव्यों एवं गौरवास्पद माहात्म्य पर ही आधारित है, तत्कालीन उन्नति।

अतएव गुरु अपने सत्य, शिव एवं सुन्दर स्वरूप से यदि एक ओर शिष्य को आकृष्ट करता है। ज्ञानपिपासा शान्त करने हेतु तो दूसरी ओर शिष्य का प्रशंसनीय एवं समुज्ज्वल आचरण गुरु को स्वकर्तव्य निर्धारण में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान करता है। इसी कर्तव्य-निर्धारण का अद्भुत परिणाम प्राचीन युग में दृष्टि-गोचर होता है। जब सम्पूर्ण विश्व में भारत का स्थान गुरु के उत्कृष्टतम पद पर सुशोभित था।

आधुनिक युग में अपरिवर्तित परम्परा में क्रमिक शिथिलता का आभास होता है।

तिमिराच्छादित गगन-मण्डल को भेदकर निकलने वाले प्रकाशपुंज भगवान भास्कर के सदृश गुरु भी शिष्य के अज्ञानान्धकार को भेदकर ज्ञानरूपी प्रकाश से

पूर्ण कर देता है। गुरु स्वयं उच्च स्तर पर आसीन होता है। वस्तुतः गुरु का स्थान ईश्वर के समकक्ष है।[1] वह शिष्य को सर्वतोभावेन कल्याणेच्छुक[2] होता है। शिष्य द्वारा किये अपराधों को शान्तभाव से क्षमा करते हुए यत्र-तत्र प्रताड़ित करते हुए भी वह उस चिकित्सक के समान अपना कर्तव्य निर्धारण करता है जो रोग का पूर्ण शमन करने का इच्छुक हो। अतएव गुरु का स्थान पुराणों में सत्य, शिव एवं सौन्दर्य का प्रतीक है।

इस प्रकार, सर्वप्रथम परिवार में जन्म ग्रहण कर बालक अपने परिवार के आत्मीय जनों से ही शिक्षा ग्रहण करता है। गुरुकुल में प्रवेश करने से पूर्व की अवधि तक सभी सदस्य बालक को विविध-प्रकार से शिक्षित करते हैं। यह शिक्षा व्यावहारिक तथा प्रारम्भिक होती है। अतएव परिवार में माता-पिता, बड़े भाई अथवा अभिभावक के रूप में अन्य सदस्य उस बालक के गुरु होते हैं।[3]

परिवार से प्रारम्भिक-ज्ञान उपलब्ध कर बालक आचार्य के आश्रम में अध्ययन हेतु प्रविष्ट होता है। वास्तविक गुरु तो यहीं दृष्टिगोचर होते हैं, जो सर्वविध शिष्य के मंगल हेतु प्रयासरत रहते हैं तथा परिवार में अनावश्यक प्रेम-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से दूर रहते हुए छात्र को अध्ययन हेतु नियम-निर्देश करते हैं। गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाला छात्र गुरुकुल के प्रतिष्ठापक द्वारा उपनीत किया जाता है। यह उपनयन संस्कार शाब्दिक व्युत्पत्ति से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसका तात्पर्य है ("उप" उपसर्गपूर्वक "नी" धातु से निर्मित) गुरु के समीप अध्ययन

---

1. "पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
   न त्वत्समो स्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योः, लोकत्रयेऽप्य प्रतिमप्रभावः।।"
2. पद्म पुराण (6/36/65)
   "अहितं यो नाशयति स्वीहितं दर्शयेद सदा।
   स गुरुः स च विज्ञेयः सर्वधर्मार्थ कोविदः।।"
3. कूर्म पुराण (12/32-3), पद्म पुराण- 3/51/36

हेतु लाना। यह कार्य स्वयं गुरु करता है। अतएव विद्यारम्भ करने हेतु उपनयन संस्कार करने वाले "गुरु" इस संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1]

उपनयन- संस्कार के उपरान्त गुरु शिष्य को सदाचार के श्रेष्ठ-पथ पर अग्रसर होने के निर्देश देते हुए सर्वविध शिक्षा प्रदान करता है।[2] यह शिक्षा मानसिक, शारीरिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक जैसे विविध दृष्टिकोणों से परिपूर्ण होती है। अतएव किसी एक विषय या विविध विषयों का ज्ञान प्रदान करने की स्थिति में गुरु ही उत्तरदायी होता है।[3]

इसी प्रकार पुराणों में गुरु के क्रोधरहित, क्षमा की प्रतिमूर्ति, प्रसन्नता से युक्त एवं सर्वविध शिष्य केउपकार हेतु प्रयासरत जैसे विविध स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं।[4] वस्तुतः उपर्युक्त सद्गुणों से समन्वित गुरु भी अपने शिष्यों को यथेष्ट मार्ग पर अग्रसित होने को प्रेरित कर सकते हैं, क्योंकि शिक्षक द्वारा स्वयं किया आचरण शिष्य को पूर्णतः प्रभावित करता है।

उपरिवर्णित पौराणिक गुरु के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से तत्कालीन गुरुजनों के विविध आयामों पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः गुरु-शिष्य के मध्य सम्बन्ध दीर्घकाल तक, चिरस्थायी प्रभावोत्पादक होता था। जीवन का एक चौथाई भाग शिष्य गुरु के सम्पर्क में व्यतीत करता था। इस अवधि में गुरु के प्रत्येक आचरण का वह दर्शक होता था। ऐसी परिस्थिति में पूर्णरूपेण गुरु के आचरणों से प्रभावित होकर अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति में निरन्तर संलग्न रहता

---

1. मनुस्मृति 2/140, तुलनीयस्कन्द 04/36/53, भविष्यपुराण 1/4/74.
"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।"

2. गरुड़ पुराण- वर्णाश्रम धर्म कथन (2)
"उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृत्ति पूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।।"

3. मनु0 2/14, भविष्य0 1/4/75, स्कन्द0 4/36/54.

4. स्कन्द पुराण 2/5/16/24.

"समवेताः प्रसन्नात्मा विमन्युश्च सुहृन्नृणाम्।
साधुर्महान् समोलोके स गुरुः परिकीर्तितः।।"

था। अतएव गुरु के विविध गुणों का अनुकरण करते हुऐ वह आदर्श नागरिक के माध्यम से वह राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में सर्वतोभावेन सहायक होता था।

आधुनिक सन्दर्भ में भी गुरु के उपरोक्त स्वरूप की महती आवश्यकता है। यत्र-तत्र कतिपय दुर्बल स्थितियों को छोड़कर यदि गुरुजन प्राचीन परम्परा का निर्वाह करने का प्रयास करें, सम्पूर्ण न सही एक अंश ही धारण करें तो विश्व में कोई शक्ति नहीं जो हमें अपने सर्वांगीण विकास हेतु बाधित कर सके। इन्हीं गुरुजनों के आचरण का शिष्य अनुकरण करेंगे। ये ही शिष्य संयुक्त रूप से प्राचीन भारत का गौरवशाली रूप पुनः वापस लाने में समर्थ होंगे। ऐसे भव्य राष्ट्र के निर्माण में आधार-भित्ति के रूपों स्वयं गौरवशाली गुरु ही विद्यमान होंगे।

वैदिक वाँगमय का प्राचीन शिक्षा पद्धति के निरूपण में पुराणों पर प्रभाव-

पुराणयुगीन एवं वैदिकयुगीन शिक्षा-पद्धति के विवेचन से एक ही पक्ष का दर्शन होता है परन्तु एक ही पक्ष को ग्रहण करने से हमारी उद्देश्य पूर्ति नहीं होती, क्योंकि शिक्षण-जगत को सदैव गतिमान अक्षुण्य एवं उच्चतर समन्वित बनाये रखने में शिष्य का स्वरूप ज्ञान भी अत्यावश्यक है। वस्तुतः गुरु के साथ शिष्य का संयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार किसी वाहन को गतिशील बनाये रखने में दोनों पहियों का समान रूप से महत्व होता है। वे परस्पर आश्रित होते हैं। उसी प्रकार शिक्षा जगत में भी गुरु एवं शिष्य परस्पर सम्बन्ध रहते हैं।

आश्रमों में विद्याध्ययन हेतु प्रविष्ट छात्रों के लिऐ विविध नियमों का पालन अत्यावश्यक था, इसके अतिरिक्त प्रवेश से पूर्व उसका परिचय करना भी अत्यावश्यक था। बिना शिष्य का पूर्ण परिचय प्राप्त किऐ शिक्षण संस्था में प्रवेश करने एवं गुरु द्वारा प्रदत्तज्ञान को ग्रहण करना पूर्णतः निषिद्ध था।[1]

---

1. उशनस् स्मृति—

"वेदं धर्मं पुराणं च तथा तत्त्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत्।।"

उपर्युक्त प्रथा वैदिक काल से प्रारम्भ होकर पुराणयुग तक अपने मूल रूप में ही बनी रही। वस्तुतः उपर्युक्त प्रथा का माहात्म्य इसलिए था कि बिना शिष्य के विषय में भली-भाँति परिचय प्राप्त किये ज्ञान प्रदान करना xxx[1] न्यायोचित नहीं था, क्योंकि विषय की गंभीरता भी विचारणीय है। दान देने के विषय में जिस प्रकार निर्देश है कि दान देने हेतु वास्तविक अधिकारी वही है जिसके गुणावगुणों का विस्तृत ज्ञान हो जाये। नैतिक एवं मानसिक-स्तर के विषय में भली-भाँति परिचय प्राप्त हो जाये, अन्यथा प्रदत्त ज्ञान या दान का दुरुपयोग भी किया जा सकता था। अयोग्य एवं उद्दण्ड विद्यार्थी गुरुकुलों में अव्यवस्था करने एवं सहपाठियों व गुरुजनों को कष्ट देने में ही तत्पर रहते हैं तथा प्राप्त विद्या का इस प्रकार अपमान करते हैं।

-उपनयन-

उपरोक्त विधि से शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश हेतु परीक्षा उत्तीर्ण कर विद्यार्थी आश्रम में प्रविष्ट होते थे तथा आचार्य के आश्रम के प्रमुख अध्यक्ष इस विद्यार्थी का उपनयन संस्कार करते थे।[2] उपनयन के शाब्दिक अर्थ के अनुसार वह शिष्य को दीक्षित करता है। आश्रम में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार गुरु के समीप

---

1. पुराण-विमर्श, बलदेव उपाध्याय, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।

"पुराण का उपदेश अपनी गम्भीरता तथा मर्यादा रखता है और वह परीक्षित ऐसे सुपात्र शिष्य को ही गुरु के द्वारा दिया जाना चाहिए।"

2. Cultural History From the Matsya Purana by S.G. Kantawala. "It appears that students were probably admitted without any prejudicial considerations irrespective of the fact."

निवास करने हेतु। इसके अतिरिक्त इस प्रथा का तात्पर्य यह भी रहा होगा कि ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करने हेतु विद्यार्थीगण की पृष्ठभूमि का प्रारम्भ हो जाता था। वे ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों का पालन करते हुऐ विद्यार्जन करते थे।[1] अतएव इस विधि से छात्रों का शुद्धिकरण होता था। आत्मीय-जनों से प्राप्त निस्सीम-प्रेम एवं अतिशय शिथिल अनुशासन युक्त लालन-पालन से प्राप्त स्वभावगत दोनों का आश्रम के अनुशासित एवं पावन वातावरण में परिमार्जन हो जाता था।

आश्रम में प्रवेश हेतु विद्यार्थीगण अत्यन्त विनम्रतापूर्वक गुरू के सम्मुख स्वयं को प्रस्तुत करते थे। इस प्रस्ताव के साथ कि गुरू उनको शिष्य बना लें।[2] इस कार्य हेतु परीक्षा लेने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का पक्षपात पूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता था। चाहे वे छात्र किसी आचार्य या प्रशासक के आत्मज ही क्यों न हो।[3] क्रमशः क्षीण होती जा रही यज्ञोपवीत की प्रथा ही प्राचीन उपनयन संस्कार का संक्षिप्त रूप थी।

---

1. op-cit — "The ancient Indian educational system had its own way."

2. Agni-Purana A study by S. D. Gyani. Chowkhamba Publication Edition First — "After investing the ~~std~~ study with the sacred thread, the Preceptor should teach himself Purification. - - - in the morning and evening."

3. "He should avoid wine, flesh, music and dance in the company of others. He should not indulge in causing injuries to and taiking ill of others. He should bear a staff."

विष्णु पुराण प्रथम खण्ड 3/9- बालः कृतोपनयनो वेदाहरण तत्परः।

गुरुगेहे वसेद् भूप ब्रह्मचारी समाहितः।।

शिक्षण व्यवस्था-

आश्रम में प्रवेश हेतु तत्कालीन व्यवस्था में शुल्क की भी व्यवस्था थी जो प्रत्येक विद्यार्थी यथा-सामर्थ्य गुरु हेतु प्रबन्ध करता था। इस शिक्षण-शुल्क से सम्पूर्ण शिक्षण-संस्था का प्रबन्ध होता था। शिक्षण-काल में उपलब्ध अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति इसी प्रकार विद्यार्थियों द्वारा प्रदत्त शुल्क से होती थी। इसके अतिरिक्त प्रशासक वर्ग द्वारा अथवा भिक्षार्जन द्वारा भी यह कार्य सम्पन्न होता था।

वस्तुतः तत्कालीन प्रथा आधुनिक व्यवस्था की प्रकृत्य-स्वरूप रही होगी। इससे यह भी तथ्य ज्ञात होता है कि शिक्षकों को प्रदत्त धनराशि प्रशासक वर्ग तथा सामान्य वर्ग दोनों स्थानों से आती थी, क्योंकि इन्हीं वर्गों के बालक विद्याध्ययन हेतु आते थे।

दण्ड व्यवस्था-

आश्रम में विद्याध्ययन करते हुये विद्यार्थियों को यदा-कदा असावधान होने पर दण्ड की भी व्यवस्था थी। अत्यधिक प्रेम भी अनिष्ट कर होता है। पारिवारिक वातावरण में मोहान्ध पारिवारिक सदस्यों द्वारा बालक में अनेका-नेक अवगुणों के बीज अज्ञानवश आरोपित कर दिये जाते थे। उस स्नेहित परन्तु संभावित, अमांगलिक-वातावरण से दूर करने एवं जीवन निर्माण[1] हेतु मंगलकामना करते हुए लाभप्रद वातावरण के निर्माणार्थ अथक प्रयास हमारे गुरुजन करते रहते थे। अतएव विद्यार्थियों को आश्रम द्वारा निर्दिष्ट आधारों की अवहेलना करने पर बाधित किया जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि दण्ड शुभ परिणाम

---

1. गरुड़ पुराण- नीतिशास्त्र कथन {2}

"लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्छिष्यं च पुत्रं च ताडयेन्न तु लालयेत्।।"

हेतु प्रदान किया जाता था। किसी भी प्रकार से इस व्यवस्था में क्रूरता का प्रदर्शन अथवा शारीरिक अवयवों को हानि पहुंचने की सीमा तक दण्ड देने का विधान नहीं था।

इस व्यवस्था से असावधान छात्र कृत अपराध को पुनः दोहराने का कोई साहस नहीं करता था। यहाँ विशेष रूप से इसका यही तात्पर्य था कि असावधानी अथवा अपराध करने की प्रवृत्ति के प्रति विद्यार्थी विरत हो जाये तथा भविष्य में सावधान रहे। वस्तुतः यह व्यवस्था उन छात्र-वृन्दों के हेतु विशेष उपयोगी थी, जो प्रमुख रूप से किसी लोभवश अथवा स्वार्थपूर्ति हेतु अपराध कार्य में प्रवृत्त होते थे। उदाहरणार्थ— अच्छे भोजन, कम्बल, विवाह हेतु आश्रम के नियमों की ये छात्र अवज्ञा कर देते थे।

वस्तुतः उपर्युक्त व्यवस्था वर्तमान समय में बहुपयोगी सिद्ध होगी। ऐसी दण्ड व्यवस्था जो आधुनिक सन्दर्भ में प्रभावोत्पादक हो, मानसिक, मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक रूप से किसी प्रकार से भी छात्रों हेतु क्षयकारी न हो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए। और यहाँ गुरु का शिष्य के प्रति वही सम्बन्ध माना जाना चाहिए जो उस माँ व शिशु के मध्य होता है जहाँ वह अपने बालक के कल्याणार्थ चिकित्सक से उपचार करवाने में उसके रोदन के प्रति नितान्त उदासीन बनी रहती है। ऐसी व्यवस्था अत्यावश्यक है कि सम्पूर्ण समाज इस ओर विशेष रूप से प्रयत्नशील हो। साथ ही शिक्षक भी छात्र के कल्याण हेतु विशेष रूप से कटिबद्ध हो जायें।

अध्ययन की अवधि–

ज्ञानार्जन हेतु आश्रमों में निवास की अवधि सामान्य रूप से 12, 32 एवं 42[1]

---

1 Cultural History From the Matsya Purana by S.G. Katawal, I Edition. "There is a general unanimity among the Smriti writers," Remarks Dr. Altekar, That the Vedic Education should extend over a period of twelve years."

(गरुड़ पुराण– वर्ण धर्म कथन (2) प्रथम खण्ड।

वर्ष निर्धारित की गयी थी। तथापि ज्ञान तो अनन्त आकाश समुद्र आदि एवं अन्त से रहित है। अतः सीमा निर्धारण की विशेष उपादेयता तो नहीं थी। तथापि ज्ञानार्जन के अतिरिक्त जीवन के विविध कर्तव्यों के निर्वाह हेतु अवधि निश्चित की गयी थी। जिससे मनुष्य ज्ञानार्जन की मूलभित्ति पर सम्पूर्ण जीवन का भव्य प्रासाद निर्मित कर सके। उपरोक्त व्यवस्था के अतिरिक्त यदि मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन भी ज्ञानोपार्जन हेतु समर्पित करना चाहता था तो किसी भी प्रकार का निषेध नहीं था।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए भी व्यक्ति अपने ज्ञानार्जनमें संलग्न बना रह सकता था। वस्तुतः ज्ञानोपार्जन एक ऐसा उद्देश्य है जिसका कभी समापन नहीं हो सकता। मनुष्य अपने अनेकानेक जीवन व्यतीत कर दे पर ज्ञान ग्रहण करने की कोई सीमा नहीं है। उपरोक्त व्यवस्था तो सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभक्त करने तथा विविध कर्तव्यों के निर्वाह हेतु प्रारम्भ की थी, जो सर्वथा उपयोगिनी थी। प्रत्येक कार्य मनुष्य एक निश्चित अवधि के अन्दर सुविधापूर्वक सम्पन्न कर लेता था। अन्तिम अवस्था में वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रम का विधान था। ये दोनों आश्रम भी मनुष्य के लिए ज्ञानार्जन के माध्यम थे।

गृहस्थाश्रम में विद्योपार्जन में आयी कतिपय बाधाओं का आश्रमों में निवारण हो जाता था। इनमें मनुष्य अपने परिवार के प्रति समस्त उत्तरदायित्वों का भली-भाँति निर्वाह कर ईश्वरोन्मुख होता था। अतएव एकान्तवास करते हुए ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होने से ज्ञान में भी वृद्धि होती थी।

वस्तुतः उपर्युक्त व्यवस्था आधुनिक युग में भी निर्धारित तो की गयी

---

1. Agni Purana —— A Study by Dr. S.D. Gyani
"If he chooses, he should be a life long student and should remain with the preceptor till his death."
(Ibid. 153/12-16).

है तथापि आश्रमों की व्यवस्था अपने मूल रूप से नितान्त पृथक हो गयी है। उसका स्थान एक अव्यवस्था ने ले लिया है, जिसमें व्यक्ति किसी भी कार्य के प्रति पूर्णतः सचेत होकर एवं निश्चित अवधि के अन्दर अपने कर्तव्यों को पूर्ण नहीं करता। इसीलिये वह आजीवन पारिवारिक मोह से ग्रस्त बना रहता है। अनेकों कष्ट सहन करते हुए भी वह मोह से मुक्त नहीं हो पाता तथा जीवन के वास्तविक उद्देश्य ज्ञानार्जन एवं ईश्वर के प्रति एकाग्रता भाव को विस्मृत कर देता है। मनुष्य दीर्घायु भी नहीं रह गया है। अतएव परिस्थितियों एवं वातावरण को दृष्टिगत करते हुए यदि उक्त व्यवस्था में कतिपय आधारभूत परिवर्तन किये जायें तो यह व्यवस्था आधुनिक सन्दर्भ में बहुमूल्य सिद्ध होगी।

-पौराणिक-शिष्य का स्वरूप-

अध्ययन काल में गुरु के सम्पर्क में निरन्तर निवास करते हुए शिष्य को कतिपय आचारों का पालन करना अनिवार्य था। वे गुरुजनों के आश्रम में निवास करते हुए, कष्टप्रद परन्तु मंगलमय मार्ग का अनुसरण करते हुए, अध्ययन पूर्ण करते थे। उनका बाह्य-वेश अत्यन्त सरल एवं प्रभावोत्पादक होता था जो तत्कालीन परिवेश एवं विद्यार्थियों की सामर्थ्यानुसार था।[1]

वस्तुतः विद्यार्थी का उक्त स्वरूप दण्ड, मृगचर्म, उपवीत एवं मेखला से युक्त था जो सम्पूर्ण समाज में अपना पृथक अस्तित्व रखता था। विद्यार्थी की अपनी बाह्यवेशभूषा द्वारा तत्कालीन समाज में अपना परिचय प्रदान करता था। उपरिवर्णित वेशभूषा अत्यन्त उपयोगी भी थी।

---

1. गरुड़पुराण वर्ण धर्म कथन {2} "15"।

"दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।

द्विजेषु चारयेद् भैक्ष्यमनिन्द्ये वात्मवृत्तये।।"

यथार्थतः उस समय विद्यार्थी वर्ग गुरु सेवा एवं विद्याध्ययन के अतिरिक्त अवकाश ही कहाँ पाता था कि वह केश-विन्यास करता। उसके लिये जो निरन्तर केशधारण करना अथवा सर्वथा केशरहित रहना ही लाभप्रद था। सिर केशों से आच्छादित रहने पर प्रतिकूल परिस्थितियों में सुरक्षा बनी रहती थी तथा केश-रहित होने पर केश विन्यास से मुक्ति प्राप्त होती थी। दण्ड धारण करने से भी सर्वत्र सुरक्षा का भाव विद्यमान रहता था। साथ ही दण्ड के माध्यम से विद्यार्थी को जीवन की कठोरता एवं सरलता का भी आभास होता था।तीन समय स्नान की भी विशेष व्यवस्था थी।[1]

प्रातःकालीन नित्यकर्म के उपरान्त, जिससे सम्पूर्ण शारीरिक स्वच्छता, विद्याध्ययन में, गुरु सेवा में सम्पूर्ण समय, [मध्यान्ह पर्यन्त] पवित्रता एवं आलस्य रहित होकर व्यतीत हो। साथ ही वन में निवास करने से प्राकृतिक दोषों धूल, आँधी, मिट्टी आदि का निवारण होता था। मध्यान्ह कालीन स्नान अध्ययनोपरान्त, भिक्षार्जन एवं गुरुसेवा से उत्पन्न श्रम के निवारण हेतु किया जाता था। अन्तिम सायंकालीन स्नान जप, होम, यज्ञ आदि एवं स्वाध्याय हेतु किया जाता था। वस्तुतः तत्कालीन परिवेश में तीनों समय का स्नान समीचीन रहा होगा जो आधुनिक परिवेश एवं परिस्थितियों को देखते हुए असम्भव ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त बाह्य स्वरूप से समन्वित एवं सदाचार का पालन करते हुये शिष्य गुरु के आश्रम में निवास करता था। वह गुरु की सेवा-शुश्रुषा का कर्म अत्यन्त मनोयोग एवं आस्थायुक्त होकर करता था।[2] गुरु के समक्ष किया गया आचरण अत्यन्त

---

1. गरुड़ पुराण— "त्रिस्नाता स्नापिता भैक्ष्यं गुरो प्राणान्तिकी स्थितिः।

समेखले जटादण्डी मुण्डो वा गुरु संश्रयः।।"

2. गरुड़ पुराण- वर्ण धर्म कथन- 3,4,5

महत्वपूर्ण था। गुरुजन की सर्वतोभावेन सेवा करना, उनका सम्मान करना। उनके समक्ष आने पर किया गया आचरण, गुरु की आज्ञा का प्रत्येक अवसर पर पालन, उनके स्नान-ध्यान का प्रबन्ध तथा विद्याध्ययन के उपरान्त उचित दक्षिणा जैसे समस्त उपयोगी एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं का विस्तृत विवरण समुपलब्ध होता है।[2]

उपरोक्त विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त विद्यार्थी ज्ञानार्जन के समय अत्यन्त उपयोगी व सात्विक भोजन एवं मर्यादा का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करता था। भिक्षार्जन में प्राप्त भोजन सर्वप्रथम गुरु को प्रदान कर उनकी आज्ञा से स्वयं भोजन ग्रहण करते थे। भोजन आरम्भ करने के पूर्व आचमन कर तथा अन्न की ओर किसी भी प्रकार का निन्दित भाव अपने मन में लाये बिना भोजन ग्रहण करते थे।[3]

-गुरु के सान्निध्य में शिष्य द्वारा किया गया अध्ययन-

उपर्युक्त नानाविध उपायों से संतुष्ट हुये गुरुजन से समुपलब्ध ज्ञान विद्यार्थी जीवन के अतिरिक्त सम्पूर्ण जीवन में, समाज में एवं समस्त राष्ट्र में विशिष्ट महत्व

---

1. "अवगाहेद यः पूर्वमाचार्येणावगाहिताः।।
   सम्मिज्जलादिकं चास्य काल्यं कल्यमुपानयेद्।।"

2. विष्णु पुराण 3/9/2
   "शौचाचारं व्रते तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः।
   व्रतानि चरता ग्राह्यो वेदाश्च कृतबुद्धिना।।"

3. गरुड़ पुराण, वर्ण धर्म कथन (2) (19) का अर्धांश मधु
   मधुमांसं तथा स्त्र्यन्नमित्यादि परिवर्जयेद्।
   वही (18) सम्पूर्ण।

रखता है। वह अपने जीवन को विशिष्ट ज्ञान से प्रकाशित करता है।[1] ब्रह्मचर्य-अवस्था में मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन के लिए ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है जिससे जीवन में आगे का मार्ग यत्र-तत्र कष्टकों से विद्ध हो तो उसकी पृष्ठ-भूमि के माध्यम से स्वोद्देश्य के पथ को कष्टक-रहित निर्मित कर सके।

इसके अतिरिक्त गुरु के आश्रम में ज्ञानोपार्जन से यह विशेष लाभ होता है कि नानाविध व्यसनों में पड़कर पथभ्रष्ट होने पर भी मनुष्य गुरूपदिष्ट ज्ञान जल से उसी प्रकार सन्मार्ग पर प्रवृत्त होता है एवं उन व्यसनों से स्वयं को पृथक कर पाता है। जैसे किसी शुष्क शाखायुक्त वृक्ष को जल से सींचने पर वह शाखा हरीतिमा से पूर्ण हो जाता है।[2] डा0 कैलाशनाथ द्विवेदी की अवधारणा है।

इस प्रकार, गुरु के आश्रम में ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य इस संसार में सफलताओं के शीर्ष पर स्थित होता है। प्रथम दो आश्रमों के अतिरिक्त व अंतिम दो आश्रमों में भी पूर्णतः सफलतापूर्वक जीवन यापन करता है। वानप्रस्थ एवं सन्यास दोनों आश्रम भुक्ति से मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं। श्रीऐश्वर्यमय जीवन-यापन करते हुए आयु की अन्तिम दिशा की ओर अग्रसर होते हैं तो परिवार से क्रमशः मोह की स्थिति नष्ट करने हेतु एवं ईश्वरोन्मुख होने के लिये मनुष्य भक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होता है। उपर्युक्त दोनों आश्रमों में, योग साधनों में एवं

---

1. गुरु माहात्म्य शतकम्

"तमोमयो यथा लोको भास्करेणैव भासते।

तथा ज्ञानान्धघोरजीवः गुरुणा दृष्टिरिष्यते।।"

§16§

2. सलिलसेचनाद् शाखा शुष्कापि सरसायते।

तथा गुरूपदेशेन सद्बुद्धिस्तरलायते।। §19§

गुरु माहात्म्य शतकम्- डा0कैलाशनाथ द्विवेदी प्रथम संस्करण 1981 §कानपुर§

भक्ति पथ पर अग्रसित होता है। इसी के माध्यम से वह समस्त सांसारिक . से क्षण-मात्र में मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त लाभप्रद योजना सार्थक तभी होती है जब उचित गुरु का निर्देशन प्राप्त हुआ हो। यदि जीवन के कतिपय क्षणों में भी गुरु से उपदिष्ट ज्ञान का सेवन किया होगा तो उस ज्ञान के स्वल्पांश से भी मनुष्य अवश्य लाभान्वित होता है।[1] ब्रह्म से साक्षात्कार करने में भी मायारूपिणी बाधा को निरस्त करने हेतु गुरुमलब्ध ज्ञान ही अनिवार्य है।[2] बिना गुरु का आश्रय प्राप्त किये किसी भी क्षेत्र में किसी भी माध्यम से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं।

गुरु से अर्जित विद्या ही प्रत्यक्ष है, जिसको गुरु अत्यन्त सरल शब्दों में तथा सरल-प्रक्रिया से समझा सकता है क्योंकि उसने स्वयं इस ज्ञान की प्रक्रिया को अपने गुरु से ही समझा है उस पर भाँति-भाँति के प्रयोग किये हैं। अतः परिचय-प्राप्त प्रक्रिया से वह जटिलतम विषय-वस्तु का भी अत्यन्त सहज रूप से शिष्य को परिचय प्रदान करता है।[3] पुस्तकों वेद पुराणेतिहास एवं शास्त्रों का सुष्ठु परिचय मनुष्य स्वविवेक द्वारा इतना स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं कर सकता जितना गुरु के माध्यम से। इसके अतिरिक्त पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान अस्पष्ट, क्षणिक एवं अव्यावहारिक होता है। अतः गुरु के निरन्तर संपर्क में रहते हुए अर्जित ज्ञान ही प्रतिक्षण हमारे लिये अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

---

1. गुरु माहात्म्य शतक-

"यथेन्धने स्फुलिंगिन ज्वालाराशिः प्रजायते।
तथैव गुरुवाक्येन ज्ञानराशिः प्रभूयते।।"" {23}

2. मनुस्मृति-- "गुरु शुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।"

3. नारद पुराण- 50/226

"पुस्तकात्यान्मयाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
राजते न सभामध्ये जारगर्भेव कामिनी।।"

निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि नवीनतम अनुसंधान-पूर्ण ग्रन्थों की रचना की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है, जिसका आधुनिक युग में विस्तृत दर्शन समुपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से वैदिक युगीन शिक्षा का पौराणिक शिक्षा जगत के अन्तर्गत विविध तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन समुपलब्ध होता है जिसके आधार पर विविध निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है। गुरुजनों के निवास स्थान पर जाकर परिश्रमपूर्वक ज्ञानोपार्जन में विशेष संतुष्टि एवं आत्मविश्वास का अपूर्व संयोग उपलब्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य के नैतिक चरित्र-निर्माण का श्रेय इसी ब्रह्मचर्याश्रम को प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त पारिवारिक वातावरण से नितान्त असम्पृक्त होकर विद्यार्थी जन भविष्य-निर्माण हेतु प्रयास करते थे। गुरुकुल का अनुशासित जीवन उन्हें जीवन-पर्यन्त व्यवस्था का उचित महत्त्व स्पष्ट कर देता था। इसके अतिरिक्त जीविकोपार्जन हेतु भी मनुष्य को अनेकानेक उपायों का ज्ञान करा दिया जाता था। आधुनिक सन्दर्भ में मनुष्य उपर्युक्त सभी लाभों से वंचित हो रहा है। प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक वर्ग का मनुष्य स्वकर्तव्यों के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण प्रदर्शित कर रहा है, जिससे सम्पूर्ण शिक्षाजगत विविध विषमताओं से परिपूर्ण है। इसका निराकरण कतिपय प्राचीन व्यवस्था एवं कतिपय आधुनिक सुव्यवस्थाओं के सम्मिश्रण से आदर्श समन्वित रूप में किया जा सकता है।

मनुष्य के जीवन की प्रारम्भिक स्थिति यदि सुदृढ़ एवं सर्वविध लाभकारिणी बना ली जाये तो निश्चित रूप से सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का बनेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र भी अनेकानेक विषम परिस्थितियों से विमुक्त होकर विश्व में अपनी पुरातन-संस्कृति को गौरवास्पद बना सकता है।

द्वितीय अध्याय

स्मृतियों के अनुसार पुराणों में प्रतिपादित शिक्षक का स्वरूप

-द्वितीय अध्याय-

स्मृतियों के अनुसार पुराणों में प्रतिपादित शिक्षक का स्वरूप:-

बाल्यावस्था में शारीरिक और बौद्धिक विकास की क्षमता अत्यधिक रहती है। इस समय साधारण आहार से ही शरीर का उतना उपचय होता है, जितना बाद में असाधारण आहार से भी सम्भव नहीं। ठीक इसी भाँति ज्ञान की उपलब्धि इस अवस्था में जितनी हो सकती है, उतनी दूसरे समय शक्य नहीं है। इसीलिए बाल्यावस्था ही शिक्षा का समुचित समय माना गया है। यद्यपि जीवन के अनिवार्य व्यवहारों की शिक्षा जगत् के दैनन्दिन प्रयोगों से भी मिल जाती है, किन्तु आहार-विहार के सामान्य धरातल से ऊपर उठने के लिये शास्त्रीय-क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु शास्त्रीय क्षेत्र के प्रवेश द्वार पर "आचार्य" अन्तःप्रवेश के इच्छुकों को अपने संनिधान में रखकर आचार और विचार की वह पूँजी देता है, जिससे दुर्गम शास्त्र में प्रविष्ट होने तथा उसमें सुखपूर्वक विचरण करने की सुविधाएँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। बिना आचार्य के उपदेश के कोई भी इस शास्त्र-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं हो सकता। गुरु-परम्परा से प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती होती है। गुरु के अन्दर रहने वाली गोप्यतम विद्या भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शुश्रूषा करने वाले छात्र में उपसंक्रान्त हो जाती है। इसलिये गुरु के सम्बंध में सामान्य ज्ञान कर लेना आवश्यक हो जाता है। मनु ने गुरुओं के तीन भेद किये हैं---

आचार्य, उपाध्याय और गुरु।

इन तीनों का स्वरूप भी उन्हीं के शब्दों से समझ लेना चाहिये।---

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।

[मनु0 2/140]

अर्थात् "जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कर यज्ञ, विद्या एवं उपनिषद् के सहित वेद पढ़ावें, उन्हें "आचार्य" कहा जाता है।"

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगन्यपि वा पुनः।

योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।।

{मनु0 2/141}

अर्थात् "जीविका के लिए जो वेद के एकदेश या वेदांगो को पढ़ाता है, वह "उपाध्याय" कहलाता है।"

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।

सम्भावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते।।

{मनु0 2/142}

अर्थात "जो विप्र निषेक आदि कर्मों को विधिपूर्वक करता है और दूसरे उपायों से भी सम्माननीय बनाता है, वह "गुरु" कहलाता है। शिक्षक के इन तीन भेदों में शिष्य को पूर्ण विद्वान बनाने की प्रवृत्ति है। केवल इतनी ही बात शिक्षक में आवश्यक नहीं है कि वह शिष्यों को जिस किसी भाँति शास्त्रीय-ज्ञान से परिचित या संयुक्त कर दे, अपितु उन उदात्त वृत्तियों को जीवन के साँचे में ढालने की श्रद्धा भी उनमें पैदा कर दे, जिससे ज्ञान और क्रिया का संयोग हो जाये। क्रिया के बिना ज्ञान तो भार हो जाता है। इसीलिये आचार्य को शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठाता होना चाहिये, क्योंकि आचरण से ही शिष्यों में धर्मानुष्ठान की भावना स्थित की जा सकती है। उत्तम आचार और विचार की शिक्षा पाने पर ही चरित्र-बल और बौद्धिक-प्रकर्ष आ सकता है।

पुराणों के अनुसार गुरु का स्वरूप-निरूपण-

तिमिराच्छादित भवन-मण्डल को भेदकर निकलने वाले प्रकाश-पुंज

भगवान भास्कर के सदृश गुरु भी शिष्य के अज्ञानान्धकार को भेदकर ज्ञानरूपी प्रकाश से पूर्ण कर देता है। गुरु स्वयं उच्च स्तर पर आसीन होता है। वस्तुतः गुरुकुल स्थान ईश्वर के समक्ष है।[1] वह शिष्य की सर्वतोभावेन कल्याणेच्छुक[2] होता है। शिष्य द्वारा किये अपराधों को शान्त-भाव से क्षमा करते हुये यत्र-तत्र प्रताड़ित करते हुए भी वह उस चिकित्सक के समान अपना कर्तव्य निर्धारण करता है, जो रोग का पूर्ण शमन करने का इच्छुक हो। अतएव, गुरु का स्थान पुराणों में सत्यशिव एवं सौंदर्य का प्रतीक है।

इस प्रकार, सर्वप्रथम परिवार में जन्म ग्रहण कर बालक अपने परिवार के आत्मीय जनों से ही शिक्षा ग्रहण करता है। गुरुकुल में प्रवेश करने से पूर्व की अवधि तक सभी सदस्य बालक को विविध प्रकार से शिक्षित करते हैं। यह शिक्षा व्यावहारिक तथा प्रारंभिक होती है। अतएव, परिवार में माता-पिता, बड़े भाई अथवा अभिभावक के रूप में अन्य सदस्य उस बाल के गुरु होते हैं।[3]

परिवार से प्रारम्भिक ज्ञान उपलब्ध कर बालक आचार्य के आश्रम में अध्ययन हेतु प्रविष्ट होता है। वास्तविक गुरु तो यहीं दृष्टिगोचर होते हैं,

---

1. पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
   न त्वत्समो स्त्यभ्यधिक, कुतोऽन्यो, लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव:।।"
   (श्रीमद्भागवद्गीता)

2. पद्मपुराण 6/36/65
   "अहितं यो नाशयति स्वहितं दर्शयेद् सदा।
   स गुरु स च विज्ञेयः सर्वधर्मार्थ कोविदः।।"

3. कूर्म पुराण (12/32-3), पद्म पुराण- 3/51/36.

जो सर्वविध-शिष्य के मंगल हेतु प्रयासरत रहते हैं तथा परिवार में अनावश्यक प्रेम प्रदर्शन की प्रवृत्ति से दूर रहते हुए छात्र को अध्ययन हेतु नियम निर्देश करते हैं। गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाला छात्र गुरुकुल के प्रतिष्ठापक द्वारा उपनीत किया जाता है। यह उपनयन संस्कार शाब्दिक-व्युत्पत्ति से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसका तात्पर्य है ["उप" उपसर्ग-पूर्वक "नी" धातु से निर्मित] गुरु के समीप अध्ययन हेतु आना। यह कार्य स्वयं गुरु करता है। अतएव, विद्या प्रारम्भ करने हेतु उपनयन संस्कार करने वाले को "गुरु" इस संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1]

उपनयन-संस्कार के उपरान्त गुरु-शिष्य को सदाचार के श्रेष्ठ पथ पर अग्रसर होने के निर्देश देते हुये सर्वविध शिक्षा प्रदान करता है।[2] यह शिक्षा मानसिक शारीरिक, भौतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक जैसे विविध दृष्टिकोणों से परिपूर्ण होती है। अतएव किसी एक विषय या विविध विषयों का ज्ञान प्रदान करने की स्थिति में गुरु ही उत्तरदायी होता है।[3]

---

1. मनुस्मृति 2/140, तुलनीयस्कन्द0 4/36/53, भविष्यपुराण - 1/4/74

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।"

2. गरुड़ पुराण- वर्णाश्रम धर्म कथन [2]

"उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृत्ति पूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं सदाचारांश्च शिक्षयेत्।।"

3. मनु0 2x14, भविष्य0 1/4/75, स्कन्द0 4/36/54.

इसी प्रकार, पुराणों में गुरु के क्रोधरहित, क्षमा की प्रतिमूर्ति, प्रसन्नता से युक्त एवं सर्वविध शिष्य के उपकार हेतु प्रयासरत जैसे विविध स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं।[1] वस्तुतः उपर्युक्त सद्गुणों से समन्वित गुरु ही अपने शिष्यों को xxxxx हेतु को यथेष्ट मार्ग पर अग्रसित होने को प्रेरित कर सकते हैं, क्योंकि शिक्षक द्वारा स्वयं किया गया आचरण शिष्य को पूर्णतः प्रभावित करता है।

उपरिवर्णित पौराणिक गुरु के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से तत्कालीन गुरुजनों के विविध आयामों पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः गुरु-शिष्य के मध्य सम्बन्ध दीर्घकाल तक, चिरस्थायी प्रभावोत्पादक होता था। जीवन का एक चौथाई भाग शिष्य-गुरु के सम्पर्क में व्यतीत करता था। इस अवधि में गुरु के प्रत्येक आचरण का वह दर्शक होता था। ऐसी परिस्थिति में पूर्णरूपेण गुरु के आचरणों से प्रभावित होकर स्वजीवन के उद्देश्य की पूर्ति में निरन्तर संलग्न रहता था। अतएव, गुरु के विविध गुणों का अनुकरण करते हुये वह आदर्श नागरिक बनता था। एक आदर्श नागरिक के माध्यम से वह राष्ट्र के सर्वांगीण-विकास में सर्वतोभावेन सहायक होता था।

आधुनिक सन्दर्भ में भी गुरु के उपरोक्त स्वरूप की महती आवश्यकता है। यत्र-तत्र कतिपय दुर्बल स्थितियों को छोड़कर यदि गुरुजन प्राचीन-परम्परा का निर्वाह करने का प्रयास करें, सम्पूर्ण न सही एक अंश ही धारण करें, तो विश्व में कोई शक्ति नहीं, जो हमें अपने सर्वांगीण-विकास हेतु बाधित कर सके। इन्हीं गुरुजनों के आचरण का शिष्य अनुकरण करेंगे। ये ही शिष्य संयुक्त रूप से प्राचीन भारत का गौरवशाली रूप पुनः वापस लाने में समर्थ होंगे। ऐसे भव्य-राष्ट्र के निर्माण में आधार-भित्ति के रूप में स्वयं गौरवशाली गुरु ही विद्यमान होंगे।

---

1. स्कन्दपुराण 2/5/16/24.

"समवेताः प्रसन्नात्मा विमन्युश्च सुहृन्नमाः।

साधुर्महान् समोलोके स गुरुः परिकीर्तितः।।

-गुरु का माहात्म्य-

हमारी भारतीय संस्कृति अनेकानेक बहुमूल्य तत्वों से समन्वित होकर हमें निखिल विश्व के समक्ष मस्तक उन्नत बनाये रखने में सहयोगिनी रही है। विविध श्रेष्ठ सद्‌गुणों से समन्वित हमारी प्राचीन परम्परायें हमारे गौरवपूर्ण अतीत को अक्षुण्ण बनाये रखने में पग-पग पर संलग्न रही हैं। इन श्रेष्ठतम गुणों का आविर्भाव हमारी संस्कृति में हमारे गुरुजनों ने ही किया है।

वस्तुतः अभूतपूर्व कल्याणकारिणी भारतीय संस्कृति में जो गौरवास्पद तत्व है, उनका आरोपण तो हमारे प्राचीनकालिक विद्वान गुरुजनों ने ही किया है। क्षमा, परोपकार, पराक्रम, धैर्य, ब्रह्मचर्य,[1] सत्य, त्याग, आत्मोत्सर्ग एवं विश्व-बन्धुत्व;[2] अनुभव आयु एवं सर्वतोभावेन विद्वता से पूर्ण, गुरुजनों के प्रति अद्‌भुत सम्मान भाव का प्रदर्शन जैसी दिव्य-प्रवृत्तियों से परिपूर्ण भारतीय-संस्कृति सम्पूर्ण-जगत के समक्ष एक अतुलनीय उदाहरण प्रस्तुत करती है। जिसका दर्शन एवं अनुकरण कर अनेकानेक संस्कृतियों के माध्यम से भारतीयजनों का स्थान विश्व में शीर्ष पर विद्यमान रहा है।

मानव-जीवन को सार्थक बनाने में गुरु का स्थान अत्यन्त प्रारम्भिक-काल से ही महत्वपूर्ण रहा है। प्रतिक्षण गुरु के निर्देशन में मनुष्य का जीवन प्रारम्भ होता था तथा आधारभित्ति के निर्माणोपरान्त सम्पूर्ण जीवन गुरु द्वारा प्रदत्त अद्‌भुत एवं अतुलोपम उपदेशों की छत्र-छाया में व्यतीत होता था। जीवन में मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत होने वाली विविध कठिनाइयों का हल गुरु के परामर्श से ही होता था।

---

1. वही (18)

"ब्रह्मचर्या स्थितो नैकमन्नमप्यादनापादि----।।"

2. "अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।"

सर्वप्रथम प्रारम्भिक अवस्था में [उपनयन के पूर्व] जननी प्रमुख रूपेण एवं अन्य पारिवारिक सदस्य भी बालक में संस्कारों का बीज आरोपित करते और प्राथमिक देखभाल भी करते थे। वस्तुतः जननी के निरन्तर सम्पर्क में रहने से बालक पर उसी का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता था। उसके प्रत्येक गुणावगुणों का बालक के कोमल चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ता था, जो मूलरूप में सदैव के लिये अंकित हो जाता था। अन्य आत्मीय जनों के आचरण भी बालक को प्रभावित करते थे। यह बालक के जीवन-निर्माण का प्रारम्भिक-काल होता था, जिसमें आरोपित संस्कार जीवन-पर्यन्त उसकी गतिविधियों को प्रभावित करते रहते थे।

तदुपरान्त बालक ज्ञानार्जन हेतु पारिवारिक-सदस्यों को त्यागकर गुरु के समीप अध्ययन हेतु जाता था। जहाँ गुरु उसको उपनीत कर वेदपुराणेतिहास के अध्ययन[2] के लिये तैयार करता था। एवं आवश्यक आचरणों का निर्देश भी देता था, जो मनुष्य के भावी जीवन का अत्यन्त-महत्वपूर्ण चरण होता है। सम्पूर्ण जीवन का एक भाग तो इस प्रकार गुरु के निर्देशन में ही व्यतीत होता था। आत्मीयजनों से उपलब्ध संस्कारों का परिमार्जन भी गुरु के द्वारा होता था। नैतिक, शारीरिक, भौतिक एवं अन्य समस्त विद्याओं की प्राप्ति मनुष्य को एक प्रकार से गुरु से ही हो जाती है। यही समस्त गुणावगुणों का उसके चित्त पर अटल प्रभाव पड़ता है। यावज्जीवन ये संस्कार तथा आचरण मानव-जीवन को निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करते रहते हैं।

मनुष्य-जीवन का व्यक्तिगत निर्माण करने के साथ सम्पूर्ण-समाज में समय-समय

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण [3/4/7]

"गुरुर्वृष्णुश्च ब्रह्मा गुरुर्माता पिता सुहृद।

गुरुरेव परब्रह्मनास्ति पूज्यो गुरोः परः।।"

वही "21" का अर्धांश

"एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी।"

2. ब्रह्मवैवर्तपुराण [3/4/19]—"स तु क गुर्व्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।"

पर नानाविध दुर्लभ परिस्थितियों का सामना करने के लिए गुरु का परामर्श अत्यावश्यक समझा गया। पुराणों में गुरु के वैशिष्ट्य का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरु का स्वरूप परब्रह्म के समकक्ष मानागया है, क्योंकि ईश्वर के तीनों रूप जगत के उत्पादक,पालक एवं संहारक (बाह्य रूप से आभ्यान्तर में मंगल की भावना से युक्त) माने गये हैं। इसी प्रकार, गुरु की त्रिमूर्ति रूप में वन्दना की गयी है।[1]

इसके अतिरिक्त आद्यान्त भारतीय जन प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की कल्पना कर लेता है। यहाँ तक कि पत्थर को भी ईश्वर का स्वरूप प्रदान करता है तब प्रकृति के अन्य उपादानों वायु, जल, पावक, मेघ, नदियाँ[2], वृक्ष तथा जीवों में हाथी, गाय, मूषक, प्रभृति में ईश्वर की कल्पना सहज ही प्रतीत होती है। जो कतिपय उदाहरणों में सार्थक भी सिद्ध होती है।

यथा गाय के रोमों में करोड़ों देवों का निवास एवं उसको मातृ-स्वरूप प्रदान करने में यह तथ्य भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। गाय सरलता एवं त्याग की साक्षात मूर्ति होती है। साथ ही जल, अग्नि, वायु आदि की देवरूप में मान्यता सत्य ही सिद्ध होती है। एक निश्चित सीमा के अन्दर सावधानीपूर्वक किया गया इसका प्रयोग लाभप्रद ही होता है, अन्यथादुर्पयोग हानिप्रद परिणाम की ही अधिक सम्भावना होती है। हाथी बुद्धिमत्ता का प्रतीक होने के कारण गणेश जी के रूप में वन्दनीय है।

1-2 ब्रह्मवैवर्त (1/26/15)

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः

गुरु प्रकृतिरीशाद्या गुरुश्चन्द्रो नापरः।।"

2. वही 3/4/7

"गुरुर्वायुश्च वस्त्रो गुरुर्माता पिता सुहृद,

गुरुरेव परब्रह्म नास्ति पुज्यो गुरुः परः।।"

गुरु अथवा आचार्य का स्वरूप व लक्षण-

प्रकृति के साहचर्य में निवास करते हुए तथा क्रौंचद्वय में से एक के कारुणिक-निधन से अत्यन्त व्यथित होकर काव्य-सृजन प्रारम्भ करने वाले महर्षि वाल्मीकि विरचित रामायण में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रदर्शित किया है।

मनुष्य को वस्तुतः अपने जीवन के विकास के लिये प्रेरणा एवं ज्ञान की प्राप्ति तो आचार्य से ही होती है। वही गुरु उसे अज्ञानरूपी तम के मार्ग से हटाकर उज्ज्वल भविष्य से आलोकित मार्ग की ओर अग्रसित करता है।[1] अतएव गुरु का माहात्म्य तो स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। सामान्य प्राणियों की भाँति पिता तो सन्तान को जन्म देने का ही अधिकारी होता है। सर्वथा पक्षपात रहित एवं नितान्त कल्याणभाव से प्रेरित होकर उस सन्तान का जीवन-निर्माण तो गुरु ही करता है।[2] वैसे दायित्व तो माता-पिता का भी होता है तथा वे इसको पूर्ण करने का भरसक प्रयास भी करते हैं, परन्तु इसमें उन्हें उतनी सफलता नहीं प्राप्त होती, जितना गुरु व्यक्ति के जीवन-निर्माण में सफल होता है। इसमें भी कतिपय विशिष्ट कारण निहित होते हैं।

गुरु के अन्तर्मन में शिष्य के प्रति असीम स्नेह होते हुये भी उस स्नेह के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। वह उसके प्रति नारियल के फल के समान चित्त रखता है, जो ऊपर से देखने में तो अत्यन्त कठोर व रूक्ष होता है, परन्तु उसके अन्दर मधुर एवं अत्यन्त सुस्वादु अमृत रस निहित रहता है।

---

1. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण माहात्म्य।

(बालकाण्ड से किष्किन्धा काण्ड पर्यन्त) सं. 2017 प्रथम संस्करण गीताप्रेस गोरखपुर।

"एकादशाधिक शततम् सर्गः पृष्ठ 472,(3)"

"पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।

प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते।।

2. वा0रा0अयो0111/अयो0,(2), पृष्ठ 472

उसी प्रकार, गुरु का स्थान ईश्वर के समकक्ष माना गया है, क्योंकि गुरु का मनुष्य के जीवन में विशिष्ट महत्व था। उसकी प्रत्येक उचितानुचित आज्ञा का पालन अत्यन्त प्रारम्भिक-काल में होता रहा था। वस्तुतः मनुष्य का सदैव कल्याणेच्छुक एवं निरन्तर उज्ज्वलमय भविष्य निर्माण की चिन्ता में संलग्न गुरु को ईश्वर का स्वरूप प्रदान किया गया तो इसमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी।

गुरु का यह स्वरूप तो आदिकाल से चला आ रहा है। त्रिमूर्तिदेवों के रूप में उन्हीं में से द्वितीय मूर्ति [गुरुर्विष्णुः] की प्रतिष्ठा मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के दिव्य स्वरूप में की गयी है। सम्पूर्ण जगत में प्राणि-मात्र के दिव्य स्वरूप में की गयी है। सम्पूर्ण-जगत में प्राणि-मात्र के कल्याण एवं पालन-पोषण हेतु निरन्तर प्रयासरत रहने वाले देव को जगद्गुरु का स्वरूप प्रदान किया गया है।[1]

उपरिवर्णित गुरु के लक्षणों के अतिरिक्त उसके [बाह्य एवं आंतरिक] स्वरूप पर भी दृष्टिपात करना अनुचित न होगा। वाल्मीकि-रामायण में वर्णित सभी गुरुजन सर्वजगद्गुरु विष्णु, भरद्वाज स्वयं रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि, गुरु विश्वामित्र, तेजस्वी मुनि कपिल, योगर्षि वशिष्ठ, महर्षि जाबालि अपना विशिष्ट माहात्म्य रखते हैं। कतिपय मानवीय दुर्बलताओं को छोड़कर ये विशिष्ट गुणों के आधार थे, जिनके आधार पर गुरु का माहात्म्य आधुनिक युग में भी स्वीकार किया जाता है।

ज्ञान प्रदान करने वाले व्यक्ति में विविध सद्गुणों यथा तेज, बल, पराक्रम तथा परम-विद्वता का अपूर्व भण्डार होता था। जिससे गुरु-शिष्य को स्वयं अर्जित ज्ञान भली-भाँति प्रदान कर एक स्वस्थ गुरु-शिष्य की परम्परा का निर्वाह करता

---

1. वा० रामा० युद्ध० एकत्रिंशाधिक शततमः सर्गः पृष्ठ 472 [15]
"यथा तुष्यति देवेशो जगद्गुरुः।"

था और इस प्रकार समाज के लिए भी सुयोग्य नागरिकों का निर्माण होता था। गुरु को जितेन्द्रिय एवं तेजस्वी होना अत्यावश्यक था।[1] क्योंकि इन गुणों के अभाव में शिष्य में इन गुणों का समावेश कैसे होगा।

इसी प्रकार गुरु का पराक्रमी होना भी अत्यावश्यक था।[2] वनों में निर्मित आश्रमों में निवास करते हुए भली-भाँति दुस्सह-परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। अगणित छद्मवेशधारियों का सामना तो साहस, पराक्रम एवं तेजस्विता से ही हो सकता था। इसके अतिरिक्त शिष्य भी गुरु के इन्हीं गुणों से अभिभूत होकर अपूर्व श्रद्धा से परिपूर्ण होता था तथा विद्याध्ययन के प्रति उसके अन्दर तीव्र जिज्ञासा एवं रुचि उत्पन्न होती थी, जिससे वह अपने भविष्य-निर्माण के उद्देश्य में भी पूर्णतया सफल होता था।

गुरु में सन्निहित इन्हीं गुणों के कारण वह समाज में अपना विशिष्ट स्थान प्रतिपादित कर सकता था। महर्षि वशिष्ठ अतुलनीय पराक्रम एवं तेजस्विता के ही कारण साम्राज्ञी कैकयी की भी उसकी निष्ठुरता पर भर्त्सना कर सके थे।[3]

---

1. वा०रा०भा० बाल० 18/43 अर्थात् पृ०70

"स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।"

2. वही एकविंशः सर्गः {21/21} पृष्ठ-76

"तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः।

तव पुत्र हितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते।।"

वही-एकनवतितमः सर्गः {22},{16} पृष्ठ-420,421

3. वा०रा०भा०अयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः {22} पृष्ठ-292

"अति प्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि। कुलपांसनि। वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि।"

इसी प्रकार महातपस्वी कपिल में समाविष्ट अपूर्व तेज का ही परिणाम था कि सगरपुत्रों द्वारा अवमानना करने पर उन्हें भस्मीभूत कर यथोचित दण्ड दिया था।[3] उपर्युक्त गुणों के अभाव में यह साहसपूर्ण निर्णय लेने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

-आदर्श गुरु के लक्षण-

"गुरु" शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है--

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः।

उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः।।

(तन्त्रसार)

अर्थात् "ग" अक्षर सिद्धिदायक कहा गया है और "र" पाप का हरण करने वाला है "उ" अव्यक्त विष्णु है। इस प्रकार उन तीन अक्षरों से बना यह शब्द परम-गुरु का वाचक है। "गु शब्दे। गृणाति उपदिशति धर्मं ज्ञानं भक्तिं च इति। अर्थात् धर्म, ज्ञान और भक्ति का उपदेश करने के कारण वह "गुरु" कहलाता है। तत्वज्ञान, वेदादि शास्त्रों और आत्मज्ञान के साधनों का उपदेश करने के उसे "गुरु" कहते हैं। "गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः। गीर्यते स्तूयते महत्वात् इति वा।"--

देवों, गन्धर्वों और मनुष्य आदि से स्तुति किये जाने के कारण वह "गुरु" कहलाता है। महिमा और माहात्म्य के कारण उसकी स्तुति की जाती है, इस लिये उसे "गुरु" कहते हैं। "गु सेचने। गरति सिंचति ज्ञानवारिणा शिष्यहृदयक्षेत्रम्।" वह ज्ञान-वारि से शिष्य के हृदय-क्षेत्र को सींचता है, इसलिये "गुरु" शब्द से कहा

---

3. वही 40/30 पृष्ठ-111-

"तपस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना।

भस्मराशीकृताः सर्वेकाकुत्स्थ सगरात्मजाः।।"

जाता है। "गृ विज्ञाने। गारयते बोधयति वेदशास्त्रादीनि आत्मतत्त्वादिकं वा इति।" वह वेदादि शास्त्रों का तथा आत्मतत्व आदि का ज्ञान कराता है, इसलिए गुरु शब्द से वाच्य है। "गृ निगरणे। गुरते सत्पथे प्रवर्तयति शिष्यम् इति।" शिष्य को सत्पथ पर प्रवृत्त एवं परिचालित करता है, अतः वह "गुरु" कहा जाता है।

गुशब्दस्त्वन्धकारे स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधके

अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

{गुरुगीता 19}

"गु" शब्द का अर्थ है, "अन्धकार" और "रु" शब्द का अर्थ है उसका निरोध या विनाश करने वाला। इस प्रकार अन्धकार का निरोधक होने से वह "गुरु" पद से वाच्य है।

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं

सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।

अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो

भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित्।।

"सच्चा गुरु हमारे मिथ्याबोध को नष्ट कर देता है, और हमें शास्त्रों के सच्चे अर्थ का बोध करा देता है, सुगति और कुगति के मार्गों तथा पुण्य और पाप का भेद प्रकट कर देता है, कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद समझा देता है। उसके बिना और कोई भी हमें संसार-सागर से पार नहीं कर सकता।"

अवद्ययुक्ते पथि यः प्रवर्तते

प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।

स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः

स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम्।।

"यदि व्यक्ति अपना हित चाहता है तो उसे ऐसे गुरु का वरण करना

चाहिये कि जो स्वयं पापरहित मार्ग पर चलता है और निष्काम-भाव से दूसरों को भी उसी पथ पर चलाता है, स्वयं तर चुका है और दूसरों को तारने में समर्थ है।"

अन्तःस्थसच्चिदानन्दसाक्षात्कारं कुलायेत्।

यो सावेव गुरुः प्रोक्तः परो नामधरः स्मृतः।।

"सच्चा गुरु वही है जो हमें हमारे अन्दर स्थित सच्चिदानन्द का साक्षात्कार सम्यक्तया करा दे। अन्य सब तो नामधारी गुरु ही हैं।"

दुर्लभः सद्गुरुर्देवः शिष्यसंतापहारकः।

"शिष्य के संताप को हरने वाला सद्गुरुदेव अत्यन्त दुर्लभ है।"

मन्त्रदाता गुरुः प्रोक्तो मन्त्रस्तु परमो गुरुः।

"मन्त्रदाता को ही गुरु कहा गया है। वस्तुतः मन्त्र ही परम गुरु है।

-गुरु का स्थान सर्वोपरि-

ज्ञान का प्रसार करने के कारण गुरु का स्थान समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। देश के नागरिकों एवं भावी कर्णधारों को राष्ट्रोन्नति हेतु निर्मित करने में गुरु का विशिष्ट सहयोग होता है। बालक सज्ञान होते ही गुरु के निर्देशन में अपने भावी जीवन के निर्माण के सम्बन्ध में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार विविध कण्टकाकीर्ण मार्गों से विरत करते हुए गुरु अपने शिष्य को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में अपूर्व सहयोग करता है।

गुरु के अमृतोपम उपदेशों से शिष्य अपने कानों को सार्थक करता है।[1]

---

1. महाभारत-सम्भव पर्व, षट् सप्ततितोऽध्याये-63,64 पृ0 (235-240)

"यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद् विद्यामविद्यस्य यथा ममायम्।

तं मन्ये हं पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येद् कृतमस्य जानन्।।"

× × × × ×

"ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः।

ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्य प्रतिष्ठाः।।"

क्योंकि सभी प्रकार की विद्यायें प्रदान करते हुये गुरु के मन में यही कामना रहती है कि उसका शिष्य समाज में विशिष्ट स्थान स्थापित कर सके, जिससे शिष्य की यश-कीर्ति के साथ गुरु का स्वरूप भी सामान्यजन के समक्ष स्पष्ट हो जाता है। ऐसे गुरु को माता-पिता मानकर उनसे किसी भी प्रकार से द्रोह न करने का विधान उपलब्ध होता है।

यथार्थतः माता, पिता, गुरु अथवा बड़े भाई जिससे ज्ञान प्राप्त किया जाये उसके प्रति सम्पूर्ण आस्थावान बनना चाहिये। किसीभी प्रकार उसके समक्ष हठधारण न करे। अपने पक्ष को प्रस्तुत करके परन्तु किसी भी प्रकार दुराचरण कर गुरु के प्रति अपमान का भाजन न बने क्योंकि वह सब प्रकार का अज्ञान एवं पाप-कर्म दूर कर ज्ञान का मधुर रसास्वादन कराता है।

इस प्रकार गुरु का स्थान समाज में प्रारम्भ से अन्त तक अर्चनीय एवं सम्माननीय रहा है। उसके द्वारा हमें अपूर्व एवं अक्षय ज्ञान भण्डार की उपलब्धि होती है। इस सत्पथ की ओर अग्रसर होते हुए अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करते है। अतएव गुरु की स्थिति समाज में विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है। तत्कालीन परिस्थितियों में अपने सत्कार्यों एवं सद्गुणों के कारण जैसा प्रशंसनीय स्थान निर्मित किया था, आधुनिक युग में अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन होकर वह अपने गौरवपूर्ण स्थान से निरन्तर अवनति के मार्ग अग्रसर हो रहा है और इस प्रकार उसने स्वयं अपने पाँवों पर कुठाराघात कर लिया है।

मानव जन्म धारण करने के कारण उसमें कतिपय मानव दुर्बलताओं का समावेश भी हो जाये तो कुछ असम्भव नहीं। इस प्रकार कतिपय स्वभावगत दोषों की ओर दृष्टिपात भी न करने का निर्देश समुपलब्ध होता है।[1] यह तथ्य युक्ति-संगत भी है, क्योंकि जिससे ज्ञान ग्रहण करना है उसकी स्वभावगत व दुर्बलता पर विशेष दृष्टिपात न किया जाये तभी ज्ञान प्राप्ति सम्भव है। क्योंकि इससे हमारी

[1] महाभारत-दानधर्म पर्व- पंचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः। [पृ0-5986]

"...यामपवादं च गुरूणां परिवर्जयेत्। तेषां प्रियहितान्वेषीभूत्वा परिचरेत् सदा।।"

ज्ञान प्राप्ति के प्रति तीव्र जिज्ञासा में व्यवधान समुत्पन्न होगा तथा हम अपने अभीष्ट लक्ष्य को विस्मृत कर गुरु के कतिपय दोषों की आलोचना प्रत्यालोचना में ही संलग्न बने रहेंगे। भय के कारण प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं तथापि अप्रत्यक्ष रूप से यह कार्य होता ही रहेगा।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त एक विशेष रूप से उल्लेखनीय विषय यह है कि गुरु के स्वभावगत दोषों से नितान्त पृथक भी बने रहना असम्भव ही है। जिन गुरु के निरन्तर साहचर्य में शिष्य अध्ययन करता है, जीवन का एक भाग गुरुकी सेवा-शुश्रूषा में ही निरंतर व्यतीत करता है तब गुरु के दोषों से शिष्य के बचने का क्या उपाय सम्भव हो सकता है? सम्भवतः इसीलिए अत्यन्त प्राचीन काल में निन्दित कर्म करने वाले गुरु को दण्ड देने का भी विधान निश्चित था।[1] वस्तुतः जब ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु स्वयं ही पथभ्रष्ट हो जायेगा तब वह ज्ञान प्रदान करने का अधिकारी कैसे हो सकेगा?

इसी प्रकार मानवीय दोषों को यत्किंचित समावेश होना अनिवार्य एवं निश्चित है। इनका कोई निदान भी असम्भव ही है। वास्तविकता तो यह है किसी विशिष्ट प्रयोजनवश किया दोष तो निन्दनीय एवं युक्तिसंगत सम्भव है, परन्तु स्वभावगत दोषों को दूर करने का कोई उपाय नहीं। जैसे द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को शिक्षा प्रदान करते समय पक्षपात किया था।[2] इसके लिए व्यक्ति आत्मबल का आश्रय ले सकता है। इस प्रकार वह अपने दोष विमुक्त तो करेगा, साथ ही शिष्यों

---

1. महाभारत-- सम्भवपर्वेद्वात्रिंशदधिक शततमोऽध्याये।

/54/पृ0426

"गुरु प्यवलिप्तस्य कार्याकार्यम जानतः।
उत्पथ प्रतिपन्नस्य न्यायं भवति शासनम्।।"

2. महाभारत- प्रथमखण्ड आदिपर्वणि पौष्य पर्व तृतीयोऽध्यायः [24]

"स तत्र संविवेश केदार खण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदके तस्थौ।।"

की दृष्टि में सम्मान का पात्र भी बन सकेगा।

-प्राचीनकाल में गुरू का सम्मान-

गुरू की सेवा एवं उनके प्रति प्रदर्शित मान-सम्मान का भाव भी आज के युग में तिरोहित हो गया है। प्राचीनकालिक मान[1] भाव जैसे गुरू के समक्ष उच्च आसन पर न बैठे। सदैव विनय भाव से, तन मन धन से उनकी सेवाशुश्रूषा में लगे रहना।

यदि किसी यान पर स्थित हो तो तुरन्त उतरकर उनको प्रणाम करना। अपने समक्ष उनके आने पर स्वयं आसन त्याग कर उन्हें आसन प्रदान करना। व्यर्थ की हठवादिता[2] का प्रदर्शन न करना बिना प्रश्न किये अपनी कोई बात न कहकर मौन ही रहना। गुरुकुल में निवास करते हुये उनके परिवारजनों को भी यथोचित सम्मान प्रदान करने का तत्कालीन समाज में विशेष प्रचलन था।[3]

इसी प्रकार गुरू की आज्ञा का पालन जिस निष्ठा से किया जाता था, उसका एक ज्वलन्त उदाहरण आरुणि एवं उद्दालक का उपलब्ध होता है, जहाँ गुरु की आज्ञा के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते समय किसी भी प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट की पूर्णरूपेण अवहेलना कर दी जाती थी तभी तो गुरू भी

1. महाभारत— ~~[struck-through text]~~
   शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वसप्तदश अध्यायः (17) पृष्ठ-5050-61तक।

   "जघन्यशायी पूर्वस्याद्रुत्थाय गुरुवेश्मनि।
   यच्चशिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेनवा पुनः।।

2. श्रीमद्भागवत— 7/12/29
   "शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
   यान शय्यासन स्थानेनार्ति दूरे कृतांजलिः।।"

3. महाभारत— उद्योगपर्व, द्वितीयः पादः, चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः,
   पृ0 2184.
   "यथा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरु पत्न्यां तथा चरेत्।
   तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते।।"

× × ×

शिष्य पर पूर्णरूपेण वात्सल्य भाव बनाये रखते थे एवं शिष्य के कल्याण हेतु सर्वतो-भावेन प्रयासरत रहते थे। समस्त मंगलमय वरदानों का शिष्य स्वयमेव अधिकारी हो जाता था। वरदान भी ऐसा जिसमें शारीरिक सुख के साथ सामाजिक कल्याण की भावना विशेष रूपेण निहित रहती थी।[1]

जिस समाज में प्रमुख आधार-स्तम्भ ही इतनी दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हो, एवं निरन्तर अपने पुण्यकर्मों से अज्ञानान्धकार को नष्ट कर ज्ञान-ज्योति को प्रज्ज्वलित बनाये रखें उसका अमंगल नितान्त असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति जाति, धर्म, वर्ग जैसे व्यर्थ के प्रश्नों को विस्मृत कर अपने कर्तव्य-पालन में पूर्णतः लीन रहता था। इसीलिये किसी भी प्रकार की अव्यवस्था का दर्शन दुर्लभ है।

समीक्षा:- गुरुजनों के अनेकानेक गुणों-अवगुणों का अवलोकन करते हुये यदि उनकी आधुनिक स्थिति पर दृष्टिपात किया जाये, तो बहुत कुछ वे स्वयं अपनी दयनीय-स्थिति के लिये उत्तरदायी सिद्ध होते हैं। इसके साथ शिक्षण-संस्थाओं में अव्यवस्था, (जो वहाँ के संस्थापकों द्वारा निर्मित की जाती है), निरन्तर तनावपूर्ण सामाजिक परिस्थितियाँ भी गुरुजनों की स्थिति शोचनीय बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं।

अतः शिक्षकों के लिये यह विशेषरूपेण विचारणीय है कि वे आधुनिक सामा-जिक परिवेश की नितान्त अवहेलना न करते हुये सामंजस्य अवश्य स्थापित करें, तथापि सर्वथा दास बनकर न रहें। विवेक को जाग्रत रखते हुये आवश्यकताओंकी पूर्ति अवश्य करें तथापि विलासिता-पूर्ण जीवन से स्वयं को असम्पृक्त बनाये रखें क्योंकि शिष्य गुरु का ही अनुकरण करता है। इसके अतिरिक्त विलासितापूर्ण साधनों हेतु व्यर्थ के अनावश्यक मानसिक व शारीरिक श्रम से भी सर्वथा सुरक्षित रहेंगे।

---

1. महाभारत— अनुशासन पर्व, दान धर्म पर्व (33) पृष्ठ-5605.

"विपुलस्य गुरो वृत्तिं भवितमात्मनि तत्प्रभुः।
धर्मे च स्थिरतां बुद्ध्वा साधुसद्वित्यभाषत।।"

प्रशासन सम्बन्धी अव्यवस्था, अभिभावकों की असदाशयता, छात्रों का आक्रोश एवं अविनयाचरण सभी गुरुजनों की निरन्तर त्रासदी हेतु उत्तरदायी है। अतएव समग्र प्रयास के साथ ही गुरुजनों के द्वारा स्वयं प्रयास करने से इस समस्या के निदान में अपेक्षित सहयोग प्राप्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त कतिपय स्थलों पर तो ईश्वर से भी अधिक महत्वपूर्ण गुरु का पद रहा है क्योंकि ईश्वर से साक्षात्कार हेतु मार्ग-प्रदर्शक भी तो गुरु ही होता है। यदि गुरु उपयुक्त मार्गदर्शन न करे तो साधक अथक प्रयास करने पर भी अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकता। अध्ययनकाल में विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त कराने हेतु अनेकों विद्वज्जन नियुक्त किए जाते थे। इसीलिए तो एक स्थान पर 24 गुरु बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

तद्युगीन गुरु परोपकार, करुणा, सर्वविद्या सम्बन्धित, वीतरागी, समस्त संदेहों का निराकरण करने[2] जैसे सर्वोत्कृष्ट गुणों का आगार होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र का भाग्य-परिवर्तन कर देते थे, क्योंकि उनके सद्गुणों और आचरणों का सम्पूर्ण राष्ट्र अनुकरण करता था। यत्र-तत्र असावधानी होने पर स्वयं प्रशासक (चन्द्रगुप्त) भी गुरु (चाणक्य) द्वारा ही उचित पथ खोजने में सफल होता था।

गुरु का महत्व ब्रह्मचर्याश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों मेंभी सिद्ध होता है। गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सभी में उसकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

---

1. श्रीमद्भागवत (11/7/32-34)

2. स्कन्दपुराण 2/5/16/26

"सुपूर्णश्च सर्वसत्वोपकारकः। निस्पृहः सर्वतः सिद्धः

सर्वविद्या विशारदः सर्वसंशय विच्छेताऽनलसो गुरुराहृतः।।"

विवाह जैसे पवित्र अनुष्ठान में, यज्ञ कथा देवों के पूजन जैसे अनेकों अनुष्ठानों में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था तथा बिना गुरु की कृपादृष्टि के देवता भी प्रसन्न नहीं होते थे। इसीलिए तो गुरु का स्थान देवों से भी श्रेष्ठ माना गया था।[1] मनुष्य किसी भी क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर बिना गुरु के मार्ग प्रदर्शन किये सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक विषय एक और उच्चस्तरीय आध्यात्मिक, दार्शनिक, व्याकरण सम्बन्धी अथवा परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अन्य गहन विषयों के ज्ञान के लिये गुरु का आश्रय ग्रहण किया जाता है तो दूसरी ओर समस्त कलात्मक विषयों का परिचय भी गुरु के अभाव में असम्भव ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त गुरु माहात्म्य की विस्तृत विवेचना का सार वस्तुतः यही है कि मनुष्य का जीवन गुरु के अतुलोपम ज्ञान से रहित ऐसा ही है जैसे स्निग्धता रहित दुग्ध एवं सुदृढ़ आधारभित्ति रहित भव्य प्रासाद। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ज्ञान के क्षेत्र में, जीविकोपार्जन के क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति में सर्वत्र गुरु का माहात्म्य स्पष्टरूपेण लक्षित होता है। गुरु के द्वारा उपादिष्ट ज्ञान रूपी जल से अभिषिक्त किये जाने पर मानव-जीवन शस्य-श्यामल भूमि के समान उपयोगी एवं आनन्दप्रद होता है।

वस्तुतः कबीर के अनुसार गुरु उस रँगरेज के सदृश है जो बालक के जन्म के उपरान्त उसको भली-भाँति वैसे ही सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाता है जैसे जुलाहे द्वारा वस्त्र बुनने के बाद रँगरेज उसको सुन्दर रँग में रँगकर सुसज्जित करता है।

---

1. ब्रह्मवैवर्त० {1/26/11}-

"गुरु प्रदर्शितो देवो मन्त्रपूजा विधिर्जपः।

न देवेन गुरुर्दृष्टस्तस्माद् देवाद् गुरुः परः।।"

यह गुरु प्रवर शुक्राचार्य की कृपादृष्टि का ही महात्म्य था कि दैत्य राज बलि स्वर्गीय-सम्पदा के अधिकारी बन गये थे।[1] भक्ति और उनकी अवमानता से उससे वंचित भी हो जाना पड़ा था।

समीक्षा :- प्राचीन भारतीय गुरुओं के गुरुकुलों से निकले हुऐ उच्च कोटि के छात्रों की चर्चा हमारे पुराणों में क्वचित् मिलती है। भगवान् राम को वशिष्ठ के स्व-संचालित गुरुकुल में अल्पकाल में ही समस्त विद्याएँ आ गयी थीं। श्रीकृष्ण-बलराम को शिक्षा-समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देने पर गुरु स्नेहवश आशीर्वाद देते हैं—

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।

छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च।।

[श्रीमद्भा० 10/45/48]

कौत्स, सुतीक्ष्ण, आयोद-धौम्य के शिष्य आरुणि, परशुराम के शिष्य कर्ण, बलराम के शिष्य दुर्योधन एवं भीमसेन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

---

1. गुरुमाहात्म्यशतकम्- डा० कैलाशनाथ द्विवेदी

"लब्ध्या शुक्रदयादृष्टिं बभूव श्रीपतिः बलिः"

[52] अर्थात्।

तृतीय अध्याय

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षार्थी (शिष्य) का स्वरूप

तृतीय अध्याय-

-पुराणों में प्रतिपादित विद्यार्थी [शिष्य] का स्वरूप-

शिष्य शब्द की व्याकरण से व्युत्पत्ति करने में "शास्" अनुशिष्ट धातु से योग्य अर्थ में "क्यप्" प्रत्यय होता है। उसके अनुसार शिष्य उसे कहते है जो अनुशासन की शिक्षा का सत्पात्र हो।

पुराणों में प्रतिपादित शिष्य को गुरुजनों के आश्रम में निवास करते हुऐ, कष्टप्रद परन्तु मंगलमय मार्ग का अनुसरण करते हुऐ, अध्ययनपूर्ण करते थे। उसका बाह्यवेश अत्यन्त सरल एवं प्रभावोत्पादक होता था। जो तत्कालीन परिवेश एवं विद्यार्थियों की सामर्थ्यानुसार था।

अध्ययन काल में गुरु के सम्पर्क में निरन्तर निवास करते हुऐ शिष्य को कतिपय आचारों का पालन करना अनिवार्य था। वस्तुतः विद्यार्थी का उक्त स्वरूप दण्ड, मृगचर्म, उपवीत एवं मेखला से युक्त था, जो सम्पूर्ण समाज में अपना पृथक् अस्तित्व रखता था। शिष्य की वेशभूषा भी अत्यन्त उपयोगी थी।

यथार्थतः उस समय विद्यार्थी को गुरु सेवा एवं वेदाध्ययन के अतिरिक्त अवकाश ही कहाँ मिल पाता था कि वह केश-विन्यास करता। उसके लिऐ जो निरन्तर ~~xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx~~ केशधारण करना अथवा सर्वथा केशरहित रहना ही लाभप्रद था। केशों से आच्छादित सिर रहने पर प्रतिकूल परिस्थितियों से सुरक्षा बनी रहती थी तथा केशरहित होने पर केश-विन्यास से मुक्ति प्राप्त होती थी। दण्डधारण करने से भी सर्वत्र सुरक्षा का भाव विद्यमान रहता था। साथ ही दण्ड के माध्यम से विद्यार्थी को जीवन की कठोरता एवं सरलता का भी आभास होता था। तीन समय स्नान भी करना पड़ता था।[1]

---

1. गरुड़ पुराण- त्रिस्नाता स्नापिता

प्रातःकालीन नित्यकर्म के पश्चात्, जिससे सम्पूर्ण शारीरिक स्वच्छता, विद्याध्ययन में, गुरु सेवा में सम्पूर्ण समय ❲मध्यान्ह पर्यन्त❳ पवित्रता एवं आलस्य-रहित होकर व्यतीत हो। साथ ही वन में निवास करने से प्राकृतिक दोषों धूल, आँधी, मिट्टी आदि का निवारण होता था। मध्यान्ह कालीन स्नान अध्ययन के उपरान्त, भिक्षार्जन एवं गुरुसेवा से उत्पन्न श्रम के निवारण हेतु किया जाता था। वस्तुतः तत्कालीन परिवेश एवं परिस्थितियों को देखते हुये असम्भव ही प्रतीत होता है।

गुरु के समक्ष किया गया आचरण अत्यन्त महत्वपूर्ण था।गुरुजन की सेवा करना, उनका सम्मान करना। उनके समक्ष आने पर किया गया आचरण गुरु की आज्ञा का प्रत्येक अवसर पर पालन, उनके स्नान-ध्यान का प्रबन्ध तथा विद्याध्ययन उचित दक्षिणा जैसे समस्त उपयोगी एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं का विस्तृत चित्रण xxxxxxxxxxxxxxxx उपलब्ध होता है।[1] बाह्य स्वरूप से समन्वित एवं सदाचार का पालन करते हुये शिष्य गुरु के आश्रम में निवास करता था। वह गुरु की सेवा, शुश्रूषा का कर्म अत्यन्त मनोयोग एवं आस्थायुक्त होकर करता था।[2]

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त विद्यार्थी ज्ञानार्जन के समय अत्यन्त उपयोगी व सात्त्विक भोजन एवं मर्यादा का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करता था। भिक्षार्जन में प्राप्त भोजन सर्वप्रथम गुरु को प्रदान कर उनकी आज्ञा से स्वयं भोजन ग्रहण करते थे। भोजन आरम्भ करने के पूर्व आचमन कर तथा अन्य की ओर किसी भी प्रकार का निन्दितभाव अपने मन में लाये बिना भोजन ग्रहण करते थे।

1. विष्णु पुराण 3/9/2

2. गरुड़ पुराण, वर्णधर्मकथन ❲2❳ ❲19❳ का अर्थांश

मधुमाँसं तथा स्विन्नमित्यादि परिवर्जयेद्।

❲18❳ सम्पूर्ण।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में संहितोपनिषद् से विद्या-ब्राह्मण-संवाद के चार मन्त्र उद्धृत किये हैं। उनसे विदित होता है कि शिक्षक कैसे व्यक्ति को शिष्य रूप में अंगीकार करके उसे विद्या का उपदेश देता है—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टे हमस्मि।" अर्थात् विद्या [की अधिष्ठात्री देवता] ने विद्वान ब्राह्मण के निकट आकर कहा कि "मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ। अतएव मेरी रक्षा करो। योग्य व्यक्ति को ही उपदेश देना, अयोग्य को नहीं। यदि ऐसा करोगे तो मैं शक्ति-सम्पन्न बनी रहूँगी। निरुक्त 2/1/4 में कहा गया है—

असूयकायानृजवे यताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथास्याम्।

अर्थात् "गुणों में दोषदर्शी, कुटिल स्वभाव वाले और मन आदि इन्द्रियों को वश में न रखने वाले व्यक्ति को मुझे मत देना।"

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह।।

अर्थात्- "शिष्य का यह कर्तव्य है कि जो व्यक्ति उसके कानों में सुखपूर्वक सत्य सिद्धान्तामृत का सिंचन करता है और उसे इस प्रकार अमृत का दान करता है, उसे अपना पिता और माता समझे एवं उस गुरु से कभी द्रोह न करे।"

"अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।।"

अर्थात्— "वे छात्र अपने गुरु से [गुरुकुल में] भोजन प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं जो मन, वाणी और कर्म से उनका आदर न करें। विद्या ऐसे छात्रों की रक्षा नहीं करती।"

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।।

अर्थात्— जिस व्यक्ति को तुम शुचि अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्य-सम्पन्न समझो, उसे उपदेश दो। शुचि का अर्थ है पवित्र। जो दन्तधावन एवं

स्नान आदि द्वारा शरीर को तथा अपनी वस्त्रादि सामग्री को शुद्ध रखता है वह शुचि है। जो अपने कार्य-कलाप में सर्वदा और सर्वथा सावधान रहता है, वह अप्रमत्त कहलाता है। मेधावी वह है जो एक बार गुरुमुख से सुने सिद्धान्त को सम्यक्रूप से याद रखता है। ब्रह्मचारी वह है जो अष्टधा [श्रवण, स्मरण, केलि, प्रेक्षण, गुह्य-भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति वाले] मैथुन से अपने को बचाये रखता है। ऐसे योग्य व्यक्ति को शिक्षा का उपदेश हो।

अयोग्य शिष्य को मन्त्र देने पर देवता के अभिशाप की सम्भावना रहती है। जिस प्रकार मन्त्री के द्वारा किये गये पाप का भोग राजा को करना पड़ता है तथा पत्नी के द्वारा किये गये पाप का भोग पति को भी करना पड़ता है, वैसे ही शिष्य के पाप का भागी गुरु होता है, इसमें सन्देह नहीं—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।

तथा प्राप्नोत्यसंदिह शिष्यपापं गुरुं प्रिये।।

[उ०त०]

यदि स्नेह या लोभ के कारण अयोग्य शिष्य को दीक्षा दी जाती है तो गुरु और शिष्य दोनों को ही देवता का अभिशाप लगता है।

स्नेहाद्वा लोभतो वापि यो गृह्णाति दीक्षया।

तस्मिन् गुरौ च शिष्ये तु देवता शापमापतेत्।।

[प्रा०त०तं० 365]

इसलिये शिष्य बनाने से पहले उसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। सार-संग्रह के अनुसार एक वर्ष शिष्य की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। सारसंग्रह के अनुसार एक वर्ष की परीक्षा का समय निर्धारित किया गया है। वर्णानुसार परीक्षा-काल का भेद भी शारदातिलक में वर्णित है, यथा— ब्राह्मण का एक वर्ष, क्षत्रिय का दो वर्ष, वैश्य का तीन वर्ष और शूद्र का चार वर्ष कहा गया है।

-xxxxxxxxxxxxxxxxxxxx-

आदर्श-शिष्य के लक्षण:- शारदातिलक {2/145,250} में कहा गया है कि सद्-शिष्य को कुलीन, शुद्धात्मा, पुरुषार्थपरायण, वेदाध्ययनसम्पन्न, कामयुक्त, प्राणियों का हितचिन्तक, अपने धर्म में निरत, भक्तिपूर्वक पिता-माता का हितकारी, शरीर, मन, वाणी और धन के द्वारा गुरु की सेवा में रत, गुरु के सम्पर्क में जाति, विद्या और धन के अभिमान से शून्य, गुरु की आज्ञा का पालन करने हेतु प्राणविसर्जन के लिये उद्यत, अपना काम छोड़कर भी गुरु के कार्य के लिये तत्पर, गुरु के प्रति भक्तिपरायण, आज्ञाकारी और शुभाकांक्षी होना चाहिये।

"तन्त्रराज" के अनुसार सुन्दर, सुमुख, स्वच्छ, सुलभ, श्रद्धावान्, निश्चित आशयवाला, लोभरहित, स्थिर-शरीर, ऊहापोह-कुशल {प्रेक्षाकारी}, जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र और देवता के प्रति दृढ़ भक्तिसम्पन्न शिष्य गुरु के लिये सुख-प्रद होता है अन्यथा वह दुःखदायी होता है।

ज्ञानार्जन हेतु किसी भी श्रेष्ठ, गुणी गुरु के समक्ष जाने पर किस प्रकार शिष्य विनयी हो, विभिन्न छल-प्रपचों से रहित एवं द्वेष आदि से सर्वथा विमुक्त सुसंस्कारीमति सम्पन्न हो। प्रभृति अनेकानेक लक्षणों का हमारे संस्कृत वाङ्मय में बहुलता से उल्लेख प्राप्त होता है जिसका श्रेष्ठतम निदर्शन वेदोपनिषद, पौराणिक साहित्य, धर्म सूत्रों एवं स्मृतियों में प्राप्त होता है। अतएव विद्याध्ययन हेतु शिष्य को तन-मन से अत्यन्त पवित्र एवं विनय से व्याप्त होकर गुरु के समक्ष याचना करनी चाहिये। उनके द्वारा परिचय प्रदान करने की आज्ञा प्राप्त कर तदुपरान्त अपने कुल एवं पारिवारिक-परिस्थितियों का यथाविधि उल्लेख करना चाहिये।

विद्याध्ययन हेतु विद्यार्थी के लिये ब्रह्मचर्य का पालन, सादाजीवन एवं उच्चविचार का अनुकरण, विभिन्न कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन अत्य-अनिवार्य था। इस प्रकार, अध्ययन अवधि-पर्यन्त गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा एवं विनयाचरण करते हुये अध्ययन में दत्तचित्त हुये विद्यार्थी ही वस्तुतः विद्या के आकांक्षी बनकर तथा उसको प्राप्त कर विद्यार्थी शब्द को सार्थक कर सकते हैं।

शिष्य के दुर्गुण-- आचार्यों ने त्याज्य शिष्यों का भी लक्षण बतलाया है। रूद्रयामल के अनुसार कामुक, कुटिल, लोकनिन्दित, असत्यवादी, अविनीत, असमर्थ, प्रज्ञाहीन, शत्रुप्रिय, सदा पाप-क्रिया में रत, विद्याहीन, मूढ़, कलिकाल के दोषों से समन्वित, वैदिक-क्रिया से रहित, आश्रम के आचार से शून्य, अशुद्ध अन्तःकरणवाला, श्रद्धा-हीन, धैर्यरहित, क्रोधी, भ्रान्त, असच्चरित्र, गुणहीन, सदा पर-स्त्री के लिये आतुर, भक्तिहीन, अनेक प्रकार की निन्दाओं का पात्र शिष्य वर्जित माना गया है।

-आदर्श शिष्यों का पौराणिक निदर्शन-

व्यास जी ने अपने सम्पादित चार वेदों के प्रचार के लिये चार मुख्य शिष्य बनाये थे। ऋग्वेद का मुख्य शिष्य पैल, यजुर्वेद का शिष्य-वैशम्पायन, सामवेद का शिष्य जैमिनि, और अथर्ववेद का शिष्य सुमन्तु नाम का शिष्य था। आगे इन्हीं की शिष्य-परम्परा के द्वारा भिन्न-भिन्न शाखाओं के विभाग हुऐ, जिनमें कहीं-कहीं मन्त्रों के क्रम का तथा कहीं-कहीं उच्चारण का कुछ सामान्य-सा भेद हो गया है। इन शाखाओं में कई के ब्राह्मण भी पृथक्-पृथक् हैं। यह भेद इतना बढ़ा कि सब मिलाकर चार वेदों की 1,131 शाखाऐं हो गयी। सबसे अधिक शाखाऐं सामवेद की हुई, क्योंकि गान में स्वरों के तारतम्य से बहुत भेद हो जाना स्वाभाविक होता है। इस आधार पर उसकी हजार शाखाऐं हो गयी। आजकल सब मिलाकर सात-आठ शाखाऐं मिलती हैं, अन्य सब विलुप्त हो चुकीं।

कहा जा चुका है कि आहुति देने वाले "अध्वर्यु" का वेद यजुर्वेद है। इसमें कर्मकाण्ड के विधिवाक्यों की बहुत आवश्यकता होने के कारण आगे चलकर संहिता और ब्राह्मणों का मिश्र मिश्रण-सा हो गया। यजुर्वेद के शिष्य जो वैशम्पायन कहे गये हैं, उनके शिष्य याज्ञवल्क्य थे। इन दोनों गुरु-शिष्यों में किसी कारण कुछ विवाद हो गया। इसलिऐ, याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशम्पायन का सम्प्रदाय छोड़ दिया।

पुराणों में लिखा है कि उन्होंने वैशम्पायन से पढ़ी हुयी विद्या को वमन द्वारा निकाल दिया था। इससे यह भी स्फुट होता है कि विद्या पढ़ने से अन्तःकरण संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन्हें भौतिक रूप में निकाल डालने की प्रक्रिया भी ऋषि लोग जानते थे। आजकल भी जब पक्षाघात आदि रोगों से या शरीर की जीर्णता होने पर विद्याजनित संस्कारों का लोप होना देखा जाता है, तब किसी प्रक्रिया से उन्हें निकाल डालने की विद्या यदि रही हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अस्तु, उनके अनन्तर याज्ञवल्क्य ने तपस्या द्वारा सूर्य भगवान् की उपासना कर नये प्रकार का यजुर्वेद प्राप्त किया। वह आजकल शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रचलित है। पुराना यजुर्वेद कृष्णयजुर्वेद कहलाता है। इन दोनों में मन्त्रों की तो प्रायः समानता है, क्रम में या पाठ में कई जगह भेद भी है, किन्तु यह बड़ा भेद है कि कृष्णयजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण मिले हुये-से हैं, और शुक्लयजुर्वेद में वे बिल्कुल भिन्न-भिन्न रूप में स्पष्ट है। शुक्लयजुर्वेद में मन्त्रों का क्रम भी वही है, जिस क्रम से कि यज्ञ में उनका उपयोग होता है। इसी शुक्ल-यजुर्वेद का उत्तर भारत में बहुत अधिक प्रचार है।

इस प्रकार, वैदिक वाङ्मय का बहुत विस्तार भगवान् वेदव्यास के द्वारा हुआ और वेदों के इस विभाजन के कारण ही उन्हें व्यास या वेदव्यास की पदवी मिली। व्यासरेखागणित में वृत्त की उस रेखा को कहते है, जो वृत्त के ठीक मध्य में दोनों परिधियों का स्पर्श करती है, अर्थात् वृत्त के आरपार जाती है और वृत्त को दो भागों में विभाजित कर देती है। उसी के समान वैदिक वाङ्मय के आरपार जाकर वेदों का विभाजन इन्होंने किया, इसलिए इन्हें व्यास की सदृशता से "व्यास" या {वेदव्यास" कहा गया। संस्कृत में धातु-प्रत्यय द्वारा व्यास का अर्थ भी विभाजन ही है।

वेदं वेदौ तथा वेदान् वेदान् चतुरो द्विजाः।

अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद् द्विजोत्तमः।।{।}

व्यास ने कहा-- हे द्विजोत्तमो। एक वेद, दो वेद, [तीन] वेद, अथवा चारों वेदों का अध्ययन एवं उनके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त [समावर्तन] स्नान करना चाहिये।

गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया।

चीर्णव्रतोऽथ युक्तात्मा सशक्तः स्नातुमर्हति।। [2]

गुरु को वर [दक्षिणा] प्रदान कर उनकी आज्ञा से [समावर्तन] स्नान करे। व्रतानुष्ठान समाप्त करने के उपरान्त एकाग्रचित्त समर्थ पुरुष [समावर्तन] स्नान का अधिकारी होता है।

वैणवीं धारयेद् यष्टिमन्तर्वासस्तथोत्तरम्।

यज्ञोपवीतद्वितयं सोदकं च कमण्डलुम्।। [3]

छत्रं चोष्णीषममलं पादुके चाप्युपानहौ।

रौक्मे च कुण्डले वेदं कृत्तकेशनखः शुचिः।। [4]

—कूर्मपुराणे, षट्साहस्त्र्यां संहितायामुपरि विभागे

पंचदशोऽध्यायः।।

स्नातक को बाँस का दण्ड, अन्तर्वास— अर्थात् भीतरी वस्त्र एवं उत्तरीय— अर्थात् ऊपरी चादर, दो यज्ञोपवीत जलयुक्त कमण्डल, छाता, स्वच्छ पगड़ी, एक जोड़ा खड़ाऊँ, एक जोड़ा जूता, दो स्वर्ण कुण्डल एवं वेद धारण करना चाहिये तथा केश और नखों को कटवाकर शुद्ध होना चाहिये।

-आदर्श शिष्य-

श्रीकृष्ण-सुदामा- श्रीकृष्ण इस किशोरवय में राजकुमार नहीं, युवराज नहीं, सम्राट भी नहीं, साम्राज्य के संस्थापक हैं। दिग्न्तविजयी कंस उनके करों के एक झटके में ध्वस्त हो गया और उग्रसेन--मथुरेश उग्रसेन को प्रणाम न करे तो इन्द्र भी देवराज न रह सकें, यह श्रीकृष्ण का प्रचण्ड प्रताप। यहाँ उज्जयिनी के सिंहासन पर भी उनके

बुआ के पुत्र हैं। उनकी बुआ हैं, यहाँ की राजमाता। वे यहाँ भी सर्वथा अपरिचित देश में नहीं हैं।

श्रीकृष्ण का यह ब्रह्मचारी-वेश और उनके साथ समवेशधारी दरिद्र ब्राह्मणकुमार सुदामा। कोई विशेषता नहीं, कोई सम्मानाधिक्य नहीं। ब्राह्मणकुमार के साथ उसी के समान श्रीकृष्ण भी गुरुसेवा के लिए समिधाएँ वहन करते हैं, गुरु की हवन-क्रिया के लिए जंगल से लकड़ी लाते हैं।

किन्तु महर्षि सांदीपनि का आश्रम- किसी महर्षि का गुरुकुल तो साम्य का आश्रम है। श्रीकृष्ण कोई हों, कैसे भी हों, कितने भी ऐश्वर्यशाली हों और कितना भी दरिद्र हो सुदामा— महर्षि के चरणों में दोनों छात्र हैं। मानव-मानव के मध्य किसी भेद का प्रवेश गुरुकुल की सीमा में यह कैसे सम्भव है।

-एकलव्य-

आचार्य द्रोण- कुरुकुल के राजकुमारों के शस्त्र-शिक्षक, उनका भी क्या वश था? राजकुमारों के साथ एक भील के लड़के को वे कैसे बैठने की अनुमति देते। एकलव्य जब उनके समीप शस्त्र-शिक्षा लेने आया था, तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

एकलव्य की निष्ठा— सच्ची लगन सदा सफल होती है। उसने वन में आचार्य द्रोण की मृत्तिका-मूर्ति बनाकर उसी को गुरु माना और अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। उसका अभ्यास— उसका नैपुण्य अन्ततः चकित कर गया। एक दिन आखेट के लिए वन में निकले आचार्य द्रोण के सर्वश्रेष्ठ शिष्य अर्जुन को भी।

अर्जुन की ईर्ष्या से प्रेरित ~~अर्जुन~~ आचार्य एकलव्य के पास पहुँचे। जिनकी मूर्ति पूजता था एकलव्य, वे जब स्वयं उसके यहाँ पधारे। गुरुदक्षिणा में उन्होंने उसके दाहिने हाथ का अँगूठा माँगा। जिस लालसा से एकलव्य ने शस्त्राभ्यास किया था, उस समस्त अभिलाषा पर पानी फिर रहा था, किन्तु धन्य एकलव्य। उसने बिना हिचके अँगूठा काटा और बढ़ा दिया आचार्य द्रोण के सम्मुख।

आरुणि- न पुस्तकें, न फीस-- छात्रावास शुल्क भी नहीं। उन दिनों छात्र गुरुगृह में रहते थे। निवास, भोजन, वस्त्र तथा अध्ययन का सारा दायित्व गुरुदेव पर। शिष्य सनाथ था गुरुसेवा करके।

तीव्र वर्षा देखकर महर्षि धौम्य ने अपने शिष्य आरुणि को धान के खेत की मेंड़ ठीक करने के लिए भेजा। खेत की मेंड़ एक स्थान पर टूटी थी और जल का वेग बाँधने के लिये रखी मिट्टी को बहा ले जाता था। निष्फल लौट जाएं आरुणि-- यह कैसे सम्भव था, वह स्वयं टूटी मेंड़ के स्थान पर लेट गया जल का वेग रोककर। शरीर शीतल हुआ, अकड़ा, वेदना का पार नहीं, किन्तु आरुणि उठ जाये और गुरुदेव के खेत का जल बह जाने दे-- यह नहीं हुआ।

गुरु के यहाँ रात्रि में भी आरुणि नहीं पहुँचा तो वे चिन्तित हुए। ढूंढने निकले और उनकी पुकार पर आरुणि उठा। उसकी गुरुभक्ति से प्रसन्न गुरु के आशीर्वाद ने उसी दिन उसे महर्षि उद्दालक बना दिया।

उपमन्यु- महर्षि आयोद धौम्य ने अपने दूसरे शिष्य उपमन्यु का आहार रोक दिया। उसकी लायी हुई सारी भिक्षा वे रख लेते। उसे दूसरी बार भिक्षा लाने से भी रोक दिया गया। वह गौओं का दूध पीने लगा तो वह भी वर्जित और बछड़ों के गिरे फेन पर रहने लगा तो वह भी निषिद्ध हो गया। क्षुधा से पीड़ित होकर आक के पत्ते खा लिए उसने। उसकी नेत्रज्योति चली गयी। वह कुएँ में--जलरहित कूप में गिर पड़ा।

महर्षि उसे ढूँढते कूप पर पहुँचे। उनके आदेश से उपमन्यु ने स्तुति की और देववैद्य अश्विनीकुमार प्रकट हुए। उनका आग्रह, किन्तु गुरु को निवेदित किये बिना उनका दिया मालपुआ उपमन्यु कैसे खा लेते। देववैद्य एवं गुरुदेव दोनों द्रवित हो उठे। उपमन्यु की दृष्टि ही नहीं, तत्काल समस्त विद्याएँ उसे प्राप्त हो गयीं।

अतः प्राचीन-भारतीय-परम्परा में यह सुस्पष्ट है कि तान्त्रिक-प्रधान

धर्म-सम्प्रदायों के मध्य में तथा अध्यात्मसाधना के क्षेत्रों में गुरु की अपरिहार्यता है। अध्यात्म एवं साधना का वैशिष्ट्य आरम्भ से ही गौरवमयी मूर्ति के रूप में स्वीकृत है। दीक्षा के बिना किसी भी क्रिया में अधिकार न होने के कारण कुलार्णवतन्त्र आदि के अनुसार गुरु की विभिन्न व्याख्याओं के साथ महत्व वर्णित है--
"तस्माद् सर्वप्रयत्नेन गुरुमादौ दीक्षितो भवेत्।" [कु०त०] 4]

शारदातिलक में कहा गया है कि सद्-शिष्य को कुलीन, शुद्धात्मा, पुरुषार्थपरायण, वेदाध्ययनसम्पन्न, कामयुक्त, प्राणियों का हितचिन्तक, अपने धर्म में निरत, भक्तिपूर्वक पिता-माता का हितकारी, शरीर, मन,वाणी और धन के अभिमान से शून्य, गुरु की आज्ञा का पालन करने-हेतु प्राणविसर्जन के लिये उद्यत, अपना काम छोड़कर भी गुरु के कार्य के लिये तत्पर, गुरु के प्रति भक्ति-परायण, आज्ञाकारी और शुभाकांक्षी होना चाहिये। "तन्त्रराज" के अनुसार सुन्दर, सुरूप, स्वच्छ, सुलभ, श्रद्धावान, निश्चित आशयवाला, लोभरहित, स्थिर-शरीर, ऊहापोह-कुशल [प्रेक्षाकारी], जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र और देवता के प्रति दृढ़ भक्तिसम्पन्न शिष्य गुरु के लिये सुखप्रद होता है अन्यथा वह दुःखदायी होता है।

इतना ही नहीं, आचार्यों ने त्याज्य शिष्यों का भी लक्षण बतलाया है। रुद्रयामल के अनुसार कामुक, कुटिल, लोकनिन्दित, असत्यवादी, अविनीत, असमर्थ, प्रज्ञाहीन, शत्रुप्रिय, सदा पाप-क्रिया में रत, विद्याहीन, मूढ़, कलिकाल के दोषों से समन्वित, वैदिक क्रिया से रहित, आश्रम के आचार से शून्य, अशुद्ध अन्तःकरणवाला, अश्रद्ध श्रद्धाहीन, धैर्यरहित, क्रोधी, भ्रान्त, असच्चरित्र, गुणहीन, सदा पर-स्त्री के लिए आतुर, भक्तिहीन, अनेक प्रकार की निन्दाओं का पात्र शिष्य वर्जित माना गया है।

-गुरु के प्रति शिष्य के कर्तव्य-

गुरु, कुलशास्त्र, पूज्यस्थान-- इनके पूर्व में श्री शब्द का प्रयोग कर भक्तिपूर्वक

उच्चारण करते हुए प्रणाम करे। अपना और गुरु के नाम का उच्चारण न करें। जप के अतिरिक्त विचार आदि के समय में गुरु के नाम का उच्चारण न कर श्रीनाथ, स्वामी, देव आदि शब्दों से गुरु का उल्लेख करना शिष्य के लिये विहित है।

आगमानुसार आनन्दनाथ एवं अम्बा शब्द का अन्त में प्रयोग कर विचार और साधना के समय गुरु का स्मरण करना चाहिये। गुरु के सम्मुख मिथ्याभाषण करने पर गोवध एवं ब्रह्मवध का-सा पाप होता है। गुरु के साथ एक आसन पर शिष्य को नहीं बैठना चाहिए तथा गुरु के आगे-आगे नहीं चलना चाहिये। शक्ति, देवता और गुरु की छाया का लंघन नहीं करना चाहिए। गुरु के समीप रहने पर उनके आदेश के बिना, उनकी वन्दना के बिना निद्रा, ज्ञान का परिचय-प्रदान, भोजन, शयन न करें। अपना प्रभुत्व और औद्धत्य न प्रकट करे तथा शास्त्र-व्याख्यान, दीक्षा आदि न दे। गुरु की आज्ञा के बिना उनकी वस्तु को नहीं लेना चाहिए। इष्टतम वस्तु गुरु को प्रदान करनी चाहिए। शिष्य के द्वारा किया गया पुष्प आदि स्वल्प वस्तु का दाना भी शिष्य को अधिक महत्व का मानना चाहिए। गुरुवंश भी शिष्य की पूजा के योग्य है। युवती गुरुपत्नी के पैर का स्पर्श हाथ से न करे। शिष्य कभी भूलकर गुरु की निन्दा न करे, उसे गुरु की निन्दा भी नहीं सुननी चाहिए। रुद्र-यामल के अनुसार शिष्य जिस दिन से गुरु की निन्दा, पिशुनता आदि करता है, उसी दिन से देवी उसकी पूजा को स्वीकार नहीं करतीं।

कुलचूडामणि के अनुसार उदासीन का गुरु उदासीन होगा। वानप्रस्थ-आश्रमी का गुरु वनवासी अर्थात् वानप्रस्थी होगा। यति का गुरु यति होगा और गृहस्थ का गुरु गृहस्थ होगा—

उदासीनो ह्युदासीनां वनस्थो वनवासिनाम्।
यतीनां च यतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृही।।

रुद्रयामल एवं महाकपिंजल-पंचरात्र के अनुसार भी गृहस्थ का गुरु गृहस्थ ही

होना चाहिए। मत्स्यपुराणवचन के अनुसार स्त्री-पुत्रसमन्वित गुरु ही गृहस्थ का गुरु होता है—— "पुत्रदारैश्च सम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः।"

गणेशविमर्शिनी तन्त्र के अनुसार गृहस्थ को यति, पिता, वानप्रस्थाश्रमी एवं उदासीन से दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिए।

पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः।

विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिनी।।

[पु०च०त० 1/64]

आशय यह है कि गृहस्थ के लिये गृही की ही दीक्षा विहित है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि में शिक्षा अद्वितीय साधन है। निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जब विद्यार्थी गुरु से शिक्षा ग्रहण करता है, तब उसे समक्ष लक्ष्य-सिद्धि के अतिरिक्त कोई समस्या नहीं रहती। अतः प्राचीनकाल "विद्यार्थी" निश्चित दिशा की ओर बढ़ता हुआ अध्ययन करता था। "अमृतं हि विद्या", "विद्ययामृत-मश्नुते"—— इस लक्ष्य-पूर्ति के लिये वह विद्याध्ययन करता था।

प्राचीनकाल में गुरु-शिष्य का विभाग न था। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अपने तपोबल से वेदों का साक्षात्कार कर ज्ञान प्राप्त करते थे।[1] बाद में इन दृष्टा ऋषियों ने उन व्यक्तियों को ज्ञानोपदेश दिया जो स्वयं प्रत्यक्ष करने में असमर्थ थे।[2] धारणा-शक्ति के ह्रास हो जाने के कारण तृतीय कोटि के व्यक्ति जब उन उपदेशों को यथा-वद् ग्रहण करने में असमर्थ हो गये तो वेद-वेदांगों का ग्रन्थरूप में समाम्नात हुआ।[3]

---

1. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।

2. ते अवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् ~~सम्प्राद~~ सम्प्रादुः।

3. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदांगानि च।

[निरुक्त, प्रथमाध्याय]

और उनके अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया चल पड़ी। परा तथा अपरा— इन दो भागों में विद्या का विभाजन हुआ। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति में अपरा और मोक्ष की प्राप्ति में परा विद्या साधन थी। जिज्ञासु शिष्य अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए गुरु-चरणों की शरण में जाता था। गुरु उसके अज्ञान का निवारण करता था।[4] शिक्षा का चरम उद्देश्य था आत्म-ज्ञान की उपलब्धि। इसके लिए शिष्य सद्गुरु का आश्रय लेते थे।[5] शिष्य गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् ब्रह्म के रूप में मानते थे।[6] शरणापन्न शिष्य के भीतर अध्यात्म-ज्ञान के सर्जन के कारण गुरु को ब्रह्मा, त्राण[7] तथा ज्ञान-विज्ञान-संरक्षण के कारण विष्णु, सकल कलुष के संहरण के कारण महेश्वर तथा परमात्म-तत्त्व नहीं था।[8] यह भावना शिष्य के हृदय में बद्धमूल थी। गुरु अज्ञान-तिमिर से अन्ध शिष्य के प्रज्ञा-चक्षु को ज्ञानरूपी अंजन-शलाका से उन्मीलित करते थे। अतः शिष्य आजीवन नतमस्तक रहता था।[9] शिष्य के लिये गुरु का स्थान सर्वोच्च था।

अध्ययन के उपर्युक्त चार पुरुषार्थ प्रयोजन थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से

---

4. गिरति अज्ञानम् {नाशयति अविद्याम्} इति गुरुः।

5. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठम्।।

{उपनिषद्}

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्यु-पशमाश्रयम्।। {श्रीमद्भागवत}

समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये। {अध्यात्मरामायण}

6. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

7. शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।

8. नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।

9. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

अध्यापन के तीन प्रयोजन थे---- धर्म, अर्थ और शुश्रूषाप्राप्ति।[10] आचार्य धर्मार्थ शिक्षा देते थे। आचार्य शिष्यों में आचार अर्थात् चरित्र का निर्माण करते थे,शास्त्र के रहस्यों को खोलते थे और शिष्यों की बुद्धि को विकसित करते थे।[11]

शिष्यों का उपनयन-संस्कार कर उन्हें कल्प और रहस्य के साथ वेदादि की शिक्षा देते थे।[12] आचार्य की यही कामना रहती थी कि उनका शिष्य विद्वान बनकर मनस्वी और यशस्वी हो तथा शिष्य-परम्परा को सुदृढ़ करे।

आंशिक रूप से वेद या वेदांगों का जीविका के लिये अध्यापन करने वाले "उपाध्याय" कहलाते थे।[13] अतः दस उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ माना जाता था।[14]

जिस किसी से जो सद्-शिक्षा मिलती थी उसे गुरु मानकर उसका सम्मान किया जाता था।[15]

शिक्षार्थी अपनी विशेषता के अनुसार शिष्य, छात्र, विद्यार्थी तथा अन्तेवासी के नाम से व्यवहृत होता था। शासन करने योग्य को "शिष्य"[16]कहते थे। अनुशासन-प्रियता इसका विशेष धर्म होता था। अध्ययन-काल में पूर्ण अनुशासित होकर वह सामाजिक जीवन में सफल होता था।

---

10. अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थं चार्थकारणात्। शुश्रूषाकरणं चेति त्रिविधिः परिकीर्तितम्।। [हारीतः]

11. आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।। [निरुक्त]

12. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्माद् तस्मादाचार्य उच्यते।।

    उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। [मनु0 2/140]

13. एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।यो ध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः सउच्यते।। [मनु॰ 2/141]

14. उपाध्यायान् दशाचार्यः ---------------------[मनु0 2/145]

15. एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते। पश्चिट्वर्शसहस्त्राणि विष्ठायां जायते कृमिः।।

16. शासितुं योग्यः शिष्यः। शासुस्क्यप् प्रत्यय [पा0सू0 3/1/109]।

"छात्र" उन्हें कहते थे जो केवल स्वाध्यायरत होकर गुरुजनों के यत्किंचित् दोष पर भी आवरण देकर उनके यश को फैलाते थे।[17] तात्पर्य यह है कि अध्ययन-काल में उनकी शंका का तत्काल समुचित समाधान न होने पर भी वे समाधान के लिये धैर्यपूर्वक समय की प्रतीक्षा करते थे। तुरन्त गुरु के अज्ञान-दोष का प्रचार नहीं करते थे।

"विद्यार्थी"[18] उसे कहते थे जो गुरु को विद्या का धनी समझकर उनसे विनम्रतापूर्वक विद्या की याचना करता था। विद्या का लाभ ही उसका मुख्य प्रयोजन होता था। विद्या के प्रति उत्कट अनुराग और गुरु के प्रति शुश्रूषाभाव विद्यार्थी शब्द के अर्थ से सूचित होता है। "अन्तेवासी"[19] उसे कहा जाता था जो गुरु के समीप रहकर विद्याध्ययन करता था। इसे सर्वदा शंका-समाधान का सुयोग मिलता था और निरन्तर शुश्रूषा करने का सुअवसर प्राप्त होता था। इसलिये अन्तेवासी अधिक सौभाग्यशाली माना जाता था।

प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में समस्त विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्य एक साथ रहकर किया करते थे। उनके आवास-भोजनादि का प्रबन्ध वहीं एकत्र होता था। समाज के सभी वर्ग के लोग एक साथ पढ़ते थे। श्रीकृष्ण-और सुदामा के लिये अलग-अलग गुरुकुल नहीं था। दोनों एक आश्रम में साथ-साथ पढ़ते थे।

---

17. गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम्, तच्छीलमस्य छात्रः।
 छत्रादिभ्यो णः {पा०सू० 4/4/62}।

18. विद्याम् अर्थयते तच्छीलः विद्यार्थी।
 विद्या उपपद "अर्थ" धातु से "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये"
 {पा०सू०3/2/78} से णिनि प्रत्यय।

19. अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छीलः, पूर्ववद् णिनि प्रत्यय।
 "शयवासवासिष्वकालात्"
 {पा०सू०6/3/18} से अलुक्।।

प्राचीन शिक्षापद्धति में सच्चरित्र और सुसंस्कृत शिक्षार्थी गुरुकुल में प्रवेश के अधिकारी होते थे। उस पवित्र वातावरण में विद्याध्ययन करने वाले छात्र विनयी होते थे। उन्हें ही देखकर नीतिकारों ने कहा है— "विद्या ददाति विनयम्।" शिक्षा-ग्रहण के साथ ही उनमें सद्गुणों का आधान होता था। वे सच्चरित्र, संयमी, आचार-वान्, कर्तव्यनिष्ठ, सत्यपरायण, विनीत, गुरुजनों में श्रद्धालु, ब्रह्मचर्य-परायण तथा देश-समाज के लिए उपयोगी नागरिक सिद्ध होकर गुरुकुल से निकलते थे।

साधारणतः पंचम वर्ष में शिक्षार्थी का गुरुकुल में प्रवेश होता था। बारह वर्षों तक वहाँ उनका समावर्तन होता था। तब वे स्नातक कहलाते थे। आचार्य द्वारा प्रतिदिन की परीक्षा ही उनकी परीक्षा होती थी। शास्त्रार्थ में वे अपनी योग्यता का प्रमाण देते थे। सत्र के अन्त में दीक्षान्त-समारोह होता था। उसमें क्रियावान् "कुलपति" 20 स्नातकों को "सत्यं वद, धर्मं चर--------" आदि का सदुपदेश देते थे। इसके बाद स्नातक यथासम्भव गुरु-दक्षिणा देते थे। इसके बाद स्नातक यथासम्भव गुरु-दक्षिणा देते थे। इस प्रकार, विद्या-ग्रहण करने के बाद वे अधीत विद्या का स्वाध्याय करते थे, उसे व्यवहार में लाते थे और अन्त में उसका प्रवचन करते थे। यह प्रक्रिया महर्षि पतंजलि के समय {ई0पू0 150} तक प्रचलित थी।

-शिष्य का स्वरूप-

ज्ञान प्रदान करने वाला तथा ग्रहण करने वाला यदि दोनों का मानसिक धरातल समान न हुआ तो ज्ञान की महिमा ही व्यर्थ हो जाएगी। अतः यदि एक ओर ज्ञान प्रदाता उच्च प्रकार के सद्गुणों से आप्लावित है तो ज्ञान ग्रहण करने वाले का भी मानसिक-स्तर वैसा होना चाहिए, जिससे वह उस ज्ञान को ग्रहण कर सके। इसीलिए तो आदर्श गुरु के साथ शिष्य की परिकल्पना की गयी है।[1] जिसके लिए यत्र-तत्र ब्रह्मचारियों के जीवन-यापन हेतु आचार-संहिताएँ उपलब्ध होती हैं।

---

1. कठोपनिषद् {1/1/5}

सर्वप्रथम तो गुरुकुल में निवास करते हुए शिष्य को अपने बाह्य-व्यक्तित्व की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था। उसका बाह्यस्वरूप, वेशभूषा, रहन-सहन, आचार-विचार से निर्मित होता था। समस्त ऐश्वर्य उपादानों से शिष्य स्वयं को पृथक रखता था। उपनीत ब्रह्मचारी वल्कल-वस्त्रों तथा मूंज की मेखला का प्रयोग करता था। विशेष रूपताश दंड, कृष्णमृगचर्म, लम्बे केश एवं कमण्डल[1]— ये विद्यार्थी के सामान्य लक्षण थे, जिनसे समाज में उसकी विशेष प्रतिष्ठा होती थी। शास्त्रकार ने अनेक स्थानों पर छात्र को "कमण्डलुपाणि" की संज्ञा से अभिहित किया है।[2]

इसी प्रकार, ब्रह्मचारी को सदाचार ज्ञान प्रारम्भिक काल में ही घुट्टी के ही समान करा दिया जाता था। सात्विक आहार तथा नैतिक कर्तव्यों के विषय में विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है।[3] उपरोक्त बाह्य आचरणों के सम्बन्धी निर्देशों के अतिरिक्त शिष्य के आंतरिक व्यक्तित्व के विकास हेतु भी विविध निर्देश यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम तो विद्याध्ययन हेतु आये छात्र को गुरु का सादर अभिवादन करना होता था। उस विषय में विविध निर्देश प्राप्त होते हैं। यथा गुरु के समक्ष उच्च आसन पर न बैठे। उनके समक्ष आने पर स्वयं खड़े होकर उनको आसन प्रदान करे तथा यथोचित रूप से उनका मान-सम्मान करे। उनके समक्ष व्यर्थ की हठ-वादिता का प्रदर्शन न करे। इस प्रकार, निर्दिष्ट आचार-संहिता का पालन करते हुये शिष्य गुरुकुल में निवास करते हुये अध्ययनपूर्ण करता था।[4] तथा इस प्रकार अति-

---

1-2. अथर्ववेद--11/3, 6/108/2, 133/3
"कमण्डलु पाणि0"। काष्ठविधान, दीर्घ0--

3. मनुस्मृति {2/167/180तक}
"वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।"
"द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृत्यम्।
स्त्रीणां प्रेक्षणो सम्भुमुपघातं परस्य च।।"

4. छा0उप0 {2/23/1}

वासीया आचार्य कुल में निवास करने वाला माना जाता था। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में वर्णित ब्रह्मचारी हेतु गुरु के उपदेश विशेष रूप से दर्शनीय है।

आचार्य कुल में निवास करते हुये वह किस प्रकार गुरु की सेवा-शुश्रूषा करे। एतत्सम्बन्धी कतिपय निर्देश प्राप्त होते हैं।[1] वह गुरु के लिये भिक्षान्न लाता था। अग्नि परिचर्या[2], समस्त गृहकार्य भी करता था। गुरु की गोसेवा के विषय में भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

उपर्युक्त गुरुसेवा हेतु निर्देशों से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है। गौरवशाली गुरुजनों की सर्वविध सेवा शिष्यों द्वारा की जाती है,थी, जिससे उनमें किसी भी प्रकार के संकोच, कष्ट अथवा हीन भावना नहीं रह पाते थे। वरन् उन्हें इस सेवा में मानसिक सुखानुभूति ही होती थी। इसमें भी अनेक कारण थे। सर्वप्रथम तो विभिन्न स्थानों से भिक्षान्नग्रहण कर लाने में उनमें निहित संकोच व अहंकार भावों का विलोप हो जाता था एवं यत्र-तत्र भ्रमण करने से उनके सामान्य-ज्ञान में वृद्धि भी होती थी। अध्ययन करने हेतु शिष्य गुरु के समीप अत्यन्त विनम्रता एवं आस्थायुक्त होकर जाता था तथा गुरु से स्वयं को अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना करता था। वस्तुतः उपर्युक्त आचरण से शिष्य में अन्तर्निहित विनय, सेवा, सामान्यशिष्टाचार के निर्वाह की भावना जैसे गुणों का ज्ञान गुरु को प्रदान किया जाता था। यत्र-तत्र अभिभावक या माता-पिता स्वयं ही बालक को साथ लेकर गुरु के समीप जाकर प्रार्थना करते थे।[4]

---

1. छा०उप० {4/3/3}
"अथ ह शौनकं च कापेयमभि प्रतारिणं च.....
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उह न ददतुः।।"

2. छा०उप० {2/4/10/2}
"तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हा प्रोच्यैव प्रवासांचक्रे।।"

3. वही 4/4/5

4. काशिका {3/3/161}
"अधीच्छिमो भवन्तं माणवकं भवाननुनयेव""

उपनयन के पूर्व तक वह दण्ड लिए आश्रमों में यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए दृष्टि-गोचर होते थे तथा अध्यापकों से अध्ययन भी करते थे, परन्तु कुछ समय उपरान्त आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार होता था। तदुपरान्त, वे वेदाध्ययन के अधिकारी हो जाते थे तथा वास्तविक रूप से आचार्य का सामीप्य प्राप्त करने के अधिकारी भी होते थे।[1] उपनयन संस्कार से पूर्व बालक को माण्डव कहते थे। दण्ड रखने के कारण वे दण्ड माण्डव भी कहलाते थे।[2]

सम्भवतः दण्ड माण्डव किन्हीं विशेष उत्तरदायित्वों का भार वहन नहीं करते थे। उपनयन संस्कार से पूर्व गुरु के आश्रम में निरन्तर निवास करते हुए तत्का-लीन परिवेश व आचार-विचारों से भली-भाँति परिचित होते थे तथा उपनयन संस्कार के उपरान्त उन्हें सभी नियमों का विशेष रूप से पालन करना होता था। वे गुरुजनों की अति भक्तिभाव से सेवा शुश्रुषा करते, उनके सम्पूर्ण कार्य करते थे, जिससे उनमें स्वावलम्बन एवं नैतिक रूप से कर्तव्य परायणता का भाव समुत्पन्न होता था। वे ब्रह्मचर्य हेतु निर्दिष्ट समस्त आचरणों का पालन करते थे। उनका जीवन कठोर नियमों से युक्त एवं अनुशासनमय था। यद्यपि इन नियमों के पालन में प्रारम्भ में कठिनाई का अनुभव होता था। तथापि निरन्तर तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए तथा आश्रम के कठोर निर्देशों का पालन करते-करते इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त हो जाते थे।

---

1. काशिका— "आचार्य करणं आचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन।

विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते।

आत्मानमाचार्यीकुर्वन्माणवकमात्म समीपं प्रापयतीत्यर्थः।

2. काशिका— "दण्ड प्रधाना० माणव०"

पतंजलि— 5/4×154, "अनुवो माणवे बहवश्चरणाख्यायमिति

उन्हें गुरु की सेवाशुश्रूषा के साथ गुरु पुत्र की भी सेवा करनी पड़ती थी। यदि वह भी गुरु होता था।[1] कभी-कभी गुरुजन छात्रों को निरन्तर कठोरश्रम में लगाये रहते थे, जिससे छात्रों को गुरुकुल वास अत्यन्त कष्टप्रद प्रतीत होता था।[2] ऐसी परिस्थितियों से चतुर छात्र स्वयं को बचाये रखते थे तथा जहाँ तक सम्भव होता था। गुरु के सम्मुख ही नहीं आते थे, तथापि कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने में भी उनको लाभ ही था, क्योंकि यदि गुरुजन प्रसन्न रहेंगे तो अध्ययन भी अच्छा होगा एवं गुरु शुश्रूषा से सुखानुभूति भी होगी।[3]

वस्तुतः उपर्युक्त परिस्थितियाँ शिष्य के अंदर स्वाभाविक रूप से मद, लोभ या विवशता जैसी वृत्तियों के आविर्भाव में सहायक होती थीं। आधुनिक सन्दर्भ में भी गुरु की प्रसन्नता को ही विशेष रूप से लक्षित किया जाता है फिर चाहे परिणाम कैसा भी हो? साथ ही गुरु शुश्रूषा में उनके पाँव दबाना, यज्ञाग्नि हेतु वन से लकड़ियाँ एकत्र कर लाना, पूजा हेतु पुष्प चयन करना, उनका उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करना जैसे विविध कर्म निहित थे। इन सबका पालन शिष्य अनेकानेक कष्ट सहते हुए भी अत्यन्त प्रेम एवं धैर्य से करता था।

---

3. 1-1-56 वा 8, पृ0 330- "गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्तितव्यम्- अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुर्भवति तदापि कर्तव्यं भवति।

उपर्युक्त कष्टमय, अनुशासित एवं अंदर से कल्याणकारी जीवन व्यतीत करने वाला शिष्य अपने जीवन में आने वाली नानाविधि समस्याओं का सामना अत्यन्त कुशलतापूर्वक करता था। इस प्रकार वह अपने जीवन में पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय अनेकानेक समस्याओं का समाधान अत्यन्त कौशल से करता था, जिसका परिणाम होता था—— एक सुयोग्य नैतिक चरित्र बल एवं विविध सद्गुणों से सम्पन्न सक्षम-राष्ट्र का निर्माण।

किसी राष्ट्र के कर्णधारों का निर्माण शिक्षक के नेतृत्व में जितनी दक्षता से हो सकता है, वैसा अन्य किसी के द्वारा नहीं। यद्यपि माता-पिता का भी प्रारम्भ में भावी कर्णधारों के निर्माण में अभूतपूर्व सहयोग होता है। शिशु के प्रारम्भिक जीवन में तो ये दोनों ही उसके गुरु होते हैं। ज्ञानार्जन हेतु सुदृढ़ नींव प्रदान करने के लिए। तथापि सुदृढ़ नींव पर भव्य प्रासाद रूपी उच्च-चरित्र बल सम्पन्न राष्ट्र निर्माताओं का निर्माण तो गुरुजन ही कर सकते हैं।

आधुनिक सन्दर्भ में शैक्षिक जगत की निरन्तर अवनति के लिये वस्तुतः माता-पिता तथा गुरु दोनों ही पूर्ण रूपेण उत्तरदायी हैं। उनके अपने कर्तव्य-पालन में शैथिल्य-दोष के कारण राष्ट्र का निरन्तर ह्रास हो रहा है और अपने स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न होने से राष्ट्र की निरन्तर अवनति का उन्हें ध्यान ही नहीं।

यद्यपि तद्युगीन छात्रों का अत्यन्त सौम्य एवं विनम्रस्वरूप हमें उपलब्ध होता है, तथापि परिस्थितियोंवश एवं मानवीय दुर्बलतावश यत्र-तत्र भावों में कतिपय अवगुणों से युक्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है जो किन्हीं परिस्थितियों में तो उचित ही प्रतीत होता है तथा कहीं-कहीं यह अनुचित भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के छात्रों की प्रवृत्तियों का विशेष रूप से उल्लेख श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा विरचित ~~शिक्षक~~ उनके ग्रन्थ "पाणिनि-कालीन भारतवर्ष" में प्राप्त होता है। विद्याध्ययन हेतु आये छात्र यदि गुरुकुल में निवास करते हुये वहीं निर्दिष्ट आचार-संहिता का पालन नहीं करते, तो उद्देश्यपूर्ति असम्भव हो जायेगी।

वस्तुतः अव्यवस्थित एवं अनुशासनहीन-जीवन तो सामान्य रूप से भी मनुष्य की व्यक्तिगत अवनति को ही लक्षित करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम तो वैसे भी सम्पूर्ण-जीवन रूपी- भव्य-प्रासाद का सुदृढ़ आधार है। यदि आधार ही जीर्ण-शीर्ण एवं त्रुटिपूर्ण हुआ तो भवन-निर्माण में विविध कठिनाइयाँ हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती हैं।

अतएव डा०अग्रवाल के मतानुसार ब्रह्मचारियों हेतु निर्दिष्ट नियमों की अवहेलना करने वाले छात्र कुत्सित श्रेणी में आते थे।[1] गुरुकुलों में निश्चित अवधि व्यतीत न कर पुनः परिवर्तन करने से छात्र विभिन्न नामावलियों से शोभित किये जाते थे।[2] समय से पूर्व ही ब्रह्मचर्याश्रम को त्याग कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ठ होने वाले छात्र खट्वारूढ़ कहे जाते थे। कहीं-कहीं तो विवाह के लोभ में शास्त्राध्ययन करने के लिये भिक्षा जाने वाले छात्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

अतः कहीं तो गुरुजनों के अधिक कठोर अनुशासन से संत्रस्त होने वाले तथा कहीं मानवीय दुर्बलतावश ऐसे कुत्सित छात्रों का विवरण प्राप्त होता है जो किसी विवशता के कारण गुरुकुलों में प्रविष्ट होते थे। वहाँ प्राप्त समस्त सुविधाओं का भोग करते थे तथा गुरुजनों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने के स्थान पर उनके प्रति विश्वासघात भी करते थे। कतिपय स्वभावगत विशिष्ट नामावलियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं जो ऐसे छात्रों को प्रदान की जाती थीं।

---

1. "पाणिनिकालीन भारत"—— श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी- प्रथम संस्करण- "कुत्सित छात्र"।

2. {व्याक्षेपक्षेपे 2/1/41, भाष्य- "योगुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति"

3. काशिका- {6/2/69} स्त्रदवाटोपे,

{2/1/36}

वस्तुतः उपरोक्त परिस्थिति में सामाजिक-व्यवस्था में शैथिल्य एवं गुरुजनों की आवश्यकता से अधिक कठोर अनुशासन के कारण ये दोष छात्रों में उत्पन्न हुए होंगे, अन्यथा इसके पूर्व तो ऐसा नहीं था। मनोवैज्ञानिक-दृष्टिकोण से भी दृष्टिपात किया जाये, तो यह निश्चित एवं निर्विवाद तथ्य है कि अधिकांशतः प्रेम एवं मानवीय-- संवेदना से ओत-प्रोत होकर बच्चों का विश्वास जिस प्रकार हम जीत सकते हैं, वैसा कठोर एवं रूक्ष व्यवहार से नहीं जीत सकते, जैसा कि आधुनिक युग में देखा जाता है। तथापि यह स्थिति शिशुओं के लिए उचित प्रतीत होती है। तदुपरान्त मानवीय-संवेदना एवं सुदृढ़ अनुशासन तो अत्यावश्यक है। क्रूरता के स्थान पर अनुशासन में दृढ़ता हो तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन तो अपना प्रभाव डालता ही है।

<u>समीक्षा</u>:- पौराणिक शिक्षा जगत के अन्तर्गत विविध तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन समुपलब्ध होता है, जिसके आधार पर विविध निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है। गुरुजनों के निवास पर जाकर परिश्रमपूर्वक ज्ञानोपार्जन में विशेष संतुष्टि एवं आत्म-विश्वास का अपूर्व संयोग उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त पारिवारिक वातावरण से नितान्त असम्पृक्त होकर विद्यार्थी जन व्यक्तित्व निर्माण हेतु प्रयास करते थे। गुरुकुल का अनुशासित जीवन उन्हें जीवन-पर्यन्त अवस्था का उचित महत्व स्पष्ट कर देता था। मनुष्य के जीवन की प्रारम्भिक स्थिति यदि सुदृढ़ एवं सर्वविध लाभकारिणी बना ली जाये तो निश्चित रूप से सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का बनेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र भी अनेकानेक विषम-परिस्थितियों से विमुक्त होकर विश्व में अपनी पुरातन-संस्कृति को गौरवास्पद बना सकता है।

चतुर्थ अध्याय

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-अध्ययन के विविध विषय

-चतुर्थ अध्याय-

-पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-अध्ययन के विविध विषय-

शिक्षा की चर्चा करते समय साधारणतया मन में जिन प्रश्नों का उदय होता है, वे ये हैं--[1] शिक्षा किसे कहते हैं? [2] शिक्षा का स्रोत क्या है? [3] शिक्षा कौन देता है? [4] शिक्षा कौन लेता है? और [5] शिक्षा का लाभ क्या है?

"शिक्षा" संस्कृत- भाषा का शब्द है और इसका व्याकरणसम्मत अर्थ है-- विद्या को ग्रहण करना। विद्या का प्राचीनतम स्रोत वेद है। शिक्षक अर्थात् गुरु विद्या देता है। शिष्य अर्थात् शिक्षार्थी विद्या को ग्रहण करता है और इसका लाभ द्विविध है---- [अ] सांसारिक अभ्युदय एवं [आ] निःश्रेयस् की प्राप्ति।

-विद्या का वैविध्य-

छान्दोग्य- उपनिषद् के एक प्रसंग में यह कहा गया है कि एक बार देवर्षि नारद विद्या- प्राप्ति के लिये सनत्कुमारजी के पास गये। सनत्कुमार जी ने पूछा-- "नारदजी! आपने अब तक क्या क्या सीख लिया है? इस प्रश्न के उत्तर में नारद जी ने अनेक लौकिक विद्याओं के नाम गिना दिये।

-विद्याएँ और कलाएँ-

14 विद्याएँ और 64 कलाएँ शिक्षणीय हैं। 4 वेद, 6 अंग, पुराण-साहित्य, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र-- ये चौदह विद्याओं के भण्डार हैं--

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

[याज्ञवल्क्यस्मृति 1/1/3]

64 कलाओं के नाम वात्स्यायन— विरचित कामसूत्र आदि ग्रन्थों में दिए गए हैं। इनमें नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र और वास्तु {गृह-निर्माण}— ये कलाएँ प्रमुख हैं।

-परा और अपरा विद्या-

विद्या के चौदह स्रोत होते हैं। इनमें दो प्रकार की विद्याओं का समावेश है— एक अपरा कहलाती है और दूसरी परा। संसार में अभ्युदय दिलाने वाला अपरा है भव-बन्धन से मोक्ष दिलाकर परमात्म-सायुज्य की प्राप्ति कराने वाली परा है—

।।अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।

{मुण्डकोपनिषद् ।।5}

-पुराण-

पुराण के अवतरण के विषय में पुराणों तथा इतर ग्रन्थों में अनेक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुऐ हैं। उनका एकमात्र समीक्षण करने पर अनेक तथ्यों का प्रकटीकरण होता है। पहली वस्तु ध्यान देने की है कि पुराण के विकास में जो धाराएँ स्पष्टतः लक्षित होती हैं— {1}व्यासपूर्व धारा तथा {2}व्यासोत्तर धारा। व्यास का मुख्य कार्य "पुराण संहिता" का निर्माण था। फलतः पुराणों को सुव्यवस्थित रूप में घटना वेदव्यास का अलौकिसामान्य कार्य था, परन्तु पुराण की यह धारा उनसे भी प्राचीनतर युग के साहित्यिक जगत् की एक विशिष्ट महनीय वस्तु है। उस युग में "पुराण" का अर्थ है लोक-प्रचलित परन्तु अव्यवस्थित, इतस्ततो विकीर्ण लोकवृत्तात्मक विद्यानिधि। इस सिद्धान्त के लिए प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं:-

{प्राचीन ग्रन्थों में "पुराण" शब्द का ही प्रयोग मिलता है, "पुराण-संहिता" का नहीं। फलतः यह मूलतः किसी ग्रन्थविशेष का द्योतक न होकर,

किसी विद्या-विशेष का ही वाचक है।§

क॰ पुराण के आविर्भाव से निर्देश वायु 1/54 तथा मत्स्य 3/3-4 में वेद से आविर्भाव से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। ब्रह्मा के सब शास्त्रों में पुराण का ही प्रथम स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखों से वेद निःसृत हुए--

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्

नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।।

---मत्स्य० 3/3-4

"शतकोटिप्रविस्तरम्" शब्द किसी निश्चित रूप का संकेत न कर पुराण के अनिश्चित तथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का संकेत न होने से यह निर्देश पुराणविद्या की ही द्योतना करता है, ऐसा मानना उचित है।

ख॰ "पुराण" शब्द की व्युत्पत्ति भी इस विषय में सहायक मानी जा सकती है।

पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्।

--पद्मपुराण 5/2/53

यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।

--वायु० 1/103, 103/55

फलतः अपने प्राचीनतम रूप में "पुराण" किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है।

पुराण के अवतरण की एक अन्य कल्पना भी है। स्कन्द[1] [रेवामाहात्म्य] पद्म[2] [सृष्टिखण्ड] तथा---

---

1. पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप।
त्रिकालसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।।
स्मृत्वा जगाद च मुनीन्प्रति देवश्चतुर्मुखः।
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः।।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
व्यासरूपं विभुं कृत्वा संहरेत्स युगे युगे।।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते।।
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम्।
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः संक्षेपेण निवेशितः।।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते।।

---स्कन्दपुराण [रेवामाहात्म्य 1/23/30]

2. प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्तदा।
कालेना ग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः।।
व्यासरूपी तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभुः।।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते।।

---पद्मपुराण0 सृष्टिखण्ड 30।

xxxxx|xxxxxxx

मत्स्य[1] समान भाव से इस परम्परा का उल्लेख करते हैं। इस परम्परा का कथन है---- कल्पान्तर में पुराण एक ही था। वह त्रिवर्ग- धर्म, अर्थ तथा काम-- का साधन था अर्थात् जिस प्रकार वह अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र के विषयों का प्रतिपादक था, उसी प्रकार वह धर्म का भी प्रकाशक था। उसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत था, क्योंकि वह श्लोकों की संख्या में शतकोटि विस्तार रखता था। अनेक पुराणों की मान्यता है कि वह विशाल पुराण-साहित्य देवलोक में प्रतिष्ठित था। समय के परिवर्तन से इतने विशाल पुराण का ग्रहण क्षीणबुद्धि मानवों की परिमित-शक्ति के बाहर की बात थी। फलतः विष्णु भगवान् ने मानवों के कल्याण के लिए इस विशालकाय साहित्य को चार लाख श्लोकों के भीतर संक्षिप्त कर दिया व्यास का रूप धारण करके। इसीलिए मर्त्यलोक में पुराण की संख्या चतुर्लक्षात्मक है और इसी का विभाजन 18 महापुराणों में वेदव्यास ने कर दिया जो आजकल प्रचलित तथा लोकप्रिय है।

—पुराणों के नाम—

पुराणों की संख्या प्राचीनकाल से 18 मानी गयी है। इन अष्टादश पुराणों के नाम प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होते हैं। देवीभागवत §1स्कन्ध, 3अ0, 21 श्लोक§ ने आद्य-स्वर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम निर्देश इस लघुकाय अनुष्टुप् में निबद्ध कर दिया है--

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापद्लिंग-कू- स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्।।

मकारादि दो पुराण--§1§ मत्स्य तथा §2§मार्कण्डेय, भकारादि दो पुराण §3§भागवत तथा §4§ भविष्य, ब्रत्रय-- §5§ब्रह्म, §6§ ब्रह्मवैवर्त तथा §7§ ब्रह्माण्ड, वचतुष्टयम् --§8§वामन, §9§ विष्णु, §10§ वायु, §11§वाराह, अनापद्लिंग कूस्क= §12§ अग्नि, §13§नारद, §14§पद्म, §15§ लिंग, §16§गरुड़,

1. मत्स्यपुराण के 53अ0 में इन पुराणों के नाम तथा वर्ण्यविषय का वर्णन संक्षेप में दिया गया है। संक्षिप्त होने पर भी यह वर्णन बड़ा प्रामाणिक माना जाता है। नाम तथा संख्या देखिए देवीभागवत (1§[5](6)]

§17§ कूर्म, तथा §18§स्कन्द।

विष्णुपुराण §3/6/20-24§ तथा भागवत §12/13/3-8§ आदि में इन पुराणों का निर्देश एक विशिष्ट क्रम के अनुसार है और यही क्रम तथा नाम अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं— §1§ब्रह्म §2§पद्म, §3§विष्णु, §4§शिव, §5§भागवत,§6§नारदीय, §7§मार्कण्डेय, §8§ अग्नि, §9§ भविष्य, §10§ब्रह्म-वैवर्त, §11§ लिंग, §12§वराह, §13§स्कन्द, §14§ वामन, §15§ कूर्म, §16§ मत्स्य, §17§ गरुड़, तथा §18§ ब्रह्माण्ड।।

–पुराणों की वेदता–

"बृहन्नारदीय पुराण" में बतलाया गया है कि श्री रघुनाथचरित रामायण की तरह सभी पुराण शतकोटिप्रविस्तर हैं। वहाँ का वचन है—

"हरिर्व्यासस्वरूपेण जायते च युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोके निर्दिशत्यपि।
अद्यापि देवलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्।।

इससे भूलोक में चार लाख का और देवलोक में सौ करोड़ का विस्तार पुराणों को जानना चाहिए। "वेद" की ही तरह "पुराण" भी अनादि हैं,क्योंकि वेदों की की तरह व्यासरूपीधारी भगवान् के द्वारा इनका भी आविर्भाव ही सुना जाता है। तभी तो इतिहास-पुराणों का "वेदोपबृंहकत्व" उपपन्न है। सोने के "कुंडे" में यदि कोई कमी होगी, तो क्या वह "त्रपु" §पीतल§ से पूरी होगी? पूरण करने के कारण ही उनका नाम "पुराण" है।— "पूरणाच्च पुराणम्"।

–पुराण के दश लक्षण–

श्रीमद्भागवत में §2/10/1-7 तथा 12/7/8§ दो स्थानों पर तथा ब्रह्मवैवर्त में दश लक्षण महापुराण के निर्दिष्ट हैं।

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ।।

—भाग० 12/7/9

§1§ सर्गः §2§ विसर्गः §3§ वृत्तिः §4§ रक्षा §5§ अन्तराणि §6§ वंशः §7§ वंशानुचरितम् §8§ संस्था §9§ हेतुः §10§ अपाश्रयः।।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम अध्याय में दश लक्षणों का निर्देश है जो पूर्वोक्त लक्षणों के साम्य रखने पर भी नामतः है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।

—भाग० 2/10/1

दश लक्षणों के नाम इस प्रकार है—

§1§ सर्गः §2§ विसर्गः §3§ स्थानम् §4§ पोषणम् §5§ ऊतयः §6§ मन्वन्तरम् §7§ ईशानुकथा §8§ निरोधः §9§ मुक्तिः §10§ आश्रयः।

इस प्रकार, पुराण का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

-वेद-

सामान्य दृष्टि से वेद अन्य ग्रन्थों की भाँति दिखलायी देते है, क्योंकि इनमें कुछ समतायें है। अन्य ग्रन्थ जैसे अपने विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्यसमूह होते है, वैसे वेद भी अपने विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्य समूह दीखते है।

मंत्र और ब्राह्मण के भेद से वेद के दो विभाग है। भगवान् कृष्णद्वैपायन ने इन्हें चार भागों में विभक्त किया, जो आज ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के रूप में उपलब्ध है। प्रत्येक संहिता के साथ उसके विधि-निर्देशक ब्राह्मण भाग और ज्ञानात्मक आरण्यक एवं उपनिषदें भी रहती है। वेद को त्रयी भी कहा

जाता है। छन्दोबद्ध ऋक् है, गीतात्मक साम है, गद्यबद्ध यजुः है। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्ड के धारक हैं, तथा आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के वाहक हैं, किन्तु उपनिषद् की भावना में सबलता के कारण ज्ञान की ही प्रधानता हो गयी और कर्म गौण हो गया। शौनक के मत में ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 86, सामवेद की 1000 और अथर्ववेद की 100 शाखाएँ कही गयी हैं। प्रत्येक शाखा का संहिता भाग, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र होना उचित है, किन्तु आज इसका व्यतिक्रम मिलता है। किसी शाखा का संहिताभाग तो किसी शाखा का ब्राह्मण ही प्राप्त है। ऋग्वेद की आश्वलायन-शाखा महाराष्ट्र में चलती है, किन्तु उसकी संहिता शाकल शाखा की है, ब्राह्मण ऐतरेय शाखा का है, मात्र कल्पसूत्र आश्वलायन शाखा का मिलता है। ऋक्-संहिता की शाकल, शांखायन और वाष्कल-- तीन शाखाएँ मिलती हैं। कौषीतकि और शांखायन एक ही शाखा नहीं हैं। प्राचीन श्लोक के अनुसार आश्वलायन शाकल के ही शिष्य थे। इस संहिता में बालखिल्य के साथ 1028 सूक्तों में 10552 ऋचाएँ हैं। शाकल-संहिता में 10 मण्डलों में इसका विभाग है, किन्तु वाष्कल संहिता में आठ अष्टक में ही विभाग है।

ऋक्- संहिता के प्रथम और दशम मण्डल में विभिन्नवंशीय ऋषियों के मन्त्र संगृहीत हैं, दोनों मण्डलों की सूक्त संख्या 191 है। द्वितीय से सप्तमपर्यन्त प्रत्येक मण्डल में एक वंश के ऋषि का मन्त्र है। इसलिये ये छः आर्षमण्डल कहे जाते हैं। आर्षमण्डल के ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ हैं। ऋग्वेद के अनुष्ठान एवं साधना की दृष्टि से अग्नि, इन्द्र और सोम-- तीन प्रधान देवता हैं। सोमयाग में 16 ऋत्विक् होते हैं। मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषि-वंशियों के प्रवर्तक के रूप में अनेक ऋषियों के नाम मिलते हैं-- भृगु, विश्वामित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप और अंगिरा। संहिता को अधि-

कृत रूप में रखने के लिए अनेक पाठों का प्रवर्तन किया गया है। उनमें संहिता-पाठ मूल है। संहिता में वर्णस्वर का विचार और व्याकरण की संधि का नियम रहता है— यह संहिता पाठ है। संधि को अलग कर जो पाठ होता है वह पदपाठ है। शाकल-संहिता के पदपाठ के रचयिता शाकल्य हैं। संहिता पाठ और पदपाठ को मिलाकर क्रमपाठ होता है। क्रमपाठ से 8 पाठ की सृष्टि होती है— क्रम, जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड और घन।

-ऋग्वेद-

ऋक् संहिता में देवताओं की स्तुतियाँ अधिक हैं, अतः इसके ब्राह्मण में होतृकर्म की विज्ञप्ति और व्याख्या है। इसके दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं।— ऐतरेय और शांखायन। ऐतरेय ब्राह्मण का संकलन महिदास ऐतरेय ने किया है। इसमें 40 अध्याय हैं। पाँच अध्यायों को लेकर एक-एक पंचिका है। प्रथम सोलह अध्यायों में अग्निष्टोमयाग का विवरण मिलता है। शांखायन ब्राह्मण के सप्तम अध्याय से शेष अध्यायों में सोमयाग का विवरण है। इस ब्राह्मण में श्रौत यज्ञ एक विशिष्ट श्रृंखला में संयोजित है। ये यज्ञ आदित्य की गति का अनुसरण करते हैं। अहोरात्र, पक्षद्वय, मास या ऋतुपर्याय और संवत्सर को काल मानकर इनका सम्पादन होता है। आधुनिक मनीषियों ने ऐतरेय को प्राचीनतम माना है।

-सामवेद-

साम- संहिता की 3 शाखाएँ मिलती हैं— राणायनीय, कौथुम और जैमिनीय या तलवकार। कौथुम— संहिता के दो भाग हैं— आर्चिक और गान। आर्चिक के प्रायः सभी मन्त्र शाकल-संहिता से लिये गये हैं। केवल 99 मन्त्र शाकल-संहिता में नहीं मिलते। आर्चिक के पुनः दो भाग हैं— पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में मन्त्र संगृहीत हैं और उत्तरार्चिक में यागविधि के अनुसार समन्वित हैं। पूर्वार्चिक में मन्त्र स्वतन्त्र हैं, उत्तरार्चिक में सूक्त के आकार में हैं। उत्तरार्चिक

की स्वरलिपि- जो भक्ति शब्द से कही जाती है, प्रस्ताव--- जिनका गान करने वाला प्रस्तोता, उद्गीथ--- जिसका गायक उद्गाता, प्रतिहर--- जिसका गायक प्रतिहर्ता कहलाता है। अन्त में ऊँकार के उच्चारण का गान होता है, जिसे हिंकार कहते हैं। ऊँकार या हिंकार को लेकर गान सात भागों में विभक्त है। वेद में तीन स्वर हैं--- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। साम-संहिता के आर्चिक- ग्रन्थ- पाठ के समय ये तीनों स्वर लगाये जाते हैं। नारदीय शिक्षा के अनुसार ये स्वर पंचम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद और धैवत शब्द के समान हैं।

सामवेद के 9 ब्राह्मणों में जैमिनीय--- शाखा का जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मण कौथुमीय और राणायनीय शाखा का ताण्ड्य या पंचविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण तथा मन्त्र या छान्दोग्य ब्राह्मण माना गया है। अन्य ब्राह्मण अनुब्राह्मण माने गये हैं। जैमिनीय ब्राह्मण को प्राचीन ब्राह्मण के रूप में माना गया है। सायण के भाष्य में शाट्यायन ब्राह्मण के अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये जैमिनीय ब्राह्मण से मेल खाते हैं। सम्भवतः यह जैमिनीय ब्राह्मण का प्राचीन ब्राह्मण था, जो इस समय मिलता है। जैमिनीय ब्राह्मण 8 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय में कर्मकाण्ड है। चौथे से सात अध्याय पर्यन्त उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यक और उपनिषद् का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार या केनोपनिषद् सप्तम् अध्याय के एकादश खण्ड से आरम्भ होता है और 21 वें खण्ड में समाप्त होता है।

-यजुर्वेद-

यजुर्वेद को अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग यज्ञ है। त्यागकर्ता यजमान है और इसे निष्पन्न करने वाला ऋत्विक् है। देवता का आवाहन और प्रशस्ति-पाठ, स्तुतिगान और उन्हें उद्देश्य कर होमद्रव्य का आहुति-दान- यही तीन यज्ञ का मुख्य साधन है। प्रशस्ति पाठ- कर्ता होता,

स्तुतिगानकर्ता उद्गाता और आहुति-दाता अध्वर्यु है। इन मन्त्रों का संकलन यजुः संहिता है। ऋग्वेद की शाखा में अध्वर्यु यज्ञ का शरीर-निर्माता है। जिन मन्त्रों की सहायता से यह कार्य किया जाता है वे युजुः है। यजुः संहिता की दो धाराएँ हैं— कृष्ण और शुक्ल। मन्त्र और ब्राह्मण का एक साथ जहाँ निवेश है वह कृष्ण है और जिस संहिता में केवल मन्त्र का संग्रह है, वह शुक्ल है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अन्त में कहा गया है- "आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते"— अर्थात वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने आदित्य से इस शुक्ल यजुष् को प्राप्त कर इसका प्रवचन किया है।

इस समय शुक्ल यजुर्वेद की तीन शाखाएँ प्राप्त हैं— वाजसनेयी, काण्व और माध्यंदिन। वाजसनेयि- संहिता के शेष में पुरुषसूक्त, सर्वमेध-मन्त्र, शिव संकल्पादि मन्त्र अध्यात्मवाद के परिचायक हैं और अन्त में ईशोपनिषद् है। अथर्व संहिता का एक ही ब्राह्मण मिलता है, जिसका नाम गोपथ है। इसके दो भाग हैं— पूर्व और उत्तर। पूर्वभाग में 5 और उत्तर भाग में 6 प्रपाठक हैं।

-अथर्ववेद- संहिता-

अथर्ववेद-संहिता को त्रयी विद्या का परिशिष्ट या उसके परिपूरक के रूप में माना जाता है। अथर्ववेद के प्रवर्तक के रूप में तीन ऋषियों का नाम पाया जाता है— अथर्वा, अंगिरस और भृगु। ये ही तीन ऋक्-संहिता के प्राचीन तपःपुरुष के रूप में माने जाते हैं, यथा—

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम।।

{ऋ० वे० 10/14/6}

अथर्वा और अंगिरा — ये दोनों यज्ञविधि और अग्निविद्या के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। भृगु ने द्युलोक की अग्नि को भूलोक में मनुष्यों के मध्य में

प्रतिष्ठित किया (ऋ0वे0 1/58/6)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्या के प्रवर्तक हैं, किन्तु अग्नि की दीप्ति की ध्वनि मिलती है। अथर्व संहिता के मंत्रों का एक पंचमांश ऋक्संहिता से लिया गया है, जो पादबद्ध मन्त्र है। अथर्वसंहिता का एक षष्ठांश यजुर्वेद के मन्त्रों के समान गद्य में रचित है। मन्त्र-रचना की जो धारा तीनो वेदों में मिलती है, अथर्ववेद में भी उसी की अनुवृत्ति है, किन्तु दोनों के विनियोग में बहुत भेद है। तीनों वेदों का विनियोग श्रौतकर्म में है। देवता के साथ सायुज्य के ~~भेद है विनियोग भेद~~ द्वारा अमृत्व की प्राप्ति ही लक्ष्य है। अथर्ववेद का प्रधान विनियोग गृह्यकर्म में है। अनेक शान्तिक और पौष्टिक क्रियाओं के द्वारा देवशक्ति की सहायता से अभ्युदय की प्राप्ति लक्ष्य है। अथर्व-संहिता की शौनकशाखा में 20 काण्डों में 731 सूक्त और 5957 मन्त्र हैं। इसमें सप्तम काण्ड तक अनेक आभ्युदिक कर्मों के मन्त्र हैं। फलतः संहिता का यह भाग गार्हस्थ और सामाजिक-जीवन का पोषक तथा लोकहित के अनुकूल है। अधिक आयु-लाभ के लिए भैषज्य अर्थात् अरोग्य-कामना के लिए, शान्तिक अर्थात् भूतावेश आदि को दूर करने के लिये, पौष्टिक अर्थात् लक्ष्मी-लाभ के लिए, सौमनस्य अर्थात् परस्पर मैत्री सम्पादन के लिए, अभिचारक अर्थात् शत्रुनाश के लिए, प्रायश्चित एवं राजकर्म अर्थात् राष्ट्र के निरापद-रूप एवं उन्नति के लिए ये आभ्युदिक कर्म दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त विवाह, गर्भाधान आदि के भी अनेक मन्त्र इस भाग में दिये गये हैं। आठवें से बारहवें काण्ड तक अथर्व-संहिता का द्वितीय भाग है— इस भाग में भी आभ्युदिक कर्मों के मन्त्र दिए गए हैं, किन्तु उपनिषद्-भावना का ही इस भाग में विशेष स्थान है। वेद-ब्राह्मण के आख्यान-अंश में जैसे यज्ञांग को लेकर रहस्योक्ति का प्राचुर्य देखा जाता है वैसा ही यहाँ भी उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त पृथ्वी की स्तुति के रूप में समग्र वैदिक-साहित्य की अतुलनीय राजनीतिक उपलब्धि है। ब्रह्मचर्यसूक्त में ब्रह्मचारी की महिमा उदात्त-

कण्ठ से वर्णित है। गोसूक्त में वशा गौके अपर दो सूक्त हैं। इसमें रहस्यवाद की छाया सघन रूप से संध्या-भाषा की आदिजननी के रूप में उपलब्ध है। 13 से 20 काण्ड अथर्व का तृतीय अंश है। इसमें 19 और 20 परिशिष्ट अंश है। इनमें प्रत्येक काण्ड की विषयवस्तु का निर्देश है। तेरहवें काण्ड में राहित नाम से आदित्य का प्रसंग है। चौदहवाँ काण्ड विवाह-प्रकरण है। पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्यों की प्रशंसा है। सोलहवें काण्ड में शान्ति और स्वस्त्ययन के मन्त्र हैं तथा कतिपय दुःस्वप्न-नाशक सूक्त हैं। यह काण्ड भी गद्य में रचित है। सत्रहवें काण्ड में आदित्य की स्तुति है। अठारहवाँ काण्ड विस्तृत है, इसमें पितृमेध-प्रकरण है, जिसके अधिकांश मन्त्र ऋक्संहिता से लिये गये हैं। यह काण्ड पैप्पलाद-संहिता में नहीं मिलता। इसके बाद दो काण्डों का उल्लेख अथर्व-प्रातिशाख्य में नहीं मिलता, अतः मनीषियों का अनुमान है कि ये बाद में संयोजित किये गये हैं। इनमें भैषज्य-विषयक तीन और दुःस्वप्ननाशक छः सूक्त हैं। कतिपय मणिधारणसूक्त इस काण्ड की विशेषता है। इनके अतिरिक्त यज्ञ, दर्भ, कालरात्रि, नक्षत्र, शान्ति आदि इसमें वर्णित है। पुरुष-सूक्त परिवर्तित रूप में यहाँ संगृहीत है। आत्म-सूक्त में सद्वाक्यभाव-- "वरदा वेदमाता" का उल्लेख भी इसी काण्ड में है, जिसमें गायत्री-उपासना की दृष्टि सुस्पष्ट है।

-न्याय-

सम्पूर्ण-विश्व का दुःख में निमग्न देखकर महामुनि गौतम ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए न्याय-शास्त्र का प्रणयन किया। इसका दूसरा नाम आन्वीक्षिकी-विद्या भी है। न्याय-सूत्र में 5 अध्याय हैं। प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान--- इन सोलह तत्वों का वर्णन है। इनके तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस सूत्र के प्रणेता गौतम हैं।

न्याय-सूत्र के भाष्यकार आदि अक्षपाद का न्याय-सूत्र के प्रणेता के रूप में उल्लेख करते हैं। गौतम या गौतम मुनि की भी प्रणेता के रूप में चिरकाल से प्रसिद्ध हैं। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि अहल्यापति गौतम मुनि का ही दूसरा नाम अक्षपाद है—

अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।

गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः।।

{माहे०खण्ड 55/5}

अन्य पुराणों में भी उपलब्ध है कि अक्षपाद गौतम ऋषि एक महान् तपस्वी हुए, जिन्होंने न्याय-शास्त्र की रचना की। इस विद्या की अतिशय प्रशंसा शास्त्रों में मिलती है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।

"आन्वीक्षिकी विद्या सदा सम्पूर्ण विद्याओं की प्रदीपस्वरूपा, सभी कर्मों की उपायरूपा तथा समस्त धर्मों की आश्रयभूता मानी गयी है।"

अक्षपाद ने मोक्ष की प्राप्ति का उपाय न्याय-सूत्र के द्वितीय सूत्र में वर्णित किया है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्त-

रोत्तरापायेतदनन्तरापायाद पवर्गः।

{न्याय०-1/1/2}

कार्य बाद में होता है और कारण पूर्व में होता है अतः कारण के नाश से कार्य का नाश कहा गया है। उन्होंने इसी अध्याय के 22वें सूत्र में कहा है—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। न्याय-भाष्यकार ने कहा है कि "तद् अभयम् अजरम् अमृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति।"

इस प्रकार न्याय का उद्देश्य मोक्ष है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति आवश्यक है।

-मीमांसा-

विविध विद्याओं से समन्वित वेद- कल्पतरु की सुशीतल छाया में त्रिविध-तापदग्ध जीव शान्ति-लाभ करते हैं, इसका अर्थ-विचार ही मीमांसा है। कर्म और ज्ञान के भेद से ही मीमांसा {पूर्वमीमांसा} वेदान्त {उत्तरमीमांसा} अर्थात कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा है। उपासनाकाण्ड ने, जो श्रद्धा के आवेश पर प्रतिष्ठित है, अपना अस्तित्व ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में विसर्जित कर दिया। वैदिक-काल पर दृष्टिपात करने पर उपासना में ही कर्म और ज्ञान अपने भेद को समाप्त कर अंग के रूप में अवस्थित रहते हैं। उपासना में गृहस्थ, सन्यासी, कोई वर्ण विशेष या आश्रमविशेष ही आबद्ध न था। कर्म और ज्ञान चारों वर्णों के साथ आश्रम की दृष्टि से भिन्न थे। चतुर्विध पुरुषार्थस्वरूप स्तन्यपान कराने के लिए वेदमाता सतत् उद्यत थी। कर्म से अनादिकाल से संचित पाप पंक का प्रक्षालनपूर्वक चित्त की निर्मलता सम्पादित होती है। तदनन्तर विश्व-कल्याण कामनारूपी निष्कामभाव से शास्त्रीय कर्मों का विधि के अनुसार अनुष्ठान कर ब्रह्माद्वैत या विश्वाद्वैत का ज्ञान होता है।

मीमांसा में तीन स्थान प्रसिद्ध हैं---- प्रभाकर {गुरुमत}, कुमारिल {भाट्ट-मत} और मुरारिमिश्र {मिश्रमत}। प्रभाकर ने जिस मीमांसा-सिद्धान्त का समर्थन किया है वह अतिशय प्राचीन है। कर्म के प्रतिपादक वेदभाग की ही मीमांसा प्रभाकर ने की है।

मीमांसा- सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रमाण-लक्षण है। इसमें धर्म के प्रमाण के सम्बन्ध में धर्म के लक्षण एवं बौद्धों के धर्म और प्रमाण के विषय में प्रदर्शित सिद्धान्त का खण्डन है।

द्वितीय अध्याय भेद-लक्षण है। उत्पत्ति-विधि के द्वारा बोधित कर्म की

चार पादों में आलोचना की गयी है, किन्तु उत्पत्ति-विधि की आलोचना प्रधान है। तृतीय अध्याय शेष-लक्षण है। शेष अंग, अंगी या प्रधान का उपकारक होता है। इस अध्याय के आठ पादों में इनकी आलोचना की गयी है।

चतुर्थ अध्याय प्रयोग-लक्षण है। इसमें कौन धर्म किसके द्वारा प्रयुक्त होकर का जनक होता है, इस प्रकार प्रयोग से सम्बद्ध विषय का वर्णन है।

पंचम अध्याय क्रम-लक्षण है। मुख्य एवं प्रवृत्ति के अनुसार कर्म का परम्परा-क्रम में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान--- इन चार पादों में वर्णन है। इस प्रकार चतुर्थ और पंचम अध्यायों में प्रयोग-विधि की आलोचना है।

षष्ठ अध्याय अधिकार-लक्षण है। किस कर्म में किसका अधिकार है, षष्ठ अध्याय के आठ पादों में इसकी आलोचना की गयी है।

सात और आठ अध्यायों के चारों पादों में सामान्यातिदेश एवं विशेषातिदेश का निरूपण है। इसे अतिदेश- लक्षण कहा गया है। नवम् अध्याय के चारों पादों में ऊह का व्याख्यान है।

दशम अध्याय बाधविवाद-लक्षण है। इस अध्याय के आठ पादों में बाध-लक्षण का विचार है।

एकादश अध्याय तन्त्र-लक्षण है। इसके चार पादों में [illegible] तन्त्र का विचार किया गया है।

द्वादश अध्याय प्रसंग-लक्षण है। इसके चार पादों में प्रसंग-लक्षण का विचार किया गया है।

"इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति......"

अर्थात् कर्तव्य अंश का पूरण मीमांसा करती है। कर्तव्य और कर्म दोनों की शिक्षा इस दर्शन की देन है। इसमें जितने भी यज्ञ विहित रूप में वर्णित हैं, वे लोक यात्रा के निर्वाहक जल, अग्नि आदि की प्राप्ति के लिए ही हैं, अतः व्यवहार-जगत् की कर्तव्यता के ज्ञान की सनातन शिक्षा मीमांसा से ही प्राप्त हो सकती है,

इसलिये कुमारिल ने इसका आरम्भ दुर्गा के कीलक-मन्त्र से किया है--

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।

श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।।

इसमें ज्ञान-शरीर को महत्व देकर शिक्षा को चरम सोपान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

तीन प्रकार के प्रपंच पुरुष को बन्धन में लाते हैं-- भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ और भोग्यरूप, रस, शब्द आदि। इसलिये मधुसूदन ने मीमांसा की मुक्ति का वर्णन करते हुए कहा है-- "आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से धर्म-अधर्म के विनाश के लिए देह, इन्द्रिय आदि का आत्यन्तिक निराकरण ही मोक्ष है।" इस प्रकार मीमांसा दर्शन की शिक्षा का पर्यावसान ज्ञान और कर्म में होता है।

लोकोपयोगी अनेक विद्याओं का वर्णन पुराणों में, विशेषतः विश्वकोशीय अग्नि०, गरुड़० तथा नारदीय० में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। पुराणों ने इन विद्याओं के आचार्यों के नाम तथा मत दिये हैं, जो अज्ञात या अल्पज्ञात हैं। अतः संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का भी परिचय पुराणों के गम्भीर अध्ययन से सर्वथा सुलभ है। इसी दृष्टि से भी पुराणों का अध्ययन लोकोपयोगी तथा कल्याणकारी है।

-अश्वशास्त्र-

यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व के 5/109 में अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वों की चिकित्सा के निमित्त एक स्वतन्त्र आयुर्वेद विभाग था, जो "शालिहोत्र" के नाम से प्रख्यात था। पुराणों से अश्व के सामान्य परिचय, उनके चलाने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषयों की सम्यक् जानकारी

हमें हो सकती है। अग्निपुराण {अध्याय 288} में घोड़ों के बनाने के प्रकारों का बड़ा ही उपयोगी वर्णन है। इस पुराण के 289-290 अ0 में अश्वों की चिकित्सा संक्षेप में वर्णित है। गरुड़ पुराण के {201अ0} अध्याय में भी यह विषय विवृत हुआ है। इसी के प्रसंग में हस्तिशास्त्र का भी विवरण बड़ा उपयोगी है। सोमपुत्र बुध गजवैद्यक के प्रवर्तक थे— ऐसी पौराणिक अनुश्रुति मत्स्यपुराण {24/2-3} में निर्दिष्ट है। गजायुर्वेद का वर्णन धन्वन्तरि ने किया था। इसका संक्षिप्त विवेचन गरुडपुराण {201अ0, 33-39 श्लो0} में उपन्यस्त है। अग्निपुराण के 287 अध्याय में यह विषय विवृत है तथा 291 अ0 में गजशान्ति का उपन्यास है। मत्स्यपुराण में संकीर्तित सोमपुत्र बुध का निर्देश पालकाप्य ने अपने हस्तिविद्याविषयक ग्रन्थ में किया है। मत्स्य का कथन इस प्रकार है—

> तारोदर-विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभः।
>
> सर्वार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः ।।
>
> नाम्ना यद् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
>
> राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वात् राजपुत्रो बुधः स्मृतः।।
>
> ———मत्स्य0, 24/2-3

मल्लिनाथ के रघुवंश {4/39} की टीका में "राजपुत्रीय" से गम्भीरवेदी हस्ती का लक्षण उद्धृत किया गया है।

अग्निपुराण {282 अध्याय} गायों की चिकित्सा का अलग से वर्णन करता है। इस प्रकार, पशु-चिकित्सा के विविध प्रकारों का वर्णन पुराणों ने प्रस्तुत किया है।

2 -आयुर्वेद-

आयुर्वेद एक लोकोपयोगी जनजीवन से नित्यप्रति सम्बद्ध शास्त्र है। फलतः

लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है, अग्नि तथा गरुड़— दोनों पुराणों से यह विषय विशद रूप से वर्णित है। आयुर्वेद के अनेक विभागों में निदान तथा चिकित्सा मुख्य है। इसके निमित्त औषधियों के स्वरूप का तथा गुण का परिचय होना आवश्यक है। इन पुराणों में ये विषय विस्तार से विवृत हुऐ हैं। धन्वन्तरि यहाँ वक्ता है, जो सुश्रुत को उपदेश देते हैं। यह धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास का ही नामान्तर बतलाया जाता है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। गरुड़पुराण 56 अध्यायों में [146अ0-202अ0] इस विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रधान रोगों के, जैसे, ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि के निदान का वर्णन पहिले किया गया है [146 अ0-167 अ0]। औषधियों के नामों की विस्तृत सूची 202 अ0 में दी गयी है तथा 173 अ0-193 अ0 में द्रव्यगुण का वर्णन है। गारुडी विद्या अर्थात् सर्पदंश को दूर करने की विद्या भी 197 अ0 में विवृत है, अग्निपुराण में भी इस विषय का उपयोगी उपन्यास किया गया है। अ0279-281 तक रोगों का, 283 अ0 नाना रोगों को हरण करने वाली औषधियों का 285 अ0 में "मृत-संजीवनी" नामक सिद्ध योगों का तथा 286 अ0 में नाना कल्पयोगों का विवरण देकर पुराणकार ने चिकित्साशास्त्र का एक हस्तामलक ही मानों यहाँ प्रस्तुत कर दिया है। इतना तो निश्चय है कि इन पुराणों ने उपयोगी विद्याओं के सार-संकलन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार ही यह विषय-विवेचन किया है, जो प्रामाणिक होने के साथ ही साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी भी है।

वृक्षायुर्वेद भी भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिए तो सर्वोपरि उपादेय शास्त्र है। इसमें वृक्षों, लताओं तथा गुल्मों में लग जाने वाले रोगों की दवाओं का वर्णन है, अग्निपुराण के एक विशिष्ट अध्याय [282अ0] ही ने इस विषय का प्रामाणिक, परन्तु संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। यह भारतवर्ष की एक प्राचीन विद्या है। बृहत् संहिता की उत्पलकृत टीका [54अ0] में काश्यप, पराशर,

सारस्वत आदि इस विद्या के प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं तथा वचन भी उद्धृत किये गये हैं।

3. -रत्नपरीक्षा-

रत्नों की परीक्षा का विषय भी किन्हीं पुराणों में वर्णित है। गरुड़-पुराण में यह विषय बारह अध्यायोंमें काफी विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। {अध्याय 68-80 अ0} रत्नों का प्रथमतः विभाजन किया है और तदनन्तर उनके दोषों-गुणों का विवरण है, जिससे दुष्ट रत्नों को त्यागकर निर्दुष्ट रत्न का ग्रहण किया जाये। वज्र {68अ0}, मुक्ताफल {69अ0}, पद्मराग {70अ0}, मरकत{71अ0}, इन्द्रनील {72 अ0}, वैदूर्य {73 अ0 तथा 76 अ0}, पुष्पराग {70 अ0}, कर्केतन {75 अ0}, पुलक {77 अ0} रुधिर रत्न {78 अ0}, स्फटिक {79 अ0} तथा विद्रुम {80 अ0}--- इन रत्नों की परीक्षा तत्तद् अध्यायों में की गयी है। अग्निपुराण के 264 अ0 में यही विषय वर्णित है, परन्तु बहुत ही संक्षेप में पन्द्रह श्लोकों में केवल इसकी अपेक्षा विस्तृत, विशद तथा अधिक उपादेय है। अन्य पुराणों में भी जहाँ यह विषय आया है, उसका उल्लेख भोज-राज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "युक्तिकल्पतरु" में विशेष भाव से किया है।[1]

-वास्तुविद्या-

मन्दिर तथा राजप्रासाद की निर्माणविधि को वास्तुशास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। सामान्य गृहस्थों के लिए तो कम, परन्तु राजाओं के लिए अत्यधिक। मत्स्यपुराण ने इस विषय का बड़ा ही विस्तृत वर्णन अठारह अध्यायों में दिया है। {242अ0-270अ0}। अग्निपुराण में भी यह विषय अनेक अध्यायों में विकीर्णरूप से प्रस्तुत किया है{40अ, 93-94अ0, 105-106 अ0, 247 अ0}। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी इन विषयों का विवेचन है {2/29-31}। संक्षिप्त विवेचन गरुड़0में भी उपलब्ध होता है {1/46}। इन सबसे

1. द्रष्टव्य "युक्तिकल्पतरु"{कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशि,कलकत्ता-1916}

विस्तृत विवेचना होने के कारण मत्स्य का विवरण विशेष महत्व रखता है। प्रतीत होता है कि मत्स्य ने किसी विशिष्ट वास्तुशास्त्रीय निबन्ध का सार अपने अध्यायों में प्रस्तुत किया है। यहाँ चार विषयों का विवेचन पुराणकार करता है। —— §1§वास्तुविद्या के मूल सिद्धान्त, §2§स्थान का चुनाव तथा उस पर निर्माण की रूपरेखा, §3§ देवों की मूर्तियों का निर्माण तथा §4§ मन्दिर तथा राजप्रासादों की रचना। मत्स्य के 252अ0 में इस शास्त्र के 18 आचार्यों के नाम दिये गये हैं §भृगु, अत्रि, विश्वकर्मा, मय, नारद आदि§, इनमें से कतिपय नाम काल्पनिक हो सकते हैं, परन्तु जैसा अन्य स्रोतों से सिद्ध होता है अनेक नाम वास्तविक हैं। इन आचार्यों ने वास्तव में इस शास्त्र के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया था।[1]

गृहनिर्माण का काल §253अ0§, भवन-निर्माण §254अ0§, स्तम्भ का मान-निर्णय §255अ0§ आदि विषयों का विवरण देने के अनन्तर इस पुराण ने देवप्रतिष्ठा की विधि तथा प्रासाद-निर्माण की विधि का विवेचन विस्तार से किया है। इसी प्रसंग में प्रतिमा-लक्षण की भी चर्चा पुराणों में है। अग्निपुराण ने 49-55 अध्यायों में पूज्य देवता की प्रतिमाओं के लक्षण तथा निर्माण का विवरण दिया है। मत्स्य ने भी यही विषय 258-264अ0 में दिया है।[2] विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के तृतीय खण्ड में भी यही विषय विवृत है। पुराणों के अतिरिक्त यह

---

1. श्री तारापद भट्टाचार्य ने वास्तुविद्या के अपने अनुशीलन Indian Architecture नामक ग्रन्थ में इन 18 आचार्यों की ऐतिहासिकता का तथा उनके ग्रन्थों का समीक्षण प्रस्तुत किया है। §1947 ई0 में प्रकाशित§

2. मत्स्य के इन परिच्छेदों की विस्तृत तथा चित्रसमन्वित व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल रचित मत्स्यपुराण- ए-स्टडी- नामक अंग्रेजी ग्रन्थ§पृष्ठ342-370§।इन पृष्ठों में यह विषय बड़ी सुन्दरता तथा विशदता के साथ विवेचित किया गया है।

विषय मौलिक रूप से मानसार, चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, सूत्रधारमण्डन, रूपमण्डन तथा बृहत्संहिता §58अ0§ में विस्तार से दिया गया है।

-ज्योतिष-

ज्योतिष का भी विवरण पुराणों में यत्र-तत्र उपन्यस्त है, खगोल तो भूगोल के साथ संवलित होकर अनेक पुराणों में अपना स्थान रखता है। यथा श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में §16अ0-25अ0§ और इसी के अनुकरण पर देवीभागवत के स्कन्ध 8 §5अ0-20अ0§ में। गरुड़ पुराण में पाँच अध्याय §59अ0-64अ0§ इसी विषय के वर्तमान है, जिनमें फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण है। नक्षत्र-देवताकथन, योगिनीस्थिति का निर्णय, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा विवरण, दशाफल, यात्रा में शुभाशुभ का कथन, राशियों का परिमाण, विभिन्न लग्नों में विवाह के फल आदि विषयों का विवरण इन अध्यायों में दिया गया है। नारदीय पुराण के नक्षत्रकल्प में भी §1/55-53§ नक्षत्र सम्बन्धी बातें दी गयी हैं। इस पुराण के 54अ0 में गणित का विवरण है। अग्निपुराण के कतिपय अध्यायों में §121अ0§ शुभाशुभ विवेक के विषय में वर्णन उपलब्ध है।

सामुद्रिक शास्त्र-

स्त्री-पुरुषों के शारीरिक लक्षणों के विषय में किसी समुद्रनामक प्राचीन आचार्य का ग्रन्थ था। आज भी सामुद्रिक-शास्त्र के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु यह उतना प्राचीन नहीं प्रतीत होता। स्त्री-पुरुषों के विभिन्न अंगों के स्वरूप को देखकर, उच्चता-ह्रस्वता-दीर्घता-बहुत आदि की परीक्षा कर उनके जीवन की दिशा को बतलाना इस विद्या का अंग है। सुन्दरकाण्ड के एक विशिष्ट सर्ग में रामचन्द्र के अंगविन्यास का विवरण बड़ी सूक्ष्मता से दिया गया है। यह अंग विद्या §प्राकृत अंग विज्जा§ का विषय है। अंगविद्या सामुद्रिक विद्या के साथ के साथ सम्बद्ध एक प्राचीन विद्या थी, जिसके द्वारा नर-नारी के शरीर का

विस्तृत वर्णन शुभ या अशुभ सूचना के साथ उपस्थित किया जाता था। वीरमित्रोदय के "लक्षण प्रकाश" में भिन्न-भिन्न ने इस विद्या से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री प्राचीन आचार्यों के वचनों के उद्धरण के साथ उपस्थित की है। पुराणों ने अंगविद्या का भी संकलन अपने अध्यायों में किया है। अग्निपुराण के 243-245 अध्यायों में तथा गरुड़पुराण के 1/63-65 अध्यायों में यही विद्या प्रपंचित है। जैन धर्म में अनेक ग्रन्थ इसी अंग-विद्या (=अंगविज्जा) से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध हुऐ है, जिनमें एक प्राकृत ग्रन्थ प्राकृत ग्रन्थमाला (काशी) से हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

-धनुर्विद्या-

प्राचीनकाल में यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी, परन्तु देश के परतन्त्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बन्द्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। प्रपंचहृदय में इस शास्त्र के वक्तारूप में ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, मनु तथा जमदग्नि के नाम निर्दिष्ट है। महाभारत के अन्य पर्वों में इस विद्या के आचार्यों के नाम संस्मृत है, अगस्त्य का नाम आदिपर्व में (152/10, कुम्भकोण सं0) तथा भरद्वाज का नाम शान्तिपर्व में (210/21) धनुर्विद्या के आचार्य रूप में उल्लिखित है। जमदग्नि का उल्लेख अवश्य करते है। अग्निपुराण के चार अध्यायों में (249-252-30) इस विद्या का सार संकलित किया गया है। मधुसूदन सरस्वती ने "प्रस्थानभेद" में विश्वामित्रकृत धनुर्वेद का उल्लेख किया है, परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।[1]

-पुराणों में वर्णित विविध विद्यायें-

पुराणों में ऐसी विद्यायें आख्यानकों के प्रसंग में वर्णित है, जिन पर आधुनिक मानव प्रायः विश्वास नहीं करता, परन्तु उस युग में वे सच्ची थीं तथा उनका उपयोग जनसाधारण के बीच किया जाता था। संस्कृत में "मन्त्र",

---

1. द्रष्टव्य डा0 तारा-शंकर भट्टाचार्य, अग्निपुराण विषयानुक्रमणी पृ056-57 जहाँ अनेक उल्लेख दिये गये है।

शास्त्र, माया और विज्ञान तथा पाली में मन्त्र और विज्जा विद्या के ही पर्याय-वाची शब्द हैं। इन विद्याओं में से कुछ का संकेत यहाँ दृष्टव्य है--

1. अनुलेपन विद्या- मार्कण्डेय {अ0 61, 8-20 श्लोक} में ऐसे विशिष्ट पादलेप का संकेत है, जिसे पैर लगाने से आधे दिन में ही सहस्त्रयोजन की यात्रा करने की शक्ति आती थी। इसके उपयोक्ता एक ब्राह्मण की चर्चा है, जिसने एक अन्य ब्राह्मण को यह पादलेप दिया। इसके प्रभाव से वह हिमालय पहुँच गया, परन्तु सूरज की धूप के कारण तप्त बरफ पर पैर रखने से वह लेप धुल गया, जिससे यात्रा की वह अलौकिक शक्ति नष्ट हो गयी।

2. स्वेच्छारूपधारिणी विद्या- मार्कण्डेय {द्वितीय अ0} में इसका सुन्दर दृष्टान्त है। जब कन्धर ने अपने भ्राता अंक के वध का बदला चुकाने के लिए विद्युद्रूप राक्षस का वध किया, तब उसकी पत्नी मदनिका ने कन्धर के निकट आत्मसमर्पण किया। मदनिका को यह विद्या आती थी, जिससे स्वेच्छया अभीष्ट रूप को धारण किया जाता था। वह कन्धर के घर में आकर पक्षिणी बन गयी {द्वितीय अ0} इस विद्या के प्रभाव से महिषासुर ने स्वेच्छा से सिंह, योद्धा, मतंग तथा महिष का रूप धारण किया था। {मार्क0 83/28, स्कन्द, ब्रह्मखण्ड 7/15-27}। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में राजा धर्ममूर्ति की प्रशंसा में कहा गया है कि वह "यथेच्छरूपधारी" था {21-3}।

3. अस्त्रग्राम हृदय विद्या- इसके द्वारा अस्त्रों का रहस्य जाना जाता था, जिससे शत्रुओं की पराजय अनायास होती थी। मनोरमा नामक विद्याधरी के इस विद्या के ज्ञान की कथा मार्कण्डेय {63/10} में दी गयी है जिसने अपने आक्रमणकारी राक्षस से मुक्ति पाने के निमित्त राजा स्वारोचिष को यह विद्या दी थी। वहाँ इस विद्या के उपदेशक्रम का भी वर्णन है। स्वायम्भुव मनु-वसिष्ठ-चित्रायुध {इसी विद्याधरी का मातामह}-- इन्दीवराक्ष {इस विद्याधरी का पिता} - मनोरमा

(मार्क०, 63/24-27)। मनोरमा ने इसे पात्रान्तरित करते समय जलस्पर्श कर आगम और निगम के साथ इसे राजा स्वारोचिष् को दिया।

4- <u>सर्वभूतरुत विद्या</u>- इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीव-जन्तुओं की ध्वनियों का अर्थ समझ लेता है। विद्याधर मन्दार की कन्या विभावरी ने यह विद्या राजा स्वारोचिष् को दहेज में दी थी (मार्क०64/3)। मत्स्यपुराण (20/25) राजा प्रद्युम्नदत्त को इस विद्या का ज्ञाता बतलाता है, जिसने नर-मादा चींटियों के परस्पर मनोरंजक प्रेमालाप को समझ लिया था। इसी राजा के विषय में इस घटना का उल्लेख पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड, 10/85) भी करता है। आजकल बन्दरों की बोली समझने तथा उसका रेकार्ड कर उपयोग करने वाले जर्मनी के वैज्ञानिकों की बातें सुनी जाती हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य पशुओं की बोलियों पर भी इसी प्रकार के अनुसन्धानों में सफलता मिले।

5- <u>पद्मिनी विद्या</u> - इस विद्या के प्रभाव से निधियों को वश में किया जाता था, जिससे इसके ज्ञाता को कभी भी धन की कमी नहीं होती थी। कलावती के द्वारा राजा स्वारोचिष् को इसके दान की कथा मार्क० (64/14) में दी गयी है।

6- <u>रक्षोघ्न विद्या</u>- यज्ञों को अपवित्र बनाने वाले राक्षसों को दूर करने की विद्या मार्क० 70/21 में कल्माष राक्षस का इसी विद्या के द्वारा [illegible] वर्णित है।

7- <u>जालन्धरी विद्या</u>- महर्षि वाल्मीकि ने कुशलव को इस विद्या की शिक्षा दी थी। (पद्मपुराण-पातालखण्ड 37/13)। इसके रूप का ठीक परिचय नहीं मिलता। सम्भवतः अन्तर्धान से इसका सम्बन्ध हो।

8- <u>विद्यागोपाल मन्त्र</u>:- भगवान शंकर ने तापसवेशी सुमेधस मुनि के पुत्र को यह मन्त्र दिया था। (पाताल खण्ड 41/132) इस मन्त्र के प्रभाव से जिसमें इक्कीस अक्षर होते हैं, साधक को वाक्-सिद्धि प्राप्त होती थी।

9. श्रद्धा लाला विद्या- सर्वसिद्धिप्रदायिनी इस विद्या के प्रभाव से अर्जुन को कृष्णलीला का रहस्य समझ में आया था। भगवती त्रिपुरासुन्दरी ने इस विद्या का प्रथम उपदेश अर्जुन को किया था। §पाताल खण्ड 43/40§

10. पुरुष प्रमोहिनी विद्या- इस विद्या के प्रभाव से स्त्रियाँ पुरुषों को मोहित कर अपने वश में कर लेती हैं। दनराज की कन्या सुनीथा को रम्भा द्वारा इस विद्या के शिक्षण का वर्णन भूमिखण्ड §34/38§ में है, जिससे वह प्रजापति अत्रि के पुत्र अंश की धर्मपत्नी तथा वेण की माता बनी §भाग0§। वशीकरण विद्या का वर्णन अग्निपुराण §123/26§ में है। इसके कई नुस्खे भी दिये गये हैं, जिसके लगाने से मनुष्यों की कौन कहे, स्वयं देवता भी वश में हो जाते हैं।

11-उल्लापन विधान विद्या- इस विद्या के प्रभाव से टेढ़ी वस्तु सीधी की जा सकती थी। श्रीकृष्ण ने इसी विद्या के बल से मथुरा की विख्यात कुबड़ी कुब्जा को सरल, सीधी तथा स्वस्थ बना दिया था §विष्णु पुराण,5/20/9- शौरि-रुल्लापन विधानवित्§।

12. देवहूति विद्या- दुर्वासा द्वारा कुन्ती को दी गयी विद्या, जिससे देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे। सूर्य भगवान के स्मरण करने पर उनके शरीर प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध ही है §भाग0 9/24/32§।

13. युवकरण विद्या:- स्पर्शमात्र से ही जीर्ण वस्तुओं को युवक बनाने की विद्या। राजा शन्तनु को यह विद्या आती थी, जिसके बल पर वह स्पर्शमात्र से ही बूढ़ों को नवयुवक बना देता था §भागवत0, 9/22/11§।

14. बलाबलहारिणी विद्या- युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं को परास्त करने के लिये यह विद्या अचूक मानी जाती थी §लिंगपुराण 51/30§। इसी प्रकार अनेक चमत्कारिणी विद्याओं के संकेत पुराणों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ के नाम तथा स्थान इस प्रकार हैं—

सिंहविद्या (अग्नि०,43/13), नरसिंह विद्या (अग्नि०,63/3), गान्धारी विद्या (अग्नि०,124/12), मोहिनी विद्या तथा जृम्भणी विद्या (अग्नि०, 323/4-20), अन्तर्धान विद्या (भाग०,4/15/15), वैष्णवी विद्या या नारायण कवच (भाग०,6/8), त्रैलोक्यविजय विद्या (ब्र० वै०- गणेश खण्ड 30/1-32) आदि।

पुराणों के गम्भीर अनुशीलन से यदि इन विद्याओं के स्वरूप का परिचय मिल सके, तो इस वैज्ञानिक युग में नवीन चमत्कार आज भी दिखलाये जा सकते हैं।

भारतीय प्राचीन संस्कृति के चरम उत्कर्ष की झलक प्राचीन काल में प्रचलित विद्याओं के उपलब्ध विवरण में देखी जा सकती है। जिस प्रकार, पाश्चात्य सभ्यता का यन्त्रों पर अवलम्बित उत्कर्ष आज हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है, वैसे ही भारत में प्राचीनकाल में जिन विद्याओं का प्रचार था, उनसे समस्त भारत ही नहीं, पूरा विश्व प्रभावित था। ये विद्यायें केवल पठन-पाठन और प्रवचन तक ही सीमित न थीं, अपितु सामाजिक जीवन के छोटे से-छोटे क्षेत्र से आरम्भ करके बड़े-से-बड़े क्षेत्रों को सुखी और सुविधा-सम्पन्न करने में समर्थ थीं। इन विद्याओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्तमान भौतिक विज्ञान की भाँति इनका विकास यन्त्र आदि पर आधृत नहीं था, अपितु इनके विकास का पूर्ण आधार-आत्मिक शक्ति ही थी, जिसका योगशास्त्र और मन्त्रशास्त्र से विशेष सम्बन्ध है। आज विद्याओं के विकास के उस प्रकार के क्रम के विलुप्त हो जाने के कारण हम यदि कहीं उस प्रकार की बातों को देखते हैं, तो उसे जादू या क्षणिक चमत्कार की ही संज्ञा देते हैं। हमारा क्थमपि यह विश्वास नहीं हो पाता कि इन बातों पर पूरे

समाज का विकास कभी अवलम्बित रहा हो। हमारी इस प्रकार की धारणा का यही एकमात्र कारण है कि इस क्रम का कोई प्रचार या अधिकता में इसकी उपलब्धि आज नहीं हो रही है। भौतिक या यान्त्रिक सिद्धियाँ स्वभावतः आध्यात्मिक सिद्धियों की ओर से दृष्टि को हटा देती हैं। प्राचीन सिद्धियाँ यद्यपि भौतिक जीवन को ही प्रभावित किया करती थीं, तथापि उनके नियन्त्रण में आत्मशक्ति अपना पूरा प्रभाव रखती थी। आत्मिक शक्तियाँ भौतिक युग में दुर्बल पड़ जाया करती हैं, फलतः आध्यात्मिक सिद्धियाँ भी अलभ्य हो जाती हैं।

यदि हम इन प्राचीन भारतीय विद्याओं की वास्तविकता पर किसी कारण विश्वास न भी करना चाहें, तो भी इनका जानना इसलिये भी आवश्यक हो जाता है कि प्राचीन वांगमय में उपवर्णित घटना-चित्रों की तार्किकता इन विद्याओं की रूपरेखा को बिना जाने समझ में ही नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में इन विद्याओं के विधान पर विश्वास न करने का अर्थ होगा कि हम समस्त उपवर्णित प्राचीन कथानकों को मिथ्या या कल्पना पर आधृत मान बैठे हैं। यदि सारी उपवर्णित प्राचीन घटनाओं को कल्पना-प्रसूत मान लिया जायगा, तो भारतीय जन-मानस में जो उन घटनाओं का व्यापक प्रभाव जमा हुआ है, वह सर्वथा निराधार हो जायेगा। किन्तु निराधार वस्तु का इतना व्यापक प्रभाव हो जाना तर्क-विरुद्ध और सर्वथा असंगत है।

भारतीय विद्यायें दो विभिन्न रूपों में विकसित हुई थीं। यद्यपि दोनों का मूल स्रोत एक ही था और वह था सभ्यता के विकास की तीव्र भावना और मानवीय चरम लक्ष्य की पूर्ति। निगम और आगम- ये उनदो विकसित रूपों की प्राचीन संज्ञाएँ हैं। जिन चौदह या अट्ठारह प्राचीन विद्याओं की गणना प्रसिद्ध है, वे केवल निगम-विद्याओं के ही भेद हैं। इनमें चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग तथा उत्तरांग आते हैं। इन उत्तरांगों की व्यवस्था कुछ अस्पष्ट है। दर्शन, इतिहास,

पुराण और यज्ञ ये चार वेदों के उत्तरांग माने गये हैं, ऐसा अनुमान होता है। उत्तरांगों का सम्भवतः परवर्ती काल में वांग्मय के रूप में संगठन हुआ। उससे पूर्व स्मृति में ही इसकी सत्ता रही होगी। यही कारण है कि चौदह विद्याएँ ही प्रसिद्ध हुईं, अट्ठारह विद्याओं की गणना के उद्धरण कम मिलते हैं। जब ये उत्तरांग भी शब्दबद्ध होकर वांग्मय का अंग बन गये तब ये भी विद्याओं की गणना में निविष्ट कर लिए गये। फलतः गणना चौदह से अट्ठारह हो गई। "कौटिलीय अर्थशास्त्र" और "काव्यमीमांसा" आदि ग्रन्थों में विद्याओं के अनेक प्रकार से जो भेद दिखाये गये हैं, उनका प्रयोजन तत्तद् विद्याओं के महत्व-प्रदर्शन से ही है, न कि वहाँ विद्याओं की पूर्णत्वेन गणना करना उनका लक्ष्य है। चौदह विद्याओं की गणना करने के पश्चात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति इन चार विभागों को जोड़ देने से भी अट्ठारह की गणना कहीं-कहीं मिलती है परन्तु उसमें पुनरुक्ति हो जाती है। इन चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन से ही विशेष सम्बन्ध है। इनका प्रायोगिक क्षेत्र बहुत अल्प है।

वेद- चार विद्याओं के प्रसंग में यहाँ त्रयी पद से जिन तीन वेदों की गणना की जाती है, उन्हें सभी ने विद्याओं की गणना में प्रधान रूप से लिया है।

वार्ता- "वार्ता" पद से बहुत लोग इतिहास समझेंगे, किन्तु पुराण आदि में जो इस पद का विवरण मिलता है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि वार्ता शब्द का अर्थ वृत्ति के उपाय है। भिन्न-भिन्न वर्णों की वृत्ति के उपाय जिसमें उपाय बताये गये हों, वही "वार्ता" विद्या थी।

-आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या-

"आन्वीक्षिकी" तर्कविद्या को कहते हैं। इसका विवरण न्यायभाष्य में इस प्रकार किया गया है- प्रत्यक्षागमाभ्यां ईक्षितस्य अनु ईक्षण अन्वीक्षा तया

प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी। इस विवरण के अनुसार आजकल के बड़े-बड़े आविष्कार इस विद्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। रेलगाड़ी के आविष्कार के सम्बन्ध में सुना जाता है कि किसी यूरोपियन ने एक जलयुक्त पात्र को अच्छी तरह चारों ओर से बन्द करके अग्नि के मुख पर रख दिया। उसमें भाप इकट्ठी होकर वह उछलकर नीचे गिर पड़ा, यह प्रत्यक्ष हुआ। इसी आधार पर उसने अनुमान किया कि वाष्प में बड़ी भारी शक्ति है, अतः यह किसी चीज को उछाल सकती है या दौड़ा सकती है। इसी शक्ति का विचार करते-करते उसने रेलगाड़ी बनाई। इस तरह प्रायः सभी आविष्कार प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमानों से निकाले गये हैं। ये सभी भारतीय तर्कविद्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन 18 विद्याओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रितः।

वेदस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

"चार वेद और छह वेदांग तथा इन दसों के साथ पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ये चार उपांग मिलकर चौदह विद्याएँ होती हैं। यही चौदहों धर्म के भी स्थान हैं— अर्थात् इनसे ही भारतीय धर्म प्रकाशित होता है।"

-पुराण-

इन चौदहों विद्याओं वाले श्लोक में "पुराण" का नाम सर्वप्रथम है। अन्यत्र भी पुराण का नाम सर्वप्रथम आया है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरंच वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।

अर्थात्, पहले ब्रह्मा ने पुराणविद्या ही प्रकाशित की थी और पीछे उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए। कृपया इसे उपहास की बात न समझें, अपितु यह युक्तिसंगत है। इस पर प्रकाश डालते हुए पुराण कहते हैं कि संसार को प्रकृति ने बनाया है,

जिसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने का आदेश हमारे "वेद" देते हैं। वस्तुतः, पुराण आजकल की भाषा में "फिजिक्स" कहे जा सकते हैं और "वेद" "केमेस्ट्री"। "फिजिक्स" के बिना "केमेस्ट्री" कोई काम नहीं दे सकती। इसी आधार पर पुराणों का कथन है कि पुराण सबसे पहले प्रकट हुआ और उसमें वर्णित प्रकृति का पूर्ण चरित्र जानकर फिर उसमें अपने अनुकूल, अपनी जाति के अथवा अपने देश के अनुकूल उचित परिवर्तन करने के उद्देश्य से "वेदों" का प्रादुर्भाव हुआ। यह प्रादुर्भाव का क्रम सर्वथा युक्तिसंगत है। वेद के अथाह सागर में गोता लगाने वाले और उसका विज्ञान समझने वाले जान सकते हैं कि वेद किस प्रकार अपनी जाति के या अपने देश के अनुकूल परिवर्तनों की शिक्षा देता है।

न्याय- "न्याय-विद्या" तो वही "आन्वीक्षिकी विद्या" है।

मीमांसा- "मीमांसा" वेद के वाक्यार्थ समझने का शास्त्र है और वेद के वचनों को सरल भाषा में सब लोगों को समझाने के लिये स्वतंत्र शास्त्र है।

धर्मशास्त्र- "धर्मशास्त्र" हमारे स्मृति-ग्रन्थ हैं, जिनमें देश, काल एवं पात्र के अनुसार समाज-व्यवस्था के नियम-कानून, आचार-विचार तथा लोक-व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। ये चार उपांग हैं, जिनकी चर्चा की गई।

अंगविद्याएँ:- वेद के अंग छह हैं,— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। इनमें "शिक्षा" उस विद्या का नाम है, जो वेद के मन्त्रों तथा ऋचाओं के उच्चारण की विधि सिखाती है। कल्प वेदोक्त विधियों की सबके समझने योग्य व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्याकरण शब्द-साधन की प्रक्रिया बतलाता है। निरुक्त एक प्रकार का भाषा-विज्ञानशास्त्र है। वह भाषा का पूर्ण विज्ञान भी देता है। और स्थान-स्थान पर वेद के विज्ञानों को भी प्रकट करता है। "ज्योतिष" तारा‌ओं की विद्या है, जिसे जाने बिना वेद का मर्म नहीं जाना जा सकता। फिर "छन्द"

वह विद्या है, जो वेद के भिन्न-भिन्न देवताओं के संकेत-प्रतीक को प्रकट करती है। किस देवता की स्तुति किस छन्द में की जाये, इसका एक नियम वेद में है, उसी के अनुसार छन्द देखकर कोई जान ले सकता है कि इस मन्त्र में इस देवता की स्तुति है। इन "अंगों" और उपांगों की सहायता से ही वेद की गम्भीरता समझी जा सकती है।

"शिवमहिम्नःस्तोत्र" में भी एक जगह विद्याओं का विवरण आया है--

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

इसमें चार विद्याएँ बताई गई हैं। वेदों की भाषा के अनुसार उन्हें त्रयी {तीन} कहा गया है। भाषा तीन प्रकार से ही बोली जा सकती है-- गद्य, पद्य और गान-रूप में। उनमें गद्य "यजु" है, पद्य "ऋक्" है और गान "साम" है। इनको कर्म करने वाले ऋत्विजों के भेद से चार भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त "महिम्नःस्तोत्र" में जो सांख्ययोग के नाम आते हैं, वे सभी दर्शनों का संकेत करते हैं और पशुपति-मत तथा वैष्णव-मत ये भिन्न-भिन्न उपासना-मार्गों के संकेत हैं।

कई विद्वानों ने केवल दो भेद माने हैं-- एक दर्शन और दूसरी विद्या। जो परोक्ष रूप से ही अपने विषयों को समझाती रहे, उसे "विद्या" कहा जाता है और जो जानकर अनुभव में लिया जा सके, उसे "दर्शन" कहते हैं। दर्शनों में जिन आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि का विवरण मिलता है, वे सब अनुभव में लेने की वस्तुएँ हैं। इन दर्शनों के 36 भेद विद्या-वाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ने अपने "शारीरिक विमर्श" नाम के ग्रन्थ में दिखाये हैं।

-आगम विद्याएँ-

इसके अतिरिक्त जो आगमविद्याओं के भेद-प्रभेद हैं, उनका प्रायोगिक क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन काल में जीवन के सभी क्षेत्र प्रभावित थे। आगम-

विद्याओं के मुख्य भेद इस प्रकार हैं-- कल्प, सिद्धान्त, संहिता, तन्त्र, यामल और डामर-- इनमें "कल्पों" को "आम्नाय" भी कहा जाता था। इतिहास और उनके प्रकीर्ण विषय "सिद्धान्त" के अन्तर्गत आते थे। वृष्टि आदि के जानने के निमित्तों का अध्ययन "यामल" का विषय था। अनेक प्रकार के अभिचार और उनका निवर्तन "डामर" कहलाता था। मणि, यन्त्र और औषधियों की विलक्षणताओं का अनुभव प्राप्त करना "तन्त्र" का विषय था। तन्त्रविद्या के सहस्त्रों भेद भारत में विकसित हुए। फिर उनसे अनेक मार्ग निकले। प्राय: ऐसा माना जाता है था और प्रत्यक्ष भी था कि तन्त्रविद्या के पारंगत मनीषियों के साथ कोई स्पर्द्धा नहीं कर सकता था। उपर्युक्त सभी आगमविद्याओं के प्रभेद भी अनेक हैं, जिनमें एक-एक भेद पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये और उनका प्रायोगिक रूप भी सर्वत्र प्रचलित था। ये वे विद्यायें हैं, जिनका प्राकृतिक पदार्थों से ही विशेष सम्बन्ध है। अत:, इन्हें प्राकृत-विद्या भी कहते हैं।

-दिव्यविद्याएँ या सिद्धियाँ-

इनके अतिरिक्त आत्मबल से प्राप्त होने वाली विद्यायें या सामर्थ्य-पृथक् परिगणित किये गये हैं, जिन्हें "दिव्यविद्या" कहा जा सकता है। योगाभ्यास से आत्मबल की उपलब्धि के अनन्तर ये दिव्य-सामर्थ्य प्राप्त होते थे।

इन दिव्यविद्याओं की पृष्ठभूमि में आत्मा या चेतना ही मुख्य है। इस चेतना में मन और इन्द्रियों के द्वारा बल का आधान किया जाता था। प्राचीन भारतीय मनीषी इस बात को भली-भाँति जानते थे कि परम शक्तिशाली पदार्थ की शक्ति भी यदि विकेन्द्रित होकर अनेक धाराओं में प्रवाहित होने लगे, तो वह पदार्थ अपनी सारी शक्ति खो देता है। उसकी शक्ति तभी बढ़ती है, जब उस शक्ति को संयत और केन्द्रित रखा जाये। हमारे मन और इन्द्रियों में जो अदम्य शक्ति है, उसका विकेन्द्रित होना ही हमें निर्बल बनाता है। यदि उस

शक्ति को केन्द्रित करके आत्मा की ओर उन्मुख किया जाये, तो वह शक्ति अत्यधिक विकसित हो जायेगी, क्योंकि मन, इन्द्रियाँ और उनकी सभी शक्तियाँ स्वतः जड़ हैं। वे जब बाह्य जड़ पदार्थों के सम्पर्क में आयेंगी, तब उनमें जड़ता या क्षीणता का ही अधिक संचार होगा और वे ह्रासोन्मुख होती जायेंगी। इसके विपरीत मन और इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ यदि चेतन आत्मा की ओर उन्मुख होती रहेंगी, तो आत्मचैतन्य के सम्पर्क से वे जगमगा उठेंगी।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर दिव्यविधाओं का विकास समझ में आ सकता है। प्राचीन साहित्य में इनके विवरण और उदाहरण विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यौगिक क्रियाओं से मन का संयम करने पर जो शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, वे ही आठ सिद्धियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं— अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। "अणिमा"- सिद्धि प्राप्त हो जाने पर शरीर को संकल्पमात्र से छोटे-से-छोटा रूप दिया जा सकता है। रामायण में हनुमान के चरित्र में मशक रूप धारण करके उनके लंका में प्रवेश करने का वर्णन मिलता है। ऐसे ही अन्य वर्णनों में "अणिमा" सिद्धि का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार संकल्पमात्र से बड़े से बड़ा रूप धारण करने का सामर्थ्य महिमा- सिद्धि से प्राप्त हो जाता है। रामायण के हनुमच्चरित्र में ही सुरसा राक्षसी के मुख के भीतर न समा जाने के लिये हनुमान् के काय-वैपुल्य का वर्णन मिलता है तथा पुराणों में भगवान् के मत्स्यावतार में छोटी मछली महामत्स्य बन गई। यह वर्णन भी "महिमा"- शक्ति के आधार पर ही संघटित हुआ है। "महाभारत" में भी ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं उनमें एक यह भी है कि वनवास-काल में भीमसेन एक बार गन्धमादन पर्वत पर चढ़ने लगे। वहाँ पगडण्डी पर आगे बढ़ते हुए उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त वृद्ध और जर्जर शरीर वाला वानर आगे का रास्ता रोककर बीच में पड़ा है। भीमसेन को आगे जाने की शीघ्रता थी। उन्होंने उस वृद्ध वानर से मार्ग से हट

रावण की सभा में प्रवेश करके ऐसी ही "गरिमा-सिद्धि" का प्रदर्शन किया उसने रावण की सभा में यह घोषणा की कि मेरा पैर कोई इस स्थान से हटा दे, तो मैं भगवान रामचन्द्र की पराजय स्वीकार कर लूँगा। वह पैर "गरिमा" से इतना भर गया कि रावण की सभा के सभी बलशालियों ने अंगद के पैर को अपने स्थान से विचलित कर देने की भरपूर चेष्टा की, परन्तु वैसा नहीं हो सका। अन्त में, रावण स्वयं जब अंगद का पैर उठाने के लिये आने लगा, तब अंगद ने सोचा कि रावण भी इन सिद्धियों के रहस्य को जानता है। अतः, उसने यही कह दिया कि रावण, तुमको भगवान् रामचन्द्र के पैर पकड़ने चाहिये। केवल मेरे पैर पकड़ने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा।

कर्ण और अर्जुन के युद्ध के अवसर पर जब कर्ण ने सर्पमुख बाण चलाया, तब इसी गरिमा-शक्ति का प्रदर्शन भगवान कृष्ण ने किया था। भगवान् कृष्ण की बाल्यावस्था के चरित्रों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

चौथी "लघिमा-सिद्धि" कहलाती है। इसके आधार पर अपने शरीर को इतना हल्का बनाया जा सकता है कि विमान आदि की सहायता के बिना भी आकाश में संचरण हो सकता है।

पाँचवी "प्राप्ति" नाम की सिद्धि होती है। इसके प्राप्त हो जाने पर एक ही जगह स्थित होता हुआ भी पुरुष बहुत दूर घटने वाली घटनाओं को भी आँखों से देख ही नहीं सकता, अपितु उन पर प्रभाव भी डाल सकता है। इस सिद्धि के मिल जाने पर पृथ्वी पर बैठा हुआ ही मनुष्य अपने हाथों से चन्द्रमा को छू सकता है। भगवान् कृष्ण ने द्वारिका में बैठे-बैठे ही दुःशासन से खींचा जाने वाला द्रौपदी का वस्त्र बढ़ा दिया।

छठी "प्राकाम्य" नाम की सिद्धि वह होती है, जिसके आधार पर पुरुष सभी पदार्थों को अपने अनुकूल बना लेता है। वह भूमि में भी जल के समान प्रवेश कर सकता है। पर्वतों की शिलाओं के भीतर भी वह प्रवेश कर जाता है। जल में

जाने को कहा। इस पर वानर ने अपने शरीर की असमर्थता प्रकट करते हुये कहा कि भाई, तुम मुझे लाँघकर आगे निकल जाओ। भीमसेन ने वानर को लाँघना ठीक नहीं समझा। वानर ने कहा कि आप ही मेरी पूँछ को एक ओर हटाकर आगे चले जाएँ। भीमसेन जब पूँछ हटाने लगे, तो अपनी सारी शक्ति लगा देने पर भी पूँछ को तिलमात्र भी नहीं हटा सके। तब उन्होंने विनीत भाव से वानर से प्रार्थना की कि आप कौन हैं, कृपया बतलायें। वानर ने उत्तर दिया कि मैं हनुमान, तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। तुम्हें आगे बढ़ने की विपत्तियों से सावधान करने के लिये तुम्हारा मार्ग रोककर लेट गया था। तुम यदि आगे बढ़ो, तो जरा सावधानी से बढ़ना, क्योंकि यहाँ से आगे मनुष्यों के लिए गन्तव्य स्थान नहीं है। मनुष्यों की गति यहीं तक है। यहाँ से आगे महाराज कुबेर का आधिपत्य है और उसमें यक्षगण विचरण किया करते हैं। यह सुनकर भीमसेन के उल्लास की सीमा न रही। उन्होंने हनुमान का अभिवादन किया और उनसे यह प्रार्थना की कि आप मुझे कृपया अपना वह रूप दिखायें, जिस रूप से आपने समुद्र का उल्लंघन किया था। भगवान् हनुमान ने पहले तो कहा कि तुममें वह रूप देखने का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु भीमसेन का आग्रह देखकर उन्होंने "महिमा"-सिद्धि का चमत्कार दिखाया और अपने इसी गगनस्पर्शी रूप को प्रकाशित किया, जिससे उन्होंने समुद्रोल्लंघन किया था। उसे देखकर भीमसेन त्रस्त होकर काँपने लगे, तब भगवान् हनुमान् ने अपने रूप का संवरण कर लिया।

तीसरी सिद्धि "गरिमा" नाम की होती है। शरीर के किसी भी अंग को अत्यन्त वजनी बना देना "गरिमा-सिद्धि" के आधार पर सम्भव होता था। इस सिद्धि के कितने ही निदर्शन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त कथानक में ही श्री हनुमान् जी ने अपनी पूँछ में "गरिमा-सिद्धि" का ही प्रयोग करके भीमसेन के शक्तिमद को चूर्ण किया, यह वर्णित हुआ है। एकाकी अंगद ने

उतरने पर जल उसे गीला नहीं करता। अग्नि में प्रवेश करने पर अग्नि उसे जलाती नहीं। वह खुले आकाश में भी अपने-आपको अदृश्य बना लेता है। धूप में खड़े होने पर भी वह ऐसा दिखाई दे सकता है, जैसे वह सघन-छाया में खड़ा हो। उसकी गति में कोई अवरोध कहीं रहता ही नहीं। वह बन्दीगृह की दीवारों के भीतर से भी बाहर निकल आ सकता है। भगवान् कृष्ण द्वारिका में प्रवेश करने के लिये आ रहे थे। द्वारिका के समीप के "वतक" पर्वत-प्रदेश में जब भगवान श्रीकृष्ण विचर रहे थे, तब जरासन्ध की सेना ने भगवान को पकड़ लेने की अभिसन्धि से उस पर्वत को चारों ओर से घेर लिया, फिर भी अपनी "प्राकाम्य"-सिद्धि के द्वारा द्वारिका में सानन्द प्रवेश कर गये। श्रीकृष्ण-चरित्र में "प्राकाम्य"-सिद्धि का अन्य प्रसंग भी आया है कि जब श्रीकृष्ण मथुरा में थे, तब भी जरासन्ध के सैनिकों तथा कालयवन ने मथुरा को घेर लिया। भगवान् ने एक ही दिन में मथुरा के सभी व्यक्तियों (वृद्ध-बालक-स्त्री आदि) को नवनिर्मित द्वारिकापुरी में पहुँचा दिया, फिर जरासन्ध और काल-यवन से टक्कर लेने उसी दिन वापस मथुरा भी आ पहुँचे।

सातवीं "ईशत्व" नाम की सिद्धि है। इसके प्राप्त हो जाने पर "अणिमा" आदि सिद्धियों को किसी दूसरे व्यक्ति को यथेच्छ दे देने का भी सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

आठवीं सिद्धि "वशित्व" है। इसके प्राप्त करने पर प्रबल-से-प्रबल पुरुष या किसी भी प्राणी को अपना वशीभूत किया जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने "कालियनाग" को इसी के द्वारा वश में किया था। बुद्ध को मारने के लिये देवदत्त ने जब उन पर मतवाला हाथी छुड़वाया था, तब भगवान् बुद्ध ने भी "वशित्व"-सिद्धि के द्वारा ही उस हाथी को वश में करके अपने प्रति अनुरक्त कर लिया था। ये मन के संयम से प्राप्त होने वाली विधाएँ हैं।

इसके बाद इन्द्रियों के संयम से दिव्यदृष्टि प्राप्त होने वाली आठ

सिद्धियों का विवरण मिलता है। इन सिद्धियों के द्वारा अतीत और अनागत का भी ज्ञान हो जाता है। इसके अनेक उदाहरण हैं। महर्षि "वसिष्ठ" ने समाधि के द्वारा भूतकाल में घटित कामधेनु के शाप को भी वर्तमान के समान देखकर दिलीप को शाप की बात बता दी थी। इसी के आधार पर "वाल्मीकि" ने परोक्ष रामचरित्र का यथावत् निरूपण करके उसका लेखन कर दिया। पूर्वजन्म की घटनाओं के ज्ञान के भी अनेक दर्शन पुराणों में प्राप्त होते हैं। पालि-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि- बुद्धदेव को अपने पूर्वजन्म- जन्मान्तरों का ज्ञान हो गया था। यह भी इसी दिव्यदृष्टि के अन्तर्गत आता है। भविष्य-ज्ञान हो जाना तो भारतीय-साहित्य में सुपरिचित है। यह बात तो किसी से छिपी नहीं है। आगे होने वाले सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का पहले ही वर्णन कर दिया जाता है। वेदव्यास ने परीक्षित को उनके द्वारा आगे आने वाले जीवन की सभी घटनाएँ बतला दी थीं।, जिन्हें जानकर वे उन्हें नहीं रोक सके।

दिव्यदृष्टि के दूसरे भेद में अत्यन्त दूरस्थित तथा अतिक्रान्त पदार्थ का दर्शन तथा शब्द का श्रवण हो सकता है। इसी आधार पर हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र के समीप बैठे हुऐ संजय ने भगवान् वेदव्यास की कृपा से सुदूर कुरुक्षेत्र में होने वाले महाभारत-युद्ध को देखा और धृतराष्ट्र को उनका आँखों देखा वर्णन कहा सुनाया। यह रहस्य है, जिसे आज हम "रेडियो" तथा "टेलीविजन" में पाते हैं।

तीसरी सिद्धि के आधार पर समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है। मनुष्य ही मनुष्य की वाणी समझ सकता है, परन्तु बातचीत और भाव-प्रकाश तो प्राणी-मात्र करते हैं। पशु-पक्षी अपनी बोली में अपने भावों का प्रकाशन किया करते हैं, यह बात अब प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ सर्वथा स्वीकार कर चुके हैं। इस तीसरी दिव्यदृष्टि के प्रभाव से सभी प्राणियों की बोलियों से प्रकट होने वाले भावों को जाना जा सकता है। इसके भी अनेक उदाहरण पुराणों में

करके मिलते हैं।

चौथी दिव्यदृष्टि के आधार पर दूसरे पुरुष के समीप से आने वाली वायु के संसर्ग से भी उस मनुष्य के मानसिक भावों को जाना जा सकता है। पाँचवी दिव्य दृष्टि के आधार पर भूगर्भ में संस्थित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। दिव्य अंजन आँखों में लगा लेने से दिव्य-दृष्टि मिल जाती थी। ऐसा व्यक्ति जमीन के नीचे दस हाथों तक की गहराई में स्थित पदार्थों को अच्छी तरह देख लेता था।

सूर्य में मन की पूरी शक्ति लगा देने से समस्त भुवन का ज्ञान हो जाता है।

सातवीं दृष्टि में औषधों के प्रभाव का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि-आयुर्वेदादि शास्त्रों के द्वारा औषधियों का प्रभाव जाना जा सकता है, किन्तु वह सर्वथा परोक्ष-ज्ञान है। इस दिव्य-दृष्टि से उनके प्रभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

आठवीं दिव्यदृष्टि से तारागों के प्रभाव का ज्ञान हो जाता है। ये आठ सिद्धियाँ इन्द्रियों का संयम करने पर प्राप्त होती हैं, जिनका विवरण कई पुराणों में मिलता है।

इसके अनन्तर हृदय का संयम करने पर भी आठ प्रकार की अलग सिद्धियाँ मिलती हैं। इनका विस्तृत उल्लेख" योगदर्शन" में तथा पुराणों में प्राप्त होता है।

हृदय का संयम करने पर सबसे प्रथम जिस सिद्धि का विवरण आता है, उससे अत्यन्त परोक्ष सत्ता का, अर्थात् देवताओं का, प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है। हृदय-देश में देवी-देव शक्तियाँ ही केन्द्रित रहती हैं। इसी बात को श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है---

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

"हे अर्जुन। ईश्वर समस्त भूतों के हृद्देश में अवस्थित है। वही अपनी माया से यन्त्र पर आरूढ़ के समान समस्त चराचर को घुमा रहा है।" इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की स्थिति समस्त भूतों के हृद्देश में है। ईश्वर का अर्थ है स्थूल-जगत् का ईशन करने वाली देवशक्ति। अतः, ईश्वर को देवता भी कहा जाता है। वह हृद्देशों के भेद से अनन्त आकारों और अनन्त धर्मों वाला बन जाता है। जो प्राणी अपने हृदय को संयत करके जिस नाम, रूप और धर्म वाले ईश्वरीय रूप का ध्यान करता है, वही रूप उसे इस प्रक्रिया की चरमावस्था में प्रत्यक्ष हो जाता है। ध्रुव ने भगवान् के जिस रूप का अपने हृद्देश में ध्यान किया, उसी रूप में भगवान् उसके सामने प्रकट होगये। "श्रीमद्भागवत" में ध्रुव की स्तुति का प्रारम्भिक पद्य है—

> योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
> संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
> अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादी-
> न्प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।।

ध्रुव कहता है कि "जो भीतर प्रवेश करके मेरी सोई हुई वाणी को जगाता है, तथा जो हाथ, पैर, कान, त्वचा और प्राणों को भी चेतनता प्रदान करता है, उसे प्रभु को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।" यहाँ भक्तराज ध्रुव ने यही प्रकाशित किया कि बाहरी रूप देखने से पहले अपने भीतर भी वह उसी रूप को देख रहा था और उसी के प्रभाव से उसे बोलने की शक्ति प्राप्त हुई थी। तन्त्रशास्त्र में देवताओं के विभिन्न रूपों के ध्यान अंकित हैं, उन रूपों को अपने हृदय में जगाने की प्रक्रिया भी वहाँ वर्णित है। उसी से यह देव-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होती है। हृदय का संयमन करने से ही विद्रोहियों की शक्ति नष्ट कर देने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसे अभिचार भी कहा जाता है। इसका भी पर्याप्त विवरण पुराणों में मिलता है। जनक की सभा में शास्त्रार्थ करते समय "याज्ञवल्क्य" ने

"शाकल्य" ऋषि के लिये इसी सिद्धि का प्रयोग कर उन्हें परास्त कर दिया था और "गार्गी" को भी इसी की क्रिया-विधि से परास्त किया था। रामायण में वर्णन आता है कि राम-रावण-युद्ध में रामचन्द्र पर विजय प्राप्त करने के लिए मेघनाद ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया था। उसी समय सेना-सहित पहुँचकर लक्ष्मण ने उसका प्रयोग रोक दिया और वहीं युद्ध करके उसे मार दिया। इस प्रकार के अभिचार-प्रयोग अधिकतर आसुरी सम्पत्ति के लोगों में ही प्रचलित थे। परन्तु, ऐसा नहीं था कि अन्य लोग इससे अपरिचित हों। भेद इतना ही था कि असुरगण इसका आश्रय लेकर उपद्रव करते और आतंक फैलाते थे। वे सर्वथा इन प्रयोगों पर ही अपनी शक्ति को केन्द्रित कर लेते थे, परन्तु शिष्ट पुरुष इसका दुरुपयोग कभी नहीं करते थे। हाँ, आपत्काल आ जाने पर अथवा "उपद्रवों" के विरुद्ध भी इसका प्रयोग अवश्य करते थे। इसके अतिरिक्त, अनेक अभीष्ट-कामनाओं की पूर्ति के लिये भी अभिचार-प्रयोग होते थे। "मार्कण्डेय-पुराण" की कथा से पता चलता है कि राजा "सुरथ" और "समाधि" नामक वैश्य ने राज्य-प्राप्ति तथा ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त अभिचार-अनुष्ठान से ही भगवती को प्रसन्न किया था इस प्रक्रिया से तीसरी सिद्धि यह मिलती है कि आत्मा का प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। आत्मा जब शरीर छोड़कर अभिनिष्क्रमण करता है, तब अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसे कोई देख नहीं सकता। परन्तु, हृदय के संयमन से ध्यान करते हुये आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। चतुर्थ श्रेणी में मृत पुरुषों के भी प्रतिकृति-रूप छायापुरुषों का दर्शन करा दिया जाता है। महाभारत-युद्ध में मृत-पुरुषों के सम्बन्धियों को उनके छायारूपों का भगवान वेद-व्यास ने दर्शन करा दिया था। यह क्रिया आज भी विदेशों तथा भारत में प्रचलित है। विराट्-पुरुष का दर्शन भी इसी क्रम में आता है। भगवान कृष्ण ने महाभारत-संग्राम के प्रारम्भ में दिव्य-चक्षु प्रदान करके अपना विराट्-रूप प्रदर्शित किया। दुर्योधन की सभा में तथा बाल्यावस्था में भी श्रीकृष्ण ने अपनी माता

यशोदा को विराट्-रूप दिखाया था। इस क्रम की छठी सिद्धि "मायाव्यामोहन" है। इसके अनुसार ऐसे-ऐसे दृश्यों का प्रदर्शन कर दिया जाता है, जो यथार्थ में तो सर्वथा मिथ्या है, परन्तु दर्शक उन्हें सर्वथा सत्य और अपने लिये घटित ही समझता है। नारद को मुग्ध करने के लिये मायापुरी में एक स्वयंवर की घटना का ऐसा ही वर्णन आता है। "शाल्व" नाम के एक असुर ने, भगवान् कृष्ण के सामने, उनके पिता वसुदेव को पकड़कर माया से उनका शिरश्छेद करा दिया। परन्तु, भगवान् कृष्ण तो इन विद्याओं के स्वामी ही थे। उन पर उसकी माया नहीं चली। रामायण में भी मेघनाद ने माया की सीता का राम-लक्ष्मण के सामने वध कर दिया था, जिससे मर्यादापुरुषोत्तम-व्यामोह में आ गये थे। सातवीं "उपश्रुति विद्या" कही गयी है। इसे "रात्रिविद्या" भी कहा जाता है। इसके आधार पर अत्यन्त गुप्त या छिपाये गये धन, पुस्तक आदिका भी अनायास पता लगा लिया जाता है। आठवीं विद्या इस प्रसंग में "संस्काराधान" करने वाली है। इसके आधार पर कोई विद्वान पुरुष किसी छोटे बालक के सिर का स्पर्श करके उसमें विलक्षण विद्वता को प्रदीप्त कर सकता है और वह शिशु गम्भीर-से गम्भीर शास्त्रों और उनके रहस्यों पर अद्भुत ज्ञान का प्रदर्शन कर सकता है। शुकदेव तथा शंकर को यही विद्या प्राप्त थी, जिसके आधार पर शंकर ने कहा था---- दुर्वर्णयामि जगत्त्रयम्। अपनी प्रसुप्त प्रज्ञा को प्रबुद्ध करने के लिए शिव, गणपति, तारा आदि देवों की उपासना का विधान तन्त्र आदि शास्त्रों में प्राप्त होता है। ये सारी सिद्धियाँ या विद्याएँ हृदय का संयमन करने पर प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार, प्राणों के संयम से भी आठ प्रकार की विद्याएँ प्राप्त होती हैं। इनमें प्रथम है— कायव्यूह। इसके आधार पर एक ही मनुष्य अनेक शरीर धारण करके, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन कर सकता है। कृष्ण भगवान् के चरित्र में तथा अन्य पौराणिक चरित्रों में भी इस विद्या का

प्रभाव वर्णित हुआ है। दूसरी विद्या है -"परकायप्रवेश।" इसके आधार पर सिद्ध पुरुष अपने शरीर को अलग सुरक्षित रखकर किसी अन्य पुरुष अथवा पशु के निर्जीव शरीर में प्रवेश करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर लेता है। सुप्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी के काम-कलाविषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये एक राजा के शरीर में प्रवेश किया था। "किन्दम" नामक ऋषि ने एक मृग के शरीर में प्रवेश करके अपनी पत्नी को मृगी बनाकर उसके साथ विहार किया था। तीसरी "प्राण संहारिणी" नाम की विद्या है। इससे किसी के भी प्राणों का संहरण किया जा सकता है। राजा "सेन" के उपद्रव से त्रस्त होकर ऋषियों ने कुशा के अग्रभाग का स्पर्श कराकर उसके प्राणों का आहरण कर लिया था। चतुर्थ "मृतसंजीवनी" विद्या है। इससे मृत शरीर में भी प्राण-संचार किया जा सकता है। इसकी भी अनेक घटनाएँ प्राचीन साहित्य में मिलतीहैं।

पाँचवीं सिद्धि का नाम "स्थाणुज्जीविनी" है। इसके प्रभाव से नितान्त शुष्क वृक्ष (ठूँठ) भी हरा-भरा बना दिया जाता है। भागवत में यह आख्यायिका आती है कि राजा परीक्षित को सातवें दिन तक्षक सर्प डँसेगा। यह शाप "मुनि-कुमार" ने दिया था। उसके अनुसार सातवें दिन जब तक्षक परीक्षित को डँसने के लिये आ रहा था तब उसे मार्ग में एक ब्राह्मण मिला। तक्षक ने ब्राह्मण से पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि आज परीक्षित को शाप-वश तक्षक डँसेगा और मैं अपनी विद्या के प्रभाव से उसे पुनर्जीवित कर दूँगा और तब राजा प्रसन्न होकर मुझे धन से परिपूर्ण कर देगा। तक्षक ने ब्राह्मण की विद्या की परीक्षा लेने के लिये कहा कि यदि वास्तव में तुममें इस प्रकार की विलक्षण शक्ति है, तो मैं अपने विष के प्रभाव से इस सामने वाले वृक्ष को जला डालता हूँ। तुम अपनी विद्या से इसे पुनः हरा-भरा कर दो। इतना कहकर तक्षक एक हरे-भरे विशाल वृक्ष को अपने विष की ज्वाला से तत्क्षण झुलसा दिया। उस पर ब्राह्मण ने कहा- ठीक है, अब मेरी विद्या का भी प्रभाव देखो और उसने अपनी "स्थाणु-

ज्जीविनी" विद्या के प्रभाव से उस वृक्ष को पुनः वैसा ही हरा-भरा कर दिया। ब्राह्मण की विद्या का चमत्कार देखकर तक्षक आश्चर्यविमूढ़ हो गया और उसने ब्राह्मण को बहुत से बहुमूल्य मणि-माणिक्य दिये और प्रार्थना करके उसे लौट जाने के लिऐ राजी कर लिया और ब्राह्मण लौट गया। छठी सिद्धि "छाया-ग्रहणी" नाम की होती है। इसके द्वारा किसी प्राणी की छाया को ग्रहण करके उस प्राणी को वश में किया जा सकता है। "रामायण" में विवरण मिलता है कि हनुमान समुद्रोल्लंघन कर रहे थे, तब "सिंहिका" नाम की राक्षसी ने इसी विद्या के द्वारा हनुमान की छाया पकड़कर उन्हें नीचे गिरा दिया। फिर भी हनुमान् उसका दमन् कर आगे बढ़े। सप्तम तथा अष्टम प्रभेदों के अनुसार "आकृति तथा लिंग-परिवर्तन" कर दिया जाता है। "इला" और सुद्युम्न" के चरित्र में तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर इसका वर्णन होता है।

इसी प्रकार, मन्त्र के बल से भी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें प्रथम है- सर्पों का आकर्षण। इसके आधार पर "मन्त्र" के प्रभाव से दूरस्थित सर्पों का आकर्षण करके अभीष्ट स्थान पर उनको ले जाया जा सकता है और उन्हें विषशून्य बनाया जा सकता है। इसी के आधार पर "जनमेजय" की प्रेरणा से ऋषियों ने नागयज्ञ किया था। आज भी इस मन्त्र-सिद्धि का प्रभाव भारत में प्रचुर है। दूसरी विद्या "अग्निस्तम्भिनी" कही जाती है। इसके द्वारा मन्त्र-प्रयोग से अग्नि को शीतल बना दिया जाता है। इस विद्या को जानने वाला पुरुष यदि अग्नि में प्रवेश कर जाये, तो वह जलता नहीं। अग्नि का यह स्तम्भन तीन प्रकार से होता है— तत्त्व के आधार पर, मन्त्र के आधार पर और मणि के आधार पर। प्राचीनकाल में कोई अपराधी पुरुष वास्तव में अपराधी है, अथवा उस पर अपराध का मिथ्या आरोप किया गया है, इस बात को जानने के लिये अनेक दिव्य परीक्षाएँ प्रचलित थीं। उनमें से एक यह भी था कि उसे अग्नि पर चलाया जाता था। यदि वह जल जाता, तो अपराध

को यथार्थ समझा जाता था। और यदि वह नहीं जलता तो, अपराध को मिथ्या समझ लिया जाता था। अग्नि पर चलने पर भी उससे न जलना यह अग्नि का स्तम्भन सत्य से ही होता था। इसी प्रकार सत्य से अग्नि के स्तम्भन होने का वर्णन रामायण में सीता की अग्नि-परीक्षा के अवसर पर भी आया है। सीता ने अपने सत्य के प्रभाव से लंका-दहन के समय हनुमान् की पूंछ में जलने वाली अग्नि का दाहकत्व रोक दिया था--

दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मेरुजम्।

शिशिरस्येव सम्पाती लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितः।।

इसका उदाहरण महाभारत के नल-चरित्र में मिलता है। नल को देवताओं ने जो मन्त्र दिया था, उससे वह अग्नि के दाहकत्व को रोक देता था। इसके अतिरिक्त, चन्द्रकान्त मणि के द्वारा अग्नि-स्तम्भन का कार्य तो सर्वविदित ही है। इस सन्दर्भ में तीसरी क्रिया "अक्षयकरणी" कही जाती है। इसके प्रभाव से गृह के किसी पात्र को ऐसा बना दिया जाता है कि सहस्रों व्यक्तियों के भोजन करने पर भी भोज्य पदार्थ से वह कभी रिक्त नहीं होता। महाभारत में सूर्य से युधिष्ठिर को ऐसा ही बर्तन प्राप्त होने का वर्णन मिलता है। चौथी विद्या के प्रभाव से "निग्रहानुग्रहसामर्थ्य" प्राप्त होता है। "निग्रह" के आधार पर अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य पर्वत को झुका दिया था। भगवान् कृष्ण ने महाभारत-युद्ध में जयद्रथ-वध के दिन सूर्य का निग्रह करके मध्याह्न में ही सायंकाल दिखा दिया था। महर्षि "कपिल" ने सगर के आठ हजार बलवान् पुत्रों का निग्रह कर दिया था। देवेन्द्र के पद पर समासीन नहुष को गौतमादि महर्षियों ने निग्रह के द्वारा ही सर्प बना दिया था। महर्षि विश्वामित्र के क्रोध से राजा हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। ये सब के सब निग्रह-सामर्थ्य ही थे। अनुग्रहसिद्धि के आधार पर शाप का मोक्ष कर दिया जाता था। शापतप्त "अहल्या" को भगवान् रामचन्द्र ने अनुग्रह से पुनः स्व-स्वरूप प्रदान कर दिया। पाँचवीं मन्त्र-

विद्या का नाम है— पुत्रजननी। इसके आधार पर "विभाण्डक" ऋषि के पुत्र ऋष्यश्रृंग ने अयोध्या में महाराजा दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिससे उन्हें चार पुत्रों की प्राप्ति हुई। "परशुराम" और "विश्वामित्र" की उत्पत्ति-कथा भी इसी प्रकार "पुत्रजननी" विद्या का निदर्शन है। इसी प्रकार, राजा "द्रुपद" को "धृष्टद्युम्न" और "द्रौपदी" पुत्र तथा पुत्री के रूप में प्राप्त हुए थे। मन्त्र के बल से होने वाली अन्य सिद्धि के आधार पर अकाल में भी वर्षा की जा सकती है और यह मन्त्र सिद्धि की छठी विधि है और इसका नाम है- प्रावृषेण्या। इसके भी अनेक निदर्शन प्राचीन-साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी के समान सातवीं विद्या का नाम है- आपोनप्त्रीय। यह सर्वविदित है कि सूर्य की रश्मियों और वायु के द्वारा पृथ्वी में स्थित जल आकाश में ले जाया जाता है। इस विद्या के द्वारा सूर्य की रश्मियों तथा वायु से उस जल को निर्जल स्थल में गिराया जा सकता है। वेद के "आपोनप्त्रीय" सूक्त में इस विद्या का विवरण है। "कवष-ऐलूष" ने इसी विद्या के आधार पर "मरुधन्वा" के प्रदेश में जल की धारा प्रवाहित कर दी थी, ऋषिगण भी आश्चर्यान्वित हो गये थे। फिर, मन्त्रों से सिद्ध होने वाली आठवीं विद्या "मधुविद्या" के नाम से प्रसिद्ध है। इस विद्या का उपनिषदों में भी संकेत है। "अथर्वा" के पुत्र "दध्यङ्" ऋषि इस विद्या को जानते थे। इसमें मधुमक्खियों के छत्ते के रूप में सूर्यमण्डल का ध्यान करके रश्मियों से निस्सृत तत्व को मधु के रूप में ग्रहण किया जाता है और अद्भुत शक्ति अर्जित की जाती है। पृथ्वी का रूप उसी मधु से संगठित होता है। इससे परिवर्तन-विज्ञान हस्तगत होता है और यथेच्छ परिवर्तन कर देने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लिया जाता है। इसका एक अत्यन्त शक्तिशाली और विलक्षण विद्या के रूप में निरूपण मिलता है।

उपर्युक्त विद्या-प्रभेदों के अतिरिक्त औषधियों और यन्त्रों के बल से भी प्राप्त होने वाली आठ-आठ प्रकार की विद्याओं का विवरण श्री विद्यावाचस्पति

ने अपने "इन्द्रविजय" ग्रन्थ में दिया है। औषधियों के बल पर जो विद्याएँ विकसित हुई थीं, उनमें सर्वप्रथम "मृतसंजीवनी" का नाम आता है। अभिमन्त्रित करने के अनन्तर यह महौषधि ऐसा विलक्षण चमत्कार दिखलाती थी कि मृत प्राणी के शरीर में भी पुनः प्राण-संचार हो जाता था। इस विलक्षण विद्या के प्रभावों के उदाहरणों की भी कमी नहीं है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य इस विद्या के जानने वालों में सुविख्यात हैं। वे दैत्यों के गुरु थे और देवासुर-संग्राम में मृत दैत्यों को वे अपने औषधों का अभिमन्त्रण करके उसके प्रयोग से पुनर्जीवित कर देते थे। इस विद्या को जानने के लिए देवगुरु बृहस्पति ने छल से अपने पुत्र "कच" को शुक्राचार्य का परम प्रिय शिष्य बनाया। शुक्राचार्य उस पर अपना निरतिशय स्नेह रखते थे। असुरों को जब यह पता चला, तब उन्होंने "कच" को मार डाला। शुक्राचार्य ने अपनी इसी विद्या के द्वारा उसे पुनर्जीवित कर लिया। इसी प्रकार की दूसरी औषधि-विद्या "संजीवकरणी" नाम से विख्यात थी। इसका प्रयोग ऐसे प्राणियों पर किया जाता था। जो मूर्च्छावश चेतनाशून्य हो जाते थे। राम-रावण-संग्राम में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर "सुषेण" नामक वैद्य ने इसी औषधि के प्रभाव से लक्ष्मण में पुनः चेतना का संचार किया था। इसी प्रकार "विशल्यकरणी, सन्धानकरणी, दिव्यप्रसविनी" आदि औषधियों का विज्ञान उस समय भी खूब प्रसिद्ध था, जिनके उदाहरण पुराण-साहित्य में निबद्ध हैं। इसी विद्या के साहाय्य से शुक्र के समस्त जीवित कीटाणुओं को पृथक-पृथक करके गोघृत के घड़ों में उन अणुओं को स्थापित कर दिया जाता था। इस औषधि से दो प्रकार के कार्यों का सम्पादन किया जाता था। एक तो शुक्र-कीटाणुओं को शरीर के भीतर ही बलिष्ठ बनाया जाता था, जिससे स्थानविच्युत होते ही वे मर न जायें तथा कुछ क्षण जीवित रह सकें। इस औषधि का एक दूसरा कार्य यह था कि यह गोघृत में इस प्रकार की शक्ति प्रकट कर

देती थी, जिससे माता के गर्भाशय की शक्ति उस घटस्थित गोघृत में आ जाती थी। फलतः, घट में ही शिशु के पोषण प्राप्त करते-करते सभी शुक्र-कीट पूरे प्राणी के रूप में घट से बाहर निकलते थे। यदि शुक्रस्थित समस्त कीटाणुओं को पृथक्-पृथक् पोषण प्राप्त हो जाये, तो एक ही धर्मपत्नी में एक साथ सहस्त्रों सन्तानों की उत्पत्ति तर्कसिद्ध है।

महौषधि- सिद्धिविद्या में आठवीं है— कान्तिकला। मन्त्र के द्वारा प्राप्त इस विद्या से युक्त पुरुष को न कभी थकावट होती है या न वह कभी बीमार पड़ता है। असावधान या सुप्तावस्था में भी कोई दुश्मन उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह पृथ्वी पर अद्वितीय पराक्रमी होता है। राम-लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र ने यही मन्त्रसिद्धि दी थी।

हमारे यहाँ आकाश में विमान-संचालन के लिए यन्त्र का आविष्कार बहुत प्राचीन है। ऐसे विमानों में शुद्ध यन्त्र तथा मन्त्रशक्ति-संचालित-यन्त्र— दोनों का आविष्कार था। ऐसे यन्त्रों के आधार पर जो विद्याएँ xxxxxx xxxxxxxxxxxxxx प्रयोग में आती थीं, उनके भी आठ भेद श्री विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा ने "इन्द्रविजय" में दिखलाये हैं—

1. दिव्य विमान, 2. पुष्पक विमान, 3. सौभ विमान, 4. सूत विमान, 5. हर्यश्व विमान, 6. प्लव विमान, 7. अद्भुतगवी और 8. शिलासन्तरणी।

इस विमान-विद्या का भारत में पर्याप्त प्रचार था। कुबेर के यहाँ से आहृत रावण का पुष्पक विमान, ऋभुदेवों द्वारा निर्मित विमान, शाल्व-निर्मित विमान इत्यादि पुराणोक्त विवरणों में सुप्रसिद्ध है। "शिलासन्तरणी" विद्या के आधार पर ही श्रीरामचन्द्र की सेना के नल-नील ने समुद्र में पत्थरों को तैराकर सेतु बना दिया था।

"इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि उन विद्याओं के समझे बिना पुराणादि में उल्लिखित घटनाओं का रहस्य समझ में आना कठिन है। जो लोग

पौराणिक घटनाओं को कपोल-कल्पित बतलाते हैं, वे इन विधाओं के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, यह बात कटु होकर भी सत्य है। किन्तु, मेरा पूर्ण दावा है कि एक बार भी जो व्यक्ति ठीक से किसी पुराण का अध्ययन-मनन कर लेगा, वह पुराणों को निश्चय ही ज्ञान-विज्ञान आदि विषयों का सागर मान लेगा।"

समीक्षा :- शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय विचारधारा और संस्कृति की विषय-वस्तु को सम्मिलित कर देने मात्र से कोई शिक्षा भारतीय नहीं बन जाती। हमें भारत की उन मनोवैज्ञानिक पद्धतियों की खोज करनी होगी, जो मनुष्य की उन नैसर्गिक शक्तियों एवं उपकरणों को सजीव बना देती है, जिनके द्वारा वह ज्ञान को आत्मसात् करता है, नवीन सृष्टि करता है तथा मेधा, पौरुष और ऋतम्भरा-प्रज्ञा का विकास करता है। उस विपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिक शक्ति का रहस्य क्या था, जिसे हम वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्राचीन दर्शनशास्त्रों में, भारत के सर्वोत्कृष्ट काव्य, कला, शिल्प और स्थापत्य में स्पन्दित होते हुए देखते हैं? हमें भारत के आदर्शों और पद्धतियों को अधिक प्रभावशाली और आधुनिकतम परिवेश के अनुरूप जीवित करना होगा, जिसके आधार पर विकसित शिक्षा ही भारतीय होगी।

पंचम अध्याय

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा- संस्थानों के स्वरूप का

आलोचनात्मक अध्ययन

-पंचम अध्याय-

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा संस्थानों के स्वरूप का आलोचनात्मक अध्ययन-

सुदूर प्राचीनकाल से लेकर आज तक भारत में अध्यापन पुण्य का कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मणके पाँच महायज्ञों में ब्रह्म-यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञ में विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान है।[1] इस यज्ञ का सम्पादन करने के लिए प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ के साथ कुछ शिष्यों का होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्यों में आचार्य के पुत्र भी होते थे। आचार्य का घर ही विद्यालय था। इस प्रकार के विद्यालयों का प्रचलन वैदिक काल में विशेष रूप से था।

प्राचीनकाल में विद्यालयों की स्थिति साधारणतः नगरों से दूर वनों में होती थी। कभी-कभी विद्यालयों के आस-पास छोटे गाँव भी बस जाते थे। विद्यालय तो वैदिककाल में वहीं हो सकते थे, जहाँ आचार्य की गौओं को चरने के लिये घास का विस्तृत भू-भाग हो, हवन की सामग्री वन के वृक्षों से मिल जाती हो और स्नान करने के लिये निकट ही कोई सरोवर या सरिता हो। तत्कालीन विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य और तप का सर्वाधिक महत्व था। ब्रह्मचर्य और तप के लिए नगर और ग्राम से दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा देने वाले ऋषियों की आवास-भूमि अरण्य को ही बतलाया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियों के समीप तत्कालीन सर्वोच्च ज्ञान के अधिकारी पहुँचते थे। अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का एक पर्याय समझा जाने लगा था।[2]

---

1. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः । {मनुस्मृति 3/70}

2. यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव।

{छान्दोग्योपनिषद् 8/5/3}

महाभारत के अनुसार एक आचार्य भरद्वाज का आश्रम गंगाद्वार [हरिद्वार] में था। इस विद्यालय में वेद-वेदांगों के साथ अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। अग्निवेश्य और द्रोणाचार्य को इसी आश्रम में आग्नेयास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। अग्निवेश्य और द्रोणाचार्य को इसी आश्रम में आग्नेयास्त्र की शिक्षा मिली थी।[1] कई राजकुमार भी इस आश्रम में धनुर्वेद की शिक्षा लेते थे। राजा द्रुपद ने इसी आश्रम में द्रोण के साथ धनुर्वेद की शिक्षा पायी थी। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के आश्रम में भी द्रोण ने अध्ययन किया था। परशुराम ने प्रयोग, रहस्य और उपसंहार विधि के साथ सभी अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा द्रोणाचार्य को दी थी।

महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर बदरी-क्षेत्र में था। आश्रम रमणीय था। इस आश्रम में व्यास वेदाध्यापन करते थे। पर्वत पर अनेक देवर्षि रहा करते थे। इसी आश्रम में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे। जिस वन में महर्षि कण्व का आश्रम था, उसकी वास्तता मनोहारिणी थी। इसमें सुखप्रद और सुगन्धित शीतल वायु का संचार होता था। वायु में पुष्परेणु मिश्रित होती थी। ऊँचे वृक्षों की छाया सुखदायिनी थी। वन के वृक्षों में कंटक नहीं होते थे और वे सदैव फल देते थे। सभी ऋतुओं में वृक्षों और लताओं के कुसुमों की शोभा मनोहारिणी रहती थी। पथिकों के ऊपर वृक्षों की अनायास पुष्प-वृष्टि वायु के संचार के साथ-साथ होती रहती थी।

कण्व के आश्रम में न्याय-तत्त्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष-शास्त्र, तर्क, व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि विषयों के प्रसिद्ध आचार्य थे। लोकायतिक भी वहाँ अपना व्याख्यान देते थे। आश्रम में जो यज्ञ होते थे, उनके सभी विधानों और कर्म-

---

1. महाभारत आदि पर्व कुछ्टव्य शकुन्तलोपाख्यान

कन्याओं के लिये आचार्य नियत थे।

महर्षि कण्व का[1] आश्रम मालिनी नदी के तट पर था। आश्रम रम्य था, अनेक महर्षि विभिन्न आश्रमों में आस-पास रहते थे। चारों ओर पुष्पित पादप थे, घास पथिकों के लिए सुखदायिनी थी। पक्षियों का मधुर कलरव होता रहता था। नदी के तट पर ही आश्रम ध्वजा की भाँति उठा हुआ था। हवन की अग्नि प्रज्ज्वलित होती रहती थी, पुण्यात्मक वैदिक मन्त्रों के पाठ हो रहे थे। तपस्वियों से आश्रम की शोभा और अधिक बढ़ गयी थी।

रामायण के अनुसार प्रयाग में [प्रथम] भरद्वाज के रम्य आश्रम के समीप विविध प्रकार के वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होम धूम छाया हुआ था। यह आश्रम गंगा-यमुना के संगम के निकट था। दोनों नदियों के मिलने से जल के घर्षण की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। विविध प्रकार के सरस वन्य अन्न, मूल और फल वहाँ मिलते थे। मुनियों के साथ मृग और पक्षी आश्रम प्रदेश में निवास करते थे। आचार्य भरद्वाज चारों ओर शिष्यों से घिरे रहते थे। अध्ययन-अध्यापन और आवास के लिए पर्णशालाएँ बनी थीं।

दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्य का आश्रम था। आश्रम के समीप पुष्पित लताओं से फूले-फले वृक्ष आच्छादित थे। वृक्षों के पत्ते स्निग्ध थे। इन्हीं लक्षणों से ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है। आश्रम का वन समीपवर्ती होम के धूम से व्याप्त था। मृगों का समूह प्रशान्त था, अनेक पक्षियों का कलरव हो रहा था। आश्रम में आचार्य अगस्त्य शिष्यों से परिवृत थे।

अगस्त्य के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् [सूर्य], सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड़, कार्तिकेय और धर्म के स्थान बने हुये थे।

---

1. महाभारत आदि पर्व0 कुछ अध्याय- शकुन्तलोपाख्यान-

तक्षशिला का महाविद्यालय या विश्वविद्यालय महाभारतकाल से ही सारे उत्तर भारत में प्रख्यात था। यहीं पर आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा पायी थी। जातक-कथाओं के अनुसार तक्षशिला में शिक्षा पाने के लिए काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनी से विद्यार्थी जाते थे। गौतम बुद्ध के समकालीन थे वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला में सात वर्षों तक आयुर्वेद की शिक्षा पायी थी। आचार्य पाणिनि और कौटिल्य को भी सम्भवतः तक्षशिला में ही शिक्षा मिली थी। सिकन्दर के समय में तक्षशिला उच्चकोटि के दर्शन के विद्वानों के लिये प्रसिद्ध थी। तक्षशिला में वेदों की शिक्षा प्रधान रूप से दी जाती थी, पर साथ ही प्रायः सभी विद्यार्थियों को कुछ शिल्पों में विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। विद्यालय में जिन 18 शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी, उनकी गणना इस प्रकार है—— चिकित्सा [आयुर्वेद], शल्य, धनुर्वेद, युद्ध-विज्ञान, हस्तिसूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्तकोशज्ञान, मृगया, अंग-विद्या, पशु-पक्षी की बोली समझना, निमित्तज्ञान, विषोपचार।

बौद्धयुग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की प्रचुर संख्या थी। नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के लिये वेद और शिल्प में निष्णात होकर विद्वान ऋषि प्रव्रज्या लेकर हिमालय पर रहने लगते थे। महर्षियों के साथ रहने वाले तपस्वी शिष्यों की संख्या कभी-कभी पाँच सौ तक जा पहुँचती थी।

उपर्युक्त युग में काशी भी भारतीय विद्याओं की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध थी। जातक-कथाओंके अनुसार बोधिसत्व के आचार्य होने पर उनके पाँच सौ विद्यार्थी थे, जो वैदिक-साहित्य का अध्ययन करते थे। बोधिसत्व के विद्यालय में सौ राज्यों से आये हुए क्षत्रिय और ब्राह्मणकुमार शिक्षा पाते थे, काशी के समीप परवर्ती काल में सारनाथ बौद्ध-दर्शन का महान् विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ। इसमें

एक हजार पाँच सौ बौद्ध-भिक्षु शिक्षा पाते थे।

गुप्तकालीन विद्यालयों की रूप-रेखा की कल्पना कालिदास की रचनाओं से की जा सकती है। कालिदास के अनुसार वशिष्ठ का आश्रम हिमालय पर था। निकटवर्ती वनों में तपस्वियों के लिये समिधा, कुश और फल मिलते थे। पर्णशालाओं के द्वार पर नीवार के भाग पाने के लिए मृग खड़े रहते थे। आश्रम के चारों ओर नीवार के भाग पाने के लिये मृग खड़े रहते थे। आश्रम के चारों ओर उपवन लगाये गये थे। उपवन के नववृक्षों के थालों में मुनिकन्यायें जल डालती थीं। पर्णशालाओं के आँगन विस्तृत होते थे, आँगन में नीवार सूखने के लिये फैलाया जाता था। धूप चले जाने के पश्चात् नीवार के एकत्र कर लिये जाने पर आँगन में बैठकर मृग रोमन्थ किया करते थे। आश्रम में सोने के लिए कुशशयन प्रयुक्त होता था। कालिदास की कल्पना के अनुसार वरतन्तु के आश्रम में जो वृक्ष लगाये गये थे, उन्हें पुत्र की भाँति मानकर प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाता था। श्रान्त पथिक इन्हीं के नीचे बैठकर अपनी थकावट मिटाते थे। स्नान के लिये आश्रम से सम्बद्ध जलाशय होते थे। इस आश्रम में चौदह विद्यायें पढ़ायी जाती थीं।

सातवीं शती की रचनाओं से भी विद्यालयों की रूप-रेखा प्रायः ऊपर-जैसी ही मिलती है। बाण ने कादम्बरी में महर्षि जाबालि के आश्रम का वर्णन किया है। विद्यालय में वटुसमूह के अध्ययन से सारा आश्रम गूँज रहा था। इस आश्रम में सदा पुष्पित और फलवान् वृक्षों और लताओं की रमणीयता मनोहारिणी थी। ताल, तमाल, हिन्ताल, बकुल, नारिकेल, सहकार आदि के वृक्ष, एला, पूगी आदि की लतायें, लोध, लवली, लवंग आदि के पल्लव, आम्र-मंजरी तथा केतकी का पराग, निर्भय मृग, मुनियों के साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिए हुए मुखर शिष्य, मयूर, कदम्ब दीर्घिकायें, पर्णशालाओं के आँगन में सूखता हुआ श्यामाक, आमलक, लवली, कर्कन्धु, कदली, लकुच, पनस, आम और ताल के फलों की राशि आदि इस विद्यालय के प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ा रहे थे। आश्रम में ब्रह्मा,

विष्णु और शिव की पूजा होती थी, यज्ञ-विद्या पर व्याख्यान होते थे, धर्म-शास्त्र की आलोचना होती थी, पुस्तकें पढ़ी जाती थीं, सभी शास्त्रों के अर्थ का विचार होता था। कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रों की साधना करते थे। आश्रम में पर्णशालाएँ बनी हुई थीं, सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था। बाण के शब्दों में वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।

प्राचीन विद्यालयों की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है उससे ज्ञात होता है कि सदा ही विद्याओं के सर्वोच्च केन्द्र महर्षियों के आश्रम थे। इन आश्रमों में सबसे अधिक महिमा तपोमय जीवन बिताने वाले आचार्य के व्यक्तित्व की थी। आश्रमों में वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानों की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती थी। आश्रमों से जो आध्यात्मिक-ज्योति दिग्दिगन्त में परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था। आश्रमों की तीर्थ-रूप में प्रतिष्ठा रामायण और महाभारतकाल से हुई। उसी समय से आश्रमों और तीर्थों के लिए "आयतन" और "पुण्यायतन" शब्दों का प्रयोग मिलता है। आयतन और पुण्यायतन "पवित्र करने की शक्ति रखने वाले स्थान" के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषियों और आचार्यों की पुण्यदायिनी-शक्ति से रामायण और महाभारत-काल से ही लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमों में यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओं की प्रतिष्ठा की गयी थी। पौराणिक युग में जब यज्ञों का स्थान बहुत कुछ देवपूजा ने ले लिया, तब देवप्रतिष्ठा की प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुग के पुण्यायतन ही आगे चलकर मन्दिर रूप में प्रतिष्ठित हुए। आचार्यों के विद्यालय आश्रम के स्थान पर मन्दिर बन गये। उन्हें यदि विद्या-मन्दिर कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम-जीवन का आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था। मन्दिर पौराणिक युग में धर्म-सम्बन्धी अभ्युदय के प्रमुख प्रतीक रहे हैं। यहीं से धार्मिक-भावनाओं की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होता था। इस युग में

भारतीय धर्म के उन्नायक मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुए। मन्दिरों में अध्यापन करना-पुण्यावह माना गया।

स्कन्दपुराण के अनुसार सरस्वती के मन्दिर में विद्यादान करना पुण्य का काम माना गया। ऐसे मन्दिरों में धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान किया जाता था। मन्दिरों को प्राचीन युग के महर्षियों और तपस्वियों का स्मारक कहा जा सकता है।

मन्दिरों में शिक्षा के ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शती से मिलते हैं। बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सलोत्गी के मन्दिर में त्रयीपुरुष की मूर्ति की स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण के द्वारा की गयी थी। इसके प्रधान कक्ष में, जो 945 ई0 में बनवाया गया था, विद्यालय की प्रतिष्ठा की गयी थी। इस विद्यालय में अनेक जनपदों से विद्यार्थी आते थे और रहने के लिये सत्ताईस छात्रालय बने हुए थे। इस विद्यालय में लगभग पाँच सौ विद्यार्थी रहे होंगे। विद्यालय को सार्वजनिक सहयोग से तथा विशेष उत्सवों के अवसर पर दान प्राप्त हुआ करता था।

एन्नारियम के वैदिक-विद्यालय की प्रतिष्ठा 11वीं शती के आरम्भिक-भाग में हुयी थी। यह दक्षिणी अर्काट प्रदेश में था। इसमें तीन सौ चालीस विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी, जिनमें से 75 ऋग्वेद, 75 कृष्णयजुर्वेद, 40 सामवेद, 20 शुक्ल यजुर्वेद, 10 अथर्व वेद, 10 बौधायन धर्मसूत्र, 40 रूपावतार, 25 व्याकरण, 35 प्रभाकर मीमांसा और 10 वेदान्त पढ़ते थे। इसमें सोलह अध्यापक थे। इस विद्यालय को आस-पास की ग्रामीण जनता चलाती थी।

चिंगलीपुट जिले मेंतिरुमुक्कूडल के विद्यालय की स्थापना 11 वीं शती में वेंकटेश्वर के मन्दिर में हुई थी। इस विद्यालय में साठ विद्यार्थियों के रहने और भोजन का प्रबन्ध किया गया था, जिनमें से 10 ऋग्वेद, 10यजुर्वेद, 20 व्याकरण,

10 पंचरात्रदर्शन, 3 शैवागम के विद्यार्थी तथा 7 वानप्रस्थ और सन्यासी थे।

तिरुवोर्रियुर और मल्कापुरम् में उपर्युक्त कोटि के अन्य विद्या-मन्दिर थे। इनकी स्थापना 14वीं शती में हुई थी। तिरुवोर्रियुर के विद्यामन्दिर में व्याकरण की ऊँची शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया था। इसमें लगभग पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मल्कापुरम् के विद्यामन्दिर में आठ अध्यापक थे। वे वैदिक-साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगम की शिक्षा देते थे।

11वीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में जो विद्या-मन्दिर था, उसमें वेद पढ़ने वाले 200, स्मृति पढ़ने वाले 200, पुराण पढ़ने वाले 100 तथा दर्शन पढ़ने वाले 52 विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिर के पुस्तकालय में छः अध्यक्ष थे। 1075 ई0 में बीजापुर के एक मन्दिर में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शन की उच्च-शिक्षा देते थे। ऐसे ही अनेक विद्यामन्दिर 10वीं शती से लेकर 14वीं शती तक बीजापुर जिले में ममगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शिमोग जिले में तालगुण्ड, तंजौर जिले में पुन्नवयिल आदि स्थानों में थे।

विद्वान ब्राह्मणों का भरण-पोषण करने का उत्तरदायित्व प्रायः राजाओं पर रहा है। ऐसे ब्राह्मणों के उपभोग के लिए राजा या धनी लोगों की ओर से जो क्षेत्र या अन्न-दान रूप में दे दिया जाता था, उसे "अग्रहार" कहा जाता था। गुरुकुलों से लौटे हुए स्नातकों को इस प्रकार के अग्रहार प्रायः मिल जाते थे। ऐसे अग्रहारों का उपभोग करने वाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापन में अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे। इस प्रकार अग्रहारों मे विद्यालय की प्रतिष्ठा होते देर नहीं लगती थी। अग्रहारों की कोटि में अन्य संस्थायें "घटिका" और "ब्रह्मपुरी" रहीं हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या दक्षिण-भारत में बहुत अधिक थी।

अग्रहार-संस्था का आरम्भ द्वापर युग के बाद हुआ। उस समय तक देश में जनसंख्या इतनी बढ़ गयी कि आचार्यों को अपने भरण-पोषण तथा विद्यालय चलाने के लिये राजकीय-सहायता की आवश्यकता विशेष रूप से हो गयी। इसके पहले तो किसी भी व्यक्ति के लिए वन के किसी भू-भाग को आश्रम रूप में परिणत कर लेना सरल था। अग्रहार- संस्था इस बात को सूचित करती है कि तत्कालीन आचार्यों में से कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवन की कठिनाइयों को अपनाने के लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने अपने विद्याभ्यास के लिए वन के स्थान पर नगर या गाँवों को चुना।

<u>अग्रहारों की रूप-रेखा का परिचय-</u> राष्ट्रकूट राजवंश की ओर से 10वीं शती में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में कदियुर अग्रहार दो सौ ब्राह्मणों के लिए दिया गया था। इसमें वैदिक साहित्य, काव्य-शास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों के निःशुल्क-भोजन का प्रबन्ध अग्रहार की आय से होता था। सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूर के हस्सन जिले में प्रतिष्ठित था। इस अग्रहार के प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक कृत्यों में तल्लीन रहते थे। मैसूर राज्य में वनवासी की राजधानी बेलगाँव से सम्बद्ध तीनपुर, पाँच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध विहार थे। यहाँ पर वेद, वेदांग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदि की शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहार की भाँति "टोल" नामक शिक्षण-संस्था का प्रचलन उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में रहा है। यह संस्था नागरिकों की आर्थिक सहायता और भूदान से चलती थी। टोल गाँवों से सम्बद्ध होते थे। गाँवों के पण्डित आस-पास के विद्यार्थियों के लिए भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्या-दान देते थे। विद्यार्थियों के लिये छात्रावास-विद्यालय के समीप चारों ओर बने

होते थे। टोलों का अस्तित्व छोटी पाठशालाओं के रूप में बहुत प्राचीनकाल से रहा है।

गौतम बुद्ध के समय से ही बौद्धदर्शन और धर्म के अध्ययन तथा अध्यापन के लिए भारत के प्रत्येक भाग में असंख्य विहार बने। विहारों में बौद्धदर्शन और धर्म के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के दर्शन तथा धर्म के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक-उपयोगिता के विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांग के लेखानुसार भारत में 7वीं शती में लगभग पाँच हजार विहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षु शिक्षा पाते थे।

विहारों में भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधि में अपना सारा समय लगा देते थे। नालान्दा, बलभी तथा विक्रमशिला के बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीप में अपनी उच्च-शिक्षा के लिये प्रख्यात थे।

-गुरुकुलों का प्राकृतिक परिवेश-

तत्कालीन आश्रमों का वातावरण पर्याप्त मात्रा में समुल्लिखित प्राप्त होता है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है उसका उस व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों एवं सम्पूर्ण दिनचर्या पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा-प्राप्ति हेतु व्यक्ति की सरलता एवं पवित्रता का उसकी शिक्षा पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है जितना ही शिक्षा-क्षेत्र सरल, प्रशान्त, कृत्रिमता से रहित एवं तपोमय होगा उतना ही शैक्षिक-स्तर उन्नत होगा। प्राचीन गुरुकुलों का प्रतिबिम्ब आधुनिक-युगीन विद्यालयों पर भी यत्किंचित् दृष्टिगोचर होता है। नगर अथवा ग्रामीण-कोलाहल से अत्यन्त दूर, प्राकृतिक-सम्पदा के मध्य प्रशान्त-वातावरण में दत्तचित्त हो अध्ययन करने में सहायक-प्रकृति का चित्रण करने में चतुर कवि कुलगुरु कालिदास ने कण्वाश्रम का सुन्दर

xxxxxxx वर्णन किया है।[1]

आश्रम का उपर्युक्त प्रशान्त एवं रमणीय वातावरण किसके मन को अध्ययन के लिये प्रेरित नहीं करेगा? प्रस्तुत श्लोक[2] में वर्णित इंगुदी के फल फूट जाने से स्निग्ध प्रस्तर खण्ड इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि चिकित्सा हेतु वनस्पतियों का आश्रम अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। चोट लग जाने पर उपर्युक्त फल को पत्थर पर घिसकर घाव के स्थान पर प्रलेप कर दिया जाता था। महर्षि की अनुपस्थिति में भी मृगों की निडरता से आश्रम की सुरक्षा की ओर विशेष संकेत प्राप्त होता है। अतः तत्कालीन आश्रम-व्यवस्था पूर्णरूपेण निरापद थी।

अन्यत्र द्वितीय प्रसंग में उल्लिखित कण्व आश्रम का मनोहारी एवं सजीव-चित्रण भी विविध तथ्यों को स्पष्ट रूप से लक्षित करता है। सर्वप्रथम तो यज्ञ की अनिवार्यता दृष्टिगोचर होती है जिससे यह तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि स्वयं भोजन करने से पूर्व घृत, सुगन्धित लकड़ी, हवन-सामग्री तथा अन्न के द्वारा अग्निदेव संतुष्ट करते हैं। साथ ही प्राकृतिक-वातावरण को पवित्र एवं रमणीय बनाने, वैज्ञानिक रूप से हानिप्रद कीटों को दूर करने एवं श्वास-प्रश्वास हेतु स्वास्थ्यप्रद एवं पवित्र वायु जैसे अनेकानेक उद्देश्य निहित हैं।

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1/14 पृ010

"नीवाराः शुकगर्भ कोटर मुख भ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्ते एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधार पथाश्च वल्कल शिखा निष्यन्द रेखांकिता।।"

2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् {1/15 पृ010}

"कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौत मूलाः,
भिन्नो रागः किसलयरूचामाज्य धूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवन भुवि छिन्नदर्भांकुरायां,
नष्टाशंका हरिणशिशवो मन्द मन्दं चरन्ति।।"

कुशाएँ उखाड़ लिये जाने से तत्कालीन श्रम साध्यता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः कुश का अग्र भाग अत्यन्त तीव्र होता है जिसके स्पर्श मात्र से अतीव कष्ट प्रतीत होता था। उसको उखाड़ने का कार्य तो और भी कष्टप्रद था, जिसको आश्रम के छात्रगण ही करते थे। अतएव उपर्युक्त विवेचना से तद्‌युगीन आश्रमों की व्यवस्था एवं उनके माहात्म्य पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त आश्रम-व्यवस्था एवं परिवेश का यत्किंचित चित्रण आधुनिक कतिपय शिक्षण-संस्थानों में भी उपलब्ध होता है। आधुनिक शिक्षा-जगत में भी शान्त वातावरण बनाये रखने एवं गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु अधिकतम यही प्रयास किया जाता है कि शिक्षण संस्थाएँ नागरिक अथवा ग्रामीण कोलाहल से दूर ही रहें जिससे किसी भी प्रकार से भौतिक आकर्षण विद्याध्ययन में बाधक न बनें। वाराणसी में निर्मित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय {बी०एच०यू०} तथा बोलपुर के पास शान्ति-निकेतन {विश्व भारती} विश्वविद्यालय एक उत्कृष्टतम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। बाह्यरूप से ही क्यों न हो उसका अत्यन्त मनोरम प्राकृतिक-परिवेश आज भी पर्यटकों को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। इसी प्रकार संस्कृत-महाविद्यालयों एवं सरस्वती शिशु मन्दिरों में भी उपर्युक्त वातावरण प्राप्त होता है। इन संस्थाओं के निर्माण में नदियों का पावन तट एवं पर्वतों की उपत्यकाओं का विशेष माहात्म्य था, जिससे भौतिक-परिस्थिति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठी थी। यह सब प्रकृति का सामीप्य प्राप्त करने की कामना से किया जाता था।

वस्तुतः हमारे प्राचीन गुरुकुलों का निर्माण अनेकानेक तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए किया जाता था। आध्यात्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक जैसे विविध पक्षों से सम्बन्धित उल्लेखनीय तथ्य हमारे प्राचीन महर्षिजनों के मस्तिष्क में सदैव विद्यमान रहते थे। अतएव, भारतीय शिक्षा-विदों का और सम्पूर्ण समाज

को सुशिक्षित करने का उद्देश्य भी भली-भाँति सम्पूर्ण होता था। वर्तमान समय में निरन्तर बढ़ते हुए वैभव के आकर्षण से समस्त समाज के साथ भारतीय शिक्षा जगत् भी उपर्युक्त बाह्याडम्बर से समन्वित व्यवस्था का शिकार बन रहा है। इसके लिये हमें यथार्थ परिस्थितियों का सामना करते हुये प्राचीन आदर्शों को व्यवहार में लाना होगा तभी शिक्षा-जगत का वास्तविक लक्ष्य पूर्ण हो सकेगा।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम का विद्याध्ययन-

आर्यावर्त भारतवर्ष में प्राचीनकाल से मानव-जीवन में शिक्षा का विशेष महत्त्व रहा है। तत्त्व-साक्षात्कार से लेकर चरित्र निर्माण पर्यन्त जीवन के विविध पक्षों में सद्-शिक्षा मानव को सदा उन्नत करती रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ण तो क्या पशु-पक्षी-अश्व, हस्ती, शुक आदि भी यथायोग्य भिन्न-भिन्न शिक्षाओं में अधिकृत थे। गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास-आश्रम को सर्वविध सुखमय बनाने हेतु ब्रह्मचर्याश्रम [बाल्यावस्था] में ही शिक्षा के लिये गुरुकुल में जाकर अध्ययन द्वारा वेद-वेदांग आदि शास्त्रों में योग्यता प्राप्त की जाती थी। यहाँ तक कि भारतभूमि में अवतार लेने वाले ईश्वर को भी गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की विचित्र परम्परा का निर्वाह यहाँ दृष्टिगोचर होता है— श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध, अध्याय पैंतालीस में स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजी सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये अवन्तीपुर-उज्जैन निवासी काश्यपगोत्रीय श्रीसान्दीपनि मुनिय के समीप गये थे।—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।

x x x x

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।

काश्यं सांदीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्।।

x x x x

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।

[30,31,36]

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम भी गुरुकुल में जाकर महर्षि वशिष्ठ से सम्पूर्ण विद्याओं की शिक्षा स्वल्पकाल में ही ग्रहण कर लेते हैं-

गुरुगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब पाई।।

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।।

[रा०च०मा० बा०204/4-5]

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली की यह विशेषता थी कि वेद से लेकर रामायण-पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय विद्वानों को कण्ठस्थ रहते थे। इसीलिये वेद का दूसरा नाम अनुश्रव है, क्योंकि गुरु के उच्चारण के बादजिसका उच्चारण किया जाये, उसे अनुश्रव [वेद] कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में परा तथा अपरा— इन दो विद्याओं का वर्णन है— "विद्ये वेदितव्ये— परा चैवापरा च।" ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष— ये सभी अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं। जिससे अविनाशी परब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह परा विद्या है।

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। तत्रापरा ऋग्वेदो: यजुर्वेद:

सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति

पुराकाल में सर्वज्ञ महर्षिगण भी कभी-कभी महापुरुष के समीप जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। छान्दोग्य-उपनिषद् में स्पष्ट है कि एक बार देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार के समीप शिक्षा ग्रहण करने के लिए पधारे तथा उनसे प्रार्थना की — "प्रभो! मुझे उपदेश कीजिये।" महर्षि सनत्कुमार ने कहा— "तुम्हें जो कुछ ज्ञात है उसे बताओ, तत्पश्चात् मेरे प्रपन्न होओ, तब उससे आगे मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।" श्री नारदजी ने कहा— "मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, और सामवेद जानता हूँ। इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराणरूप पंचम वेद, वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पातविज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या— यह सब मैं जानता हूँ।"

श्री सनत्कुमार जी ने कहा— "तब तो तुम सब कुछ जानते हो।" देवर्षि बोले— "मैं मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। आप -जैसे महापुरुषों से मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है। मुझे शोक है, अतः आप मुझे शोक से पार करें।" इस पर महर्षि सनत्कुमार ने देवर्षि नारद को नामकी उपासना का उपदेश किया। इसका विशद वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है— "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः........नामेवितद्।" इससे स्पष्ट है कि देवर्षि नारद को श्री सनत्कुमारजी ने परा विद्या का ही उपदेश किया था।

श्रीमद् वाल्मीकि-रामायण साक्षात् वेदावतार है। वेदवेद्य पुरुषोत्तम भगवान् जब दशरथनन्दन श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हुए, तब वेद भी महर्षि वाल्मीकि के द्वारा रामायण के रूप में अवतरित हुए—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।

वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।।

जब महर्षि वाल्मीकि ने सम्पूर्ण श्रीमद्रामायण का निर्माण कर लिया, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि चौबीस हजार श्लोकों के इस समग्र आदिकाव्य को कौन कण्ठस्थ करेगा? महर्षि इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि कुश-लव दोनों भ्राताओं ने उनके चरण पकड़कर कहा कि हम दोनों भाई इसे कण्ठस्थ करेंगे।

धर्मज्ञ, यशस्वी, लव-कुश मुनिवेश धारण किये हुये वस्तुतः राजकुमार ही हैं। चारों वेदों में पारंगत एवं आश्रमवासी होने के कारण अत्यन्त प्रीति से महर्षि ने स्वरसम्पन्न दोनों भाइयों को देखा। वेदार्थ के विस्तार के लिए महर्षि ने दोनों भाइयों को रामायण की शिक्षा दी—

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।

वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः।।

[वाल्मी० 1/4/6]

जिस समय महर्षि ने लव-कुश को रामायण की शिक्षा दी थी, उस समय दोनों भाइयों की अवस्था प्रायः बारह वर्ष की थी। इस स्वल्प वय में अंगो सहित समस्त वेद, उपवेदों का ज्ञान चमत्कार ही कहा जा सकता है- ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के भेद से चार वेद प्रसिद्ध हैं तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद हैं।

आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।

अर्थशास्त्रमिति प्रोक्तमुपवेदचतुष्टयम्।।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष के भेद से वेदांग छः हैं—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।

छन्दसां विचितिश्चेति षडंगानि प्रचक्षते।।

धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, आन्वीक्षिकी {तर्क-विद्या} अंगों के साथ ये चार उपांग भी हैं—

धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्वीक्षिकी तथा।

चत्वार्येतान्युपांगानि शास्त्रज्ञाः सम्प्रचक्षते।।

इन समस्त वेद-शास्त्रों में तो लव-कुश जी निष्णात थे ही, किन्तु संगीत-शास्त्र में उनकी प्रतिभा असाधारण थी। वे वीणावादन से लेकर मूर्च्छनापर्यन्त संगीत की समस्त विधाओं में पारंगत थे। उन्होंने चौबीस हजार श्लोकों को कण्ठस्थ कर गान किया था—

धारणे विधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ।

× × ×

यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ।।

"धारणे विधेयम्" का अर्थ है— बारम्बार आवृत्ति करने से जो प्रबन्ध अपनी वाणी के वश में हो जाता है उसे "धारणे विधेयम्" कहते हैं। इस प्रकार, मैथिली-पुत्र श्रीकुश-लवजी की वाणी के वश में श्रीमद्रामायण महाकाव्य था। इन्होंने सन्त महापुरुषों,

ऋषि-महर्षियों के मध्य एवं भगवान् श्रीराम के दरबार में रामायण महाकाव्य का गान कर अपनी असाधारण योग्यता को प्रकट कर दिया।

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदा:।

धनुर्वेदे च निरता: सर्वशास्त्रार्थवेदिन:।।

गुरु वसिष्ठ जी ने चारों भाइयों का उपनयन-संस्कार किया। श्रीरामजी भाइयों के साथ गुरु वसिष्ठ जी के घर विद्याध्ययन के लिए गए। प्राचीनकाल में ऐसी मर्यादा थी कि महाराजाका पुत्र क्यों न हो, किन्तु उसे भी पढ़ाने के लिये गुरु राजमहल में नहीं जाते थे। राजकुमार गुरु के आश्रम में जाकर ही वेद शास्त्र का अध्ययन करता था। आजकल तो मास्टर लड़के को पढ़ाने के लिए घर जाता है। श्रीराम पढ़ने के लिए गुरु वसिष्ठ जी के आश्रम में गये थे । श्रीराम परमात्मा हैं, परन्तु इस संसार में आने के बाद उन्हें भी गुरुदेव की आवश्यकता पड़ती है। यह संसार ऐसा मायामय है कि इसमें जो कोई आता है उसे कुछ न कुछ माया तो व्याप्त होती ही है। यह संसार मायामय है। इस मायामय संसार में जो कोई आया, उसे कुछ तो माया व्यापती ही है।

माया से बचना हो तो सद्गुरु की शरण में जाना अत्यन्त आवश्यक है—

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।

कहै कबीर गुरु ग्यान ते एक आध उबरन्त।।

मनुष्य मूर्ख नहीं, परन्तु मनुष्य का ज्ञान स्थिर रहता ही नहीं। परमात्मा जिसे ज्ञान देते हैं, उसी का ज्ञान स्थिर रहता है। परमात्मा को जिस पर दया आयी, उसी को विषयों में वैराग्य दीखता है। उसी को संसार के सुख तुच्छ लगते हैं। संसार सुख के प्रति मन में घृणा आवे तो मानना चाहिये कि परमात्मा ने कृपा की है।पूर्ण-संयम के बिना ज्ञान आता नहीं। पुस्तकें पढ़कर जो शब्द-ज्ञान मिलता है, उससे अभिमान हो जाता है, किन्तु सद्गुरु-कृपा से, ईश्वर-कृपा से प्राप्त हुआ ज्ञान विनय, विवेक, सद्गुण और सदाचार लाता है।

पारस के परसन ते, कंचन भई तलवार।

तुलसी तीनों ना गये, धार मार आकार।।

ज्ञान हथौड़ा हाथ ले, सद्गुरु मिला सुनार।

तुलसी तीनों मिट गये, धार मार आकार।।

गुरु ही संसार-सागर के माया-मगर से बचाते हैं। अन्दर की वृत्तियों का विनाश करते हैं, वासना-विकार मिटा देते हैं और संसार-सागर से पार करा देते हैं। सेवा से विद्या सफल होती है। श्रीराम जी गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करने लगे। श्रीकृष्ण ने भी सांदीपनि ऋषि के आश्रम में रहकर गुरु जी की खूब सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था।

भगवान् शंकर माँ पार्वती से कहते हैं---- "देवि! जिन परमात्मा की श्वास से वेद प्रकट हुये हैं, वे ही भगवान् गुरु वशिष्ठ के घर पढ़ने बैठे हैं।" धनुर्वेद का अध्ययन प्रभु ने वहीं किया। समस्त वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया। श्रीरामजी ने गुरु वशिष्ठ के पास अध्यात्म विद्या पढ़ी थी। आत्मा का स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है, कैसा है? आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध क्या है? यह जगत् क्या है? जीवन क्या है? जीवन का लक्ष्य क्या है? इस अध्यात्म-विद्या का श्रीराम ने अध्ययन किया था।

जो विद्या का उपयोग भोग के लिये करे, वह विद्वान नहीं। विद्या का उपयोग जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिये करे, वह विद्वान है। विद्या के साथ संयम तथा सदाचार का शिक्षण मिले तभी विद्या सफल होती है। प्राचीनकाल में ऋषि ब्रह्मचारी को विद्या के साथ संयम-सदाचार का शिक्षण देते थे।

पढ़ाने वाले ऋषि जितेन्द्रिय व विरक्त होते थे, इसलिये पढ़ने वाले विद्यार्थियों में भी संयम उत्पन्न होता था। संयम ही सुख देने वाला है। विद्यार्थी-अवस्था में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरुकुल में रहकर तीन बार संध्या करना, वेदा-

ध्ययन करना, सादा भोजन करना, गुरु की सेवा करना---- इन सब प्रकार के सद्-गुणों का संग्रह करते हुये विद्यार्थी संयम और सात्विकता जीवन में उतारते थे। बड़े-बड़े राजाओं के बालक भी गुरुकुल में रहते हुए सादा भोजन करते और सादा जीवन व्यतीत करते थे।

गुरु के संस्कार विद्यार्थियों में आते हैं।

विश्वविद्यालय बौद्धिक-स्वातन्त्र्य के केन्द्र :- भारत में पराधीनता का सर्वाधिक प्रभाव सांस्कृतिक-चेतना एवं बौद्धिक-विकास के क्षेत्रों पर पड़ा है और भारतीय विश्वविद्यालय इस कुप्रवृत्ति के मुख्य प्रतीक रहे हैं। स्वतंत्रता के पूर्व का प्रबुद्ध वर्ग मैकाले-प्रणीत शिक्षा-प्रणाली को न केवल देश के लिये अनुपयुक्त समझता था, अपितु उसकी मान्यता थी कि तत्कालीन विश्वविद्यालय ऐसे विद्यार्थियों का निर्माण करते हैं, जो राष्ट्रीय-चेतना-धारा से विरत, राष्ट्रिय आकांक्षाओं से अनभिज्ञ तथा इतिहास की भावी रूप-रेखा से सर्वथा अपरिचित हैं और होंगे।

उन दिनों सारी परिस्थितियों का दोष विदेशी-सत्ता को दिया जाता था और ऐसा समझा जाता था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जिस नये समाज का उदय होगा, उसमें विश्वविद्यालय ऐसे बौद्धिक-स्वातन्त्र्य के केन्द्र के रूप में विकसित होंगे, जिनमें भौतिक-चिन्तन तो होगा ही, साथ ही भारतीय संस्कृति के अनुरूप उनका विकास भी होगा तथा वे एक नये क्रान्तिकारी समाज की संरचना के आधार बनेंगे। विश्वविद्यालय उस समय के सभी राजनेताओं एवं विचारकों के आशा-केन्द्र थे।

घटना चक्रों की यह विडम्बना ही है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में पराधीनता की प्रवृत्तियों का ही विकास हुआ। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय जिन प्रवृत्तियों को अस्वस्थ्य एवं अराष्ट्रिय समझा जाता था, वे ही आज प्रगति तथा विकास का प्रतीक बन गयी हैं। जहाँ आर्थिक-क्षेत्र में विदेशी सहायता तथा अन्तर्राष्ट्रिय-कम्पनियों पर हमारा परावलम्बन बढ़ा है, सांस्कृतिक-क्षेत्र में हमारी

हीन-भावना विकसित हुई है, नैतिक मान्यताएँ तेजी से बदली हैं, स्वराज्य के प्रति श्रद्धा कम हुई है, भारतीय-मूल्यों, स्वभाषा, वस्त्र-वेशभूषा के प्रति हमारा आग्रह घटा है (राजनेताओं, राज्यपालों तथा मन्त्रियों की टाई-संस्कृति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है), वहीं हमारे विश्वविद्यालय विदेशी संस्कृति, तकनीक के प्रचार-केन्द्र एवं उनकी सभ्यता के दीप-स्तम्भ बन गये हैं। आज वहाँ होड़ इस बात की लगी है कि कौन अधिक से अधिक "अभारतीय" है तथा विदेशी संस्कृति उसके कितना निकट है। इस बात की प्रतिस्पर्धा नहीं है कि अपने स्वतन्त्र-देश को गौरव के अनुरूप आचरण में प्रतिष्ठित करके नवयुवकों में स्वदेशाभिमान जाग्रत किया जाये, अपितु इस बात की है कि कौन कितना अधिक अमेरिकन, ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच या रूसी विचारधारा से पोषित और प्रभावित है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् देश की सांस्कृतिक-परम्परा एवं बौद्धिक-जीवन को नियन्त्रित करने की दृष्टि से अनेक शोधण-संस्थान, फाउण्डेशन, स्कालरशिप तथा शैक्षणिक-आदान-प्रदान (एक्सचेंज) कार्यक्रम (अधिकतर अमेरिकन) प्रारम्भ किये गये, जो शैक्षणिक-कम और राजनीतिक अधिक थे। सांस्कृतिक सहयोग, आर्थिक पुनर्निर्माण एवं ज्ञान-परिवर्धन के नाम पर हमारे नवयुवकों का "आधुनिकीकरण", "विदेशीकरण" तथा "विसंस्कृतिकरण" किया गया। सम्पूर्ण देश में यह धारणा विकसित की गयी कि जब तक ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज या हारवर्ड की मोहर न हो (यद्यपि आजकल उनका आर्थिक ढाँचा बुरी तरह लड़खड़ाया हुआ है), तब तक कोई भी कथित विचारक, सुसंस्कृत एवं चिन्तनशील-अध्यापक नहीं हो सकता। प्राय: यह भुला दिया गया है कि बौद्धिक-विकास आत्माभिमुखी प्रक्रिया है, न कि बाह्य आडम्बर। विदेशी शिक्षा-प्राप्त नवयुवक (कुछ अपवादों को छोड़कर) न तो भारतीय समाज-व्यवस्था में समरस हो पाते हैं और न शिक्षण-कार्य के प्रति समर्पण की भावना से कार्य ही कर पाते हैं। पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत प्रशिक्षण तो उनके लिए व्यवसाय या विकास की सीढ़ी मात्र है।

राष्ट्रीय-चेतना० गौरव एवं ज्ञान के अभाव में आज के विश्वविद्यालय कोई मौलिक देन देने में असमर्थ हैं। जिन मूल्यों की यहाँ स्थापना होती है, वे किसी भी प्रकार बौद्धिक- स्वातन्त्र्य एवं विकास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इस प्रकार की प्रशिक्षण-प्रणाली से आधुनिकतावादी तो जन्म ले सकते हैं, किन्तु युग-परिवर्तक समाजनिर्माण नहीं, इतिहासकार बन सकते हैं, किन्तु इतिहास-निर्माता नहीं, मन्त्रद्रष्टा नहीं। वे किसी का अनुगमन कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं।

आज सभी अनुभव करते हैं कि वर्तमान विश्वविद्यालय राष्ट्र-निर्माण में अपना योगदान नहीं दे पा रहे हैं, शिक्षक मार्गदर्शन के स्थान से च्युत हो गये हैं, विद्यार्थियों में स्वदेशाभिमान एवं उत्तरदायित्व का अभाव है। सभी मानते हैं कि वर्तमान अनुलिपिकारिणी शिक्षण-प्रणाली देश के लिये अनुपयुक्त एवं अभिशाप है। सभी लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित करने की बात कहते हैं तथा क्षेत्रीय भाषाओं को विकसित करने की बात का समर्थन भी करते हैं, परन्तु फिर भी अँग्रेजी भाषा का ही एकच्छत्र साम्राज्य है। सभी ओर विचार एवं कर्तव्य में गतिरोध पैदा हो गया है।

आवश्यकता है कि विश्वविद्यालय बौद्धिक स्वातन्त्र्य के केन्द्र बनें, हम मौलिक-चिन्तन की ओर अग्रसर हों, ज्ञान कहीं से भी मिले, ग्रहण करें, किन्तु भारतीय आधार न छोड़ें, सुचिन्तित एवं सुस्पष्ट शिक्षा-नीति का अनुसरण करके विश्वविद्यालयों को जनाभिमुख बनायें, गारा-मिट्टी के स्थान पर सद्ज्ञान पर बल दें तथा विद्यार्थियों में श्रेष्ठतम मानवीय-गुणों का निर्माण कर भारतवर्ष के पुनर्निमाण, आर्थिक विकास एवं सांस्कृतिक-पुनर्जागरण में अपना सहयोग प्रदान करें।

-बाल-विश्वविद्यालय-

संसार में पहली बार बाल-विश्वविद्यालय स्थापित करने की चर्चा चल रही है। सामाजिक-बुराइयाँ मिटाने और विकास के मार्ग पर चलने का शुभारम्भ बालक

से ही हो सकता है। इसके लिये हमारी चार दशक की पुरानी शिक्षा असफल ही रही, यह हमें ज्ञातव्य है। नयी शिक्षा-प्रणाली कुछ सार्थक है भी, इसी में संदेह होता है।

बाल-विश्वविद्यालय की कल्पना एकदम अनूठी है। बालक और विश्व-विद्यालय— दो शब्द साथ-साथ हों तो उन्हें हमारे महारथी शिक्षा विद् पचा नहीं सकते। वे परम्परागत विश्वविद्यालय से अलग कैसे सोचें। विश्वविद्यालय-अनुदान- आयोग ने रस्सों से घेराबन्दी करके अधिकांश विश्वविद्यालयों को कब्रिस्तान बना रखा है। बौद्धिक-समाज पश्चिम का पालतू बना हुआ है। बाल-विश्वविद्यालय में बाल-शिक्षा और अनुसंधान को एक ही परिसर में रखा जायेगा। बाल-विश्व-विद्यालय ऐसा होगा जो अनुदान की बैसाखियों पर न टिका हो। उसके तीन मुख्य भाग होंगे। —— §1§ जिस बाल-शिक्षा को हम सपनों में संजोते आये हैं, उसे साकार करने वाला विद्यालय। §2§ विद्यालय का शिशु-प्रभाग तीन से पाँच-छः वर्ष तक के फुदकते-किलकारियाँ भरते शिशुओं का होगा। §3§खेल-खेल में उनकी शिक्षा होगी, कोई पाठ्य-पुस्तक उनके लिए निर्धारित न होगी।

मुख्य विद्यालय में पाँच वर्ष से ऊपर के बालक भर्ती किये जाएँगे। आरम्भ में एक हजार, उसके बाद प्रतिवर्ष दो एक हजार जुड़ते रहेंगे। दस हजार से अधिक बच्चे भर्ती न होंगे। पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्र के बालक भी वहाँ लिए जाएँगे। ग्यारह वर्ष तक उनकी शिक्षा वहीं रहकर होगी। वे बालक तीन भाषाएँ सीखेंगे। इसके सिवा प्रतिदिन के काम में आने योग्य गणित तथा दूसरे विषय भी पढ़ाये जाएँगे। यह शिक्षा बहुत सी पाठ्य-पुस्तकों के भरोसे नहीं चलेगी। इस अवधि में सभी बालक विश्वविद्यालय-परिसर में काम भी करेंगे। वे कोई-न-कोई ऐसी दस्तकारी सीखेंगे, जिससे वे सत्रह वर्ष के होने पर चाहें तो अपना काम आरम्भ कर सकें। ग्यारह वर्ष की इस शिक्षा में उन्हें परीक्षा और प्रमाण-पत्र के बन्धन में बँधना न पड़ेगा।

इसके बाद उनकी विशेषज्ञ-शिक्षा आरम्भ होगी। जिस दिशा में उनकी विशेष रुचि हो, उसी के शीर्षस्थ विशेषज्ञ की देख-रेख में युवा छात्र अपना अध्ययन करेंगे। उसकी अवधि छः सात वर्ष तक हो सकती है। कतिपय मामलों में आवश्यकता होने पर दस वर्ष तक भी हो सकती है। बाल-विश्वविद्यालय में विशेषज्ञ-शिक्षा पूरी करने वाले छात्रों को जहाँ-तहाँ नौकरी के लिये भटकना नहीं पड़ेगा। यदि वे चाहेंगे तो विश्वविद्यालय में अच्छे वेतन पर आजीवन काम कर सकेंगे।

बाल-विश्वविद्यालय के छात्रों को बहुत-सा ज्ञान आप से-आप मिल जाएगा। परिसर में "लघु-भारत" का निर्माण किया जाएगा। प्रत्येक राज्य को भूमि प्रदान की जाएगी, जहाँ वे अपना-अपना सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित कर सकें। ये केन्द्र बारहों मास जीवन्त बने रहेंगे। राज्य-विशेष का रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, लोक-जीवन तथा अन्य मुख्य विशेषताओं की झाँकी हर किसी को वहाँ मिल जाएगी। राज्यों के पर्व-त्योहार भी आये-दिन वहाँ मनाये जाएँगे।

बाल-विश्वविद्यालय में बालक से जुड़े सभी विषयों पर शोध-कार्य भी होंगे। वहाँ बालक के स्वास्थ्य, मनोविज्ञान, व्यवहार, मनोरंजन, खेलकूद, शिक्षण-पद्धति तथा ज्ञान-विज्ञान से जुड़े विविध विषयों पर अध्ययन एवं शोध की व्यवस्था रहेगी। इस समय इन पाँच संस्थानों को वहाँ आरम्भ करने का प्रस्ताव है।—— (1) बाल-स्वास्थ्य-शोध-संस्थान, (2) बाल-मनोरंजन का संस्थान, (3) बाल-शिक्षा-अध्ययन एवं शोध, (4) खेलकूद-संस्थान और (5) विश्व-बाल-साहित्य तथा दृश्य-श्रव्य-संस्थान एवं विशाल पुस्तकालय।

बाल-विश्वविद्यालयों की सम्पूर्ण रूपरेखा तैयार करनेके लिये गठित समिति के अध्यक्ष देश के जाने-माने शिक्षाविद् प्रो० मुनिस रजा हैं। उनका कहना है कि राजधानी के निकट जो बाल-विश्वविद्यालय बनेगा, वह तो "मॉडल" या संगम-जैसा होगा, शेष देश के अन्य भागों में उसके क्षेत्रीय परिसर भी बनते जाएँगे। भूतपूर्व उप-

राष्ट्रपति श्री बी॰डी॰जत्ती विश्वविद्यालय के सूत्रधार हैं। भारतीय बाल-शिक्षा-परिषद् ने इस दिशा में पहल की है और दो सौ एकड़ भूमि जुटा ली है। विविध क्षेत्रों के विशेषज्ञ समिति से जुड़ रहे हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतन, पाँडिचेरी में अरविन्द-आश्रम गुरुकुल-पद्धति, गिजुभाई के बाल-मन्दिर तथा इवान इलिच के "स्कूलरहित समाज" में जो अच्छी बातें हैं, उन्हें केन्द्र में रखकर बाल-विश्वविद्यालय की योजना आगे बढ़ेगी। इसकी सम्पूर्ण रूपरेखा उभरने में समय लगेगा। नवम्बर सन 1987 ई0 में नई दिल्ली में हुए "राष्ट्रिय-बाल-शिक्षा-सम्मेलन" में देश के सभी भागों से एक हजार शिक्षाविद्, शिक्षक, विचारक तथा बालक के विषय में सोचने-समझने वाले विशेषज्ञों ने भाग लिया। "बाल-विश्वविद्यालय" सत्र की अध्यक्षता शिक्षा एवं संस्कृति-मन्त्री श्रीमती कृष्णा साही ने की। श्रीमती साही ने कहा कि बाल-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बालक का सम्पूर्ण विकास हो सकेगा। इस योजना में निर्धारित पाठ्यक्रम द्वारा ज्ञान कराने पर जोर नहीं है, अपितु स्वास्थ्य, खेलकूद, मनोरंजन तथा सांस्कृतिक-कार्यक्रमों द्वारा बहुमुखी विकास किया जाएगा। इससे बच्चों का मानसिक-स्तर बढ़ेगा, साथ ही राष्ट्रीय-एकता और सद्भाव की दिशा में यह सफल प्रयोग होगा, किन्तु बाल-विश्वविद्यालय के आयोजक "जीवन-शिक्षा" के विचारों को संजोये हुए हैं। यह योजना नयी पीढ़ी में एकता, सद्भाव तथा मानवता के अंकुर अवश्य रोप सकेगी।

-प्राचीन भारत में गुरुकुल की परम्परा-

भारतीय आचार्यों ने शरीर, मन और आत्मा के विकास का साधन शिक्षा को माना है। अतः शिक्षा भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित न रहकर आत्म-चिन्तन तक का लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षा का सम्बन्ध बालक के जन्म के पूर्व से लेकर उसके परिपक्व नागरिक बनने तक निरन्तर रहता है। शिक्षित वह है, जो

माता-पिता तथा आचार्य से गहराई के साथ जुड़ा है। माता-पिता के संस्कारों से संतान के प्रारम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके संस्कारों को जन्म देता है। संस्कारों का क्रमबद्ध निर्माण ही बालक की शिक्षा है। यही कारण है कि गर्भाधान-संस्कार से लेकर उपनयन-संस्कार तक बालक को उद्देश्यनिष्ठ दृष्टि से तैयार किया जाता है। भारतीय शिक्षा केवल परिवेश को ही उपयोगी व्यक्तित्व के निर्माण का घटक नहीं मानती, वह उसके अर्जित संस्कार तथा माता-पिता की शिक्षा को भी उसके निर्माण में प्रमुख कारक स्वीकार करती है। माता-पिता जब संतान को महान् बनाने का संकल्प करते हैं, तब इस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें भी महान् बनना पड़ता है। गर्भावस्था में संतान के उचित भरण-पोषण के लिए उन्हें भी संयमित-जीवन जीना पड़ता है तथा प्रसव के पश्चात् शिशु के शारीरिक-विकास के लिए जागरूक रहना पड़ता है। माता-पिता यदि शिक्षित, सदाचारी, धार्मिक तथा स्वस्थ्य नहीं हैं तो वे अपने शिशु का समुचित-विकास नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि माता-पिता अपने संकल्प और आचरण से मनचाही-संतान का निर्माण कर सकते हैं।

शिक्षा का दूसरा घटक है परिवेश। शिक्षा के लिए उचित परिवेश का होना आवश्यक है। खुले-प्रशस्त वनों, मैदानों, नदियों के तटों और सुरम्य-पर्वतों की उपत्यकाओं में जन-कोलाहल से दूर शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए। छान्दोग्य-उपनिषद् धर्म के जिन तीन स्कन्धों की चर्चा--(1) यज्ञ- अध्ययन-दान, (2) कष्ट-सहिष्णुता--तप तथा (3) श्रम-- संयमपूर्वक कुलवास के रूप में करती है, वह ऐसे ही शान्त-एकान्त स्थानों पर सम्भव है। भोग-विलास के वातावरण से दूर रहकर ही बालक आत्मनिर्भर और आत्मसंयमी हो सकता है। आज जिस "प्रसार-शिक्षा या क्षेत्र- कार्य की प्रणाली को शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाने पर बल दिया जा रहा है, वह प्राचीन "आश्रम-प्रणाली" का अनिवार्य भाग थी, क्योंकि आचार्यों

के आश्रम या गुरुकुल नगरों से दूर वनों में होते थे, अतः प्रत्येक बालक को वहाँ श्रम की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। राजा-रंक के बालक बिना किसी भेद-भाव के वहाँ परिश्रम कर जीवन जीना सीखते थे। छान्दोग्य-उपनिषद् में हारिद्रुमत मुनि ने जाबाल सत्यकाम को शिक्षा देने से पूर्व धेनु-सेवा का कार्य ही सौंपा था, क्योंकि वह युग पशु-पालन और कृषि-जीविका का था, अतः गोसंवर्धन और वन्यरक्षण का कार्य उसकी शिक्षा का अनिवार्य-अंग बनाया गया। उसका उपनयन-संस्कार करके मुनि ने अत्यन्त दुर्बल चार सौ गायें छाँटकर उससे कहा----"सौम्य! इनकी सेवा करो और जब तक ये बढ़कर एक हजार न हो जाएँ, तब तक अपनी पुस्तकीय-शिक्षा को अधूरी समझो।" सत्यकाम ने कहा-- "जब तक ये गायें बढ़कर एक हजार न हो जाएँगी, तब तक मैं नहीं लौटूँगा।" वह वर्षों जंगल में रहा और जब वे गायें एक हजार हो गयीं तब लौटा--

"स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्त्रं सम्पेदुः।।"

इस प्रकार पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य-सम्पादन का प्रमाण-पत्र भी तत्कालीन शिक्षा के लिये अनिवार्य था। सत्यकाम उन्मुक्त प्रकृति के साह-चर्य में रहा। उसने आँधी-पानी, धूप-हिमपात, दिन-रात, भूख-प्यास सभी कुछ सहे तथा हिंसक-अहिंसक प्राणियों का संघर्ष भी निकट से देखा प्राणिमात्र के प्रति दया का उन्मेष भी उसमें हुआ। गाय चराते हुए उसने बैल को देखा, तब उसे पता चला कि सृष्टि कैसी होती है, वह प्रातः अग्निहोत्र करता, फिर आग पर भोजन बनाता और रात को आग जलाकर हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा करता या अग्नि ताप कर जाड़े की कड़क-रातें बिताता। अतः आग उसकी मित्र थी। वन-वन भटकते हुए उसे अपना साथी सूर्य दिखायी पड़ता। अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-विद्युत सब उसे अपने साथी जान पड़ते। उसे हंस तथा मद्गु नामक जलचर भी अपनी ओर आकृष्ट करते। इस प्रकार प्रकृति के साहचर्य में रहकर उसने एक विराट् तत्व का दर्शन किया। श्रीमद्-भागवत में कवि नामक योगेश्वर इसी विराट् दर्शन को वास्तविक विद्या मानते हैं।--

"यत्किंच श्रुतं प्रणमेदनन्य:"।

दत्तात्रेय अवधूत ने पृथ्वी, सूर्य, समुद्र, मधुमक्खी आदि को जब अपना गुरु बताया तब उनके सामने भी यही विराट् चेतना थी। संसार के कण-कण में यदि आत्म-दर्शन न हुआ तो पुस्तकीय-शिक्षा किस काम की? वर्ड्सवर्थ ने कहा था——

"एक लकड़ी का लट्ठा श्रीमान् जो शिक्षा देता है, वह सैकड़ों आचार्य या सन्त भी नहीं सिखा सकते"——

One impulse of a Vernal wood
May teach You more of man.
of moral, evil and of good
than all the sages can.

फिर श्रीमद्भागवत की यह उक्ति "सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरम्" मिथ्या कैसे हो सकती है? परिवेश की शिक्षा में यही भूमिका है—— वह बालक को कष्ट, सहिष्णु, परिश्रमी, संयमी तथा उदार-दृष्टि-सम्पन्न बनाती है, इसीलिए सत्यकाम से आचार्य ने कहा—— "प्रकृति के सम्पर्क में रहकर जो कुछ तूने सीख लिया है, उसमें कुछ शेष नहीं रहा, कुछ जानने योग्य नहीं रहा"——

"तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति।"

इस प्रकार आश्रम-प्रणाली तप, त्याग और श्रम पर आधारित प्रणाली थी। इसे गुरुकुल इसलिए कहा गया कि इसमें गुरु का महत्व था। अपने परिवार का मुखिया तो स्वार्थी भी हो सकता है, पर इस कुल का मुखिया तो उदार और लोकचेता होता था। वह अपने सम्पर्क में आये छात्र को उसी ममता से रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु को रखती है। विद्यालय को कुल इसलिये कहा गया कि वहाँ बालक को निजी परिवार की क्षुद्र भावना से निकालकर एक बड़े परिवार की सामाजिक-चेतना से जोड़ना था। वह किसी देश, परिवार, जाति का सदस्य नहीं, वह तो मानव-कुल का सदस्य है। समाज के प्रति इसी "कुलभावना" के कारण

उसका दायित्व बोध है। इस प्रकार गुरुकुल राष्ट्रिय रचनाधारा में विद्यार्थी के समर्पण की एक प्रक्रिया को जन्म देने वाला विचार है, जहाँ उसे परिवार और व्यक्तिगत संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर राष्ट्रोपयोगी या मानवोपयोगी बनाया जाता है। आचार्य बिना किसी भेद-भाव के जब सभी बालकों को निकट बैठाकर "सहनाववतु" और "सह नौ भुनक्तु" का उपदेश करता था तब विघटन की भावना स्वतः नष्ट हो जाती है। साथ-साथ चलना, साथ खाना-पीना, साथ काम करना, "कुलभावना"— को जन्म देता था। इसी संगठन-भावना से समाज और राष्ट्र की समृद्धि का द्वार खुलता है। अथर्ववेद में आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

बालक जब शिक्षा के लिए गुरुकुल में आता है तब आचार्य उसका उपनयन करने के लिये, अपने समीप बैठाने और अपने ध्येय के अनुरूप बनाने के लिए तीन रात उसे उदर में रखता है। यहाँ रात्रि का अर्थ है अज्ञान। बालक जिस परिवेश से गुरुकुल में आया है, उसमें उसका जन्मगत, परिवारगत तथा परिवेशगत अज्ञान निहित है। आचार्य इन बाधाओं को दूरकर अपने पेट में अर्थात् अपने संरक्षण में लेकर उस बालक के इन तीनों दोषों को मिटा देता है तथा देश, जाति और कुल के विशेष संस्कार को मिटाकर उसे विराट् कुल की दीक्षा दे देता है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म की आध्यात्मिक-शिक्षा देकर वह उसकी आत्मा का विकास करता है, तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक-पर्यन्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा द्वारा उसकी देह और भौतिक-सुख-सुविधाओं की जानकारी कराता है, विभिन्न विद्याओं, विज्ञानों का ज्ञान-संग्रह करने की प्रेरणा देता है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ की प्रक्रिया समझाता है और विश्व-मानवतावादी दृष्टि का सन्यास के रूप में अन्तिम लक्ष्य प्रतिपादित करता है। इस मन्त्र से यह भी संकेत मिलता है कि शिक्षा ज्ञान-संग्रह नहीं, ज्ञान का लोकोपयोगी क्रियान्वयन भी है, अतः शिक्षा-संस्थाओं

में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार नारद जी सनत्कुमार जी से कहते हैं कि उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र {विधिशास्त्र}, भूतविद्या, नक्षत्र विद्या, ललित कला {देवजनविद्या} तथा ब्रह्मविद्या आदि सब पढ़े हैं। वे मन्त्रविद् हैं, पर आत्मविद् नहीं। अर्थात् पुस्तकीय-ज्ञान तो उनके पास है, पर आत्मज्ञान नहीं।----

"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत ... ...येव।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा-- "तू नाम की उपासना कर अर्थात् यात्रा तो पुस्तकीय-ज्ञान या शब्द-ज्ञान से कर, पर यहीं मत रुक, वैयक्तिक चारित्रिक गुणों का विकास कर तथा अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण जागरण कर।" गुरुकुल या गुरु का सामीप्य शरीर, मन और आध्यात्मिक-उत्कर्ष के लिये है। इसीलिए वह अपने निकट रखकर शिष्य की शारीरिक, मानसिक और अनाध्यात्मिक जड़ता को दूर करता है। आचार्य यदि माँ की तरह सावधान नहीं रहता तो उसके गुरुकुलस्थ शिशु का गर्भस्थ-शिशु की तरह अहित होने की पूर्ण सम्भावना है। कहते हैं-- Example is better than Precept अर्थात् आचरण से विद्यार्थी को उपदेश की अपेक्षा अधिक सिखाया जा सकता है।

प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा की एक विशेषता थी-- आत्मनिरीक्षण द्वारा शिक्षा देना। बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि देव, मनुष्य और असुर प्रजापति के पास उपदेश के लिऐ जाते हैं। प्रजापति केवल "द" कहते हैं और फिर तीनों से पूछते हैं, तुमने क्या समझा? देव विलासी थे, उन्होंने स्वयं निरीक्षण कर अपनी त्रुटि पहचानी। वे बोले "दाम्यत" समझ गये, आपने कहा है-- इन्द्रियों का दमन करो। मनुष्य लोभी और संग्रही थे। उन्होंने भी अपनी भूल पहचानी और कहा कि हम भी जान गये। आप कहते हैं---- "दत्त"-- दान करो। असुर हिंसक और क्रूर

है और वे परपीड़क तथा संतापी। वे बोले— "प्रजापते! हमने अपनी कमी समझ ली है। आप कहते हैं—"दयध्वम्" दया करो, जीओ और जीने दो। प्रजापति संतुष्ट हुये और बोले—"शिक्षा का सही उद्देश्य है।" अपने व्यक्तित्व में जिस वस्तु की कमी पाओ, उसे दूर करने की चेष्टा करो। सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है और यह पुस्तकीय-ज्ञान या प्रवचनों से नहीं, आत्मनिरीक्षण से प्राप्त होता है। इसके लिए आवश्यक है कि गुरु भी संयमी, सरल और निःस्पृह जीवन व्यतीत करें। तभी वे विद्यार्थियों का सही निर्माण कर सकते हैं। आचार्य भोग-विलासी होकर विरक्त विद्यार्थी नहीं पैदा कर सकते। जब वेद कहता है कि आचार्य ब्रह्मचारी रहकर ही ब्रह्मचारी बना सकता है— "आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते" तब उसका तात्पर्य होता है कि जैसा आचार्य होगा, उसका विद्यार्थी भी वैसा ही होगा।

प्राचीनकाल में ऐसे शिक्षणालयों का उल्लेख मिलताहै जो गुरुकुल थे और जिनका निर्माण नगरों से दुर होता था। प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा आदि छः शिष्य पिप्पलाद के आश्रम में जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में वरुण से भृगु, छान्दोग्य-उपनिषद् में हारिद्रुमत से सत्यकाम तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति से इन्द्र तथा विरोचन आश्रम में ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। रामायणकाल में वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्य के आश्रम गुरुकुल ही हैं। भरद्वाज का आश्रम भी गुरुकुल है। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में अगस्त्य के विद्यापीठ की बड़ी प्रशंसा वर्णित है। यहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि भी अगस्त्य से शिक्षा ग्रहण करने आते हैं—

"अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते।।"

महाभारतकाल में अंगदेश में कौशिकी के तट पर श्रृंग का तपोवन था, जहाँ

आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। बदरीनाथ में व्यासजी का आश्रम था। पैल, जैमिनि तथा वैशम्पायन यहीं के स्नातक थे। मेरु पर्वत के पार्श्व-भाग में कर्मकाण्ड की शिक्षा के लिए वशिष्ठ का गुरुकुल था। आदिपर्व के अनुसार कण्व के आश्रम में अनेक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम जी युद्धविद्या की शिक्षा देते थे। नैमिषारण्य पुराणों के अध्यापन का केन्द्र था, जिसके कुलपति शौनक थे। मध्यप्रदेश में उज्जैन और पूर्व में काशी में अनेक आचार्य-कुल रहे। आधुनिक युग में गुरुकुल और ऋषिकुल नाम से प्राचीन परिपाटी को पुनर्जीवित स्वामी श्री श्रद्धानन्द और मदनमोहन मालवीय जी ने किया। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा की समन्वित प्रणाली का अनुगमन इनका लक्ष्य था। नगरों से दूर सुरम्य वातावरण में योग्य, सदाचारी गुरुओं के निकट रहकर बारह या सोलह वर्ष तक शिक्षा समान आवास, समान वेशभूषा, समान शिक्षा और समान व्यवहार के आधार पर दी जाती थी। वेद भी कहता है— "समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः।"

अतः गुरुकुल उस शिक्षा-प्रणाली के आदर्श रूप थे, जहाँ द्रुपद और द्रोण, श्रीकृष्ण और सुदामा बिना किसी भेद-भाव के समान सुविधाओं के साथ पढ़ते थे। तुल्य खान-पान, रहन-सहन और शिक्षा की समाजवादी रूपरेखा यहाँ मूर्तरूप में स्वीकृत थी। गुरुकुल या गुरु-गृहवास के मनोरम चित्र भी प्राचीन-साहित्य में मिलते हैं। विद्यार्थी को वहाँ रहते हुए खेती-बाड़ी में सहायता करना, गोपालन, होम के लिये लकड़ी बीनना तथा स्वयं की देख-रेख करना आवश्यक होता था। धौम्य ऋषि के खेत की मेड़ पर आरुणि स्वयं लेटकर बाढ़ से रक्षा करता है। इसी प्रकार उपमन्यु भी आचार्य का अनन्य सेवक है। शुक्राचार्य के आश्रम में कच की दिनचर्या ऐसी ही है। व्यासपुत्र शुकदेव ने बृहस्पति के आश्रम में विद्या प्राप्त की और अपनी अर्हता प्रतिपादित करने के लिए तप भी किया। कुछ समर्थ परिवार अपने घर पर गुरु को रखकर विद्या ग्रहण करने लगे थे, पर यह गुरुकुल-परम्परा के विपरीत अनर्थकारी पद्धति थी। विद्यार्थी से धन लेकर शिक्षादान को "भृतकाध्यापन" की निकृष्ट संज्ञा दी गयी।

ऐसे-ऐसे आचार्यों के गुरुकुल इस देश में थे जो दस हजार शिष्यों को निःशुल्क विद्यादान के साथ भोजन, आवास आदि की सुविधाएँ भी देते थे। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है—

"एकादेश सहस्त्राणि योऽन्नदानादिना भरेत् स वै कुलपतिः।"

महाभारत के सभा-पर्व में कहा गया है—"शीलवृत्तफलंश्रुतम" अर्थात् शिक्षा का लक्ष्य चरित्रगठन और पुण्यकर्म-सम्पादन है। व्यासजी को "गुरुकुल" शब्द इतना प्रिय है कि वे विद्याश्रम या शिक्षालय, शाला या विद्यापीठ पसन्द न कर "गुरुकुल" ही सार्थक तथा उपयुक्त नाम मानते हैं। श्रीकृष्ण सुदामा से मिलने पर सांदीपनि के आश्रम को याद करते हैं तो उसे गुरुकुल ही सम्बोधित करते हैं—

"अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणाव्।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुकुलों की शिक्षा-पद्धति व्यावहारिक और चरित्र-निर्माणमूलक रही है। इसके लिए आवश्यक है कि आश्रमवास अनिवार्य हो, वहाँ रहते हुये ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया जाये तथा आचार्य के निकट रहकर उनके निजी-जीवन से शिक्षा ग्रहण की जाये। मनोरम प्राकृतिक वातावरण में रहकर बलिष्ठ शरीर का निर्माण, समानता का जीवन जीकर सामाजिक-चेतना की प्राप्ति तथा गुरु के आदर्श-जीवन से प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास या सर्वांगीण व्यक्तित्व का अर्जन गुरुकुल की देन है। इसी पद्धति को ध्यान में रखकर गांधी, विनोबा तथा जाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम की नींव डाली।

समीक्षा- आज के वातावरण में यदि प्राचीन गुरुकुलीय परम्परा का अनुसरण किया जाये तो अध्यात्ममूलक समतावादी समाज की स्थापना का लक्ष्य पूरा हो सकता है। स्वतन्त्र देश की शिक्षा-नींव आज भी मैकाले की परम्परा से जुड़कर खड़ी हो, यह लज्जा की बात है। गुरु-शिष्य का माता-पिता जैसा सम्बन्ध, ब्रह्मचर्यपालन, समानशिक्षा तथा समान रहन-सहन पर आधृत शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है, उसके अभाव में सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्र-निर्माण की बात करना निर्मूल है।

—

षष्ठ अध्याय

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के अन्य सम्बन्धित विविध पक्षों की समालोचना

-षष्ठ अध्याय-

-पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के अन्य सम्बन्धित विविध पक्षों की समालोचना-

भारतीय शिक्षा-पद्धति के इतिहास में शिक्षा-पद्धतियों को लेकर हमारे देश में प्रयोगों की परम्परा कभी नहीं चली, अपितु उनके निष्पन्न रूपों का ही प्रवर्तन किया। आज की भाँति शिक्षा-पद्धतियों के प्रयोगों द्वारा जन-जीवन से खिलवाड़ करना भारतीय-शिक्षा-पद्धति के अतीत इतिहास में देखने को नहीं मिलता। प्राचीन-शिक्षा-पद्धति एक निश्चित लक्ष्यात्मिका शाश्वत पद्धति थी। उसकी घोषणा थी— "सा विद्या या विमुक्तये।" यह मुक्ति— आध्यात्मिकी और व्यावहारिकी— उभयस्वरूपा थी। यह अज्ञान चाहे अध्यात्म-विषयक हो, चाहे लोक-व्यवहार-विषयक। अतः वह विद्या, जिसकी शिक्षा दी जाती थी, सदैव पात्रानुकूल या छात्रानुकूल और देश-कालानुकूल होती थी। पात्रता का निर्णय गुरुकुलों के आचार्य ही करके विद्यादान देते थे। निश्चय ही इस पात्रता में वर्णाश्रम, धर्मानुकूल पाठ्यक्रम की प्रमुखता होती थी। उस समय भी कतिपय गुरुकुल राजकीय सहायता पर चलते थे। यह ठीक है कि कुछ गुरु-कुलों का संचालन व्यक्तिगत सामर्थ्य पर भी होता था। ऐसे व्यक्तिगत गुरु-कुल के कुलपति निःसन्देह असीम सारस्वत एवं बौद्धिक-क्षमता के केन्द्र रहे होंगे।

शासकीय गुरुकुल का उत्कृष्ट उदाहरण श्रीमद्भागवत में प्रह्लादोपाख्यान से मिल जाता है। हिरण्यकश्यप ने शण्ड और अमर्क नामक दो अध्यापकों को अपने प्रिय पुत्र प्रह्लाद को अध्यापनार्थ सौंपा था। प्रह्लाद के तत्त्व-ज्ञानोपदेश इतने सुस्पष्ट थे कि सभी विद्यार्थी भक्त, जिज्ञासु एवं सच्चे ज्ञानी बनने के लिए उद्यत हुए। जो सच्ची शिक्षा दे वही गुरु है, अतः प्रह्लाद ही उनके गुरु बने।

बालकों ने राज्यशिक्षा पर ध्यान देना छोड़ दिया।

शासकीय गुरुकुल का दूसरा उदाहरण यदुवंश के आचार्यों का है। यदुवंश के बालकों को शिक्षा देने के लिए तीन करोड़ अट्ठासी लाख आचार्य थे। निश्चय ही ये आचार्यगण यदुराजकुल से वृत्ति पाते रहे होंगे। ऐसे राज्याश्रित गुरुकुलों की शिक्षा-दीक्षा का परिणाम भी आगे चलकर क्या हुआ, यह प्रसिद्ध ही है— साम्ब की अनुशासनहीन-वृत्ति एवं उच्छृंखलता, परिणामतः यदुकुल का संहार। अतः वेतनभोगी या शासकीय वृत्ति पर शिक्षा देने वाले आचार्यों के सामने अनुशासन की समस्या तब भी बनी रहती थी। वेतनभोगी आचार्यगण अपने शिष्यों में उतनी गहरी निष्ठा अथवा असीम श्रद्धा नहीं जमा पाते थे, जितनी कि व्यक्तिगत गुरुकुलों के आचार्य।

शासकीय प्राचीन गुरुकुलों से निकले हुए उच्चकोटि के छात्रों की चर्चा हमारे पुराणों में क्वचित् मिलती है। भगवान् राम को वशिष्ठ के स्व-संचालित गुरुकुल में अल्पकाल में ही समस्त विद्याएँ आ गयी थीं। श्रीकृष्ण-बलराम को शिक्षा-समाप्ति पर गुरु-दक्षिणा देने पर ही स्नेह भरा आशीर्वाद मिला था—

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।

छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च।।

[श्रीमद्भा० 10/45/48]

कौत्स, सुतीक्ष्ण, आयोद-धौम्य के शिष्य आरुणि, परशुराम के शिष्य कर्ण, बलराम के शिष्य दुर्योधन एवं भीमसेन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के आदर्श वाक्य के रूप में वेद का अनुशासन है— "विशेष ज्ञानी— ज्ञानामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति अज्ञानियों में बैठकर उन्हें ज्ञान प्रदान करें"—

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।

[ऋग्वेद 7/4/4]

हमारी भारतीय संस्कृति में शिक्षा— विद्यादान की प्राण-शक्ति अध्यात्म है और इस अध्यात्म की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मण का अभिप्राय केवल जाति-विशेष से नहीं है। ब्राह्मणत्व सत्कुल में जन्म, तप, त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह तथा लोकसंग्रह और मोक्ष की सिद्धि में अधिष्ठित है। लोकमानस में इस प्रकार के ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा शिक्षा का श्रेयस्कर रूप है। श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के 80वें और 81वें अध्यायों में इसी मूर्तिमान् ब्राह्मणत्व के प्राणप्रतीक सुदामा का आख्यान इस तथ्य का सत्यापक है कि सम्पूर्ण जगत् को अपनी शिक्षा-आध्यात्मिकी विद्या अथवा श्रेयस्करी जीवन-पद्धति से प्रबुद्ध करने वाला शिक्षक त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह अथवा लोकसंग्रह के आश्रय का वरण कर ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है। वज्रसूचिकोपनिषद् में वर्णन है—

"यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं
षड्ऊर्मि-षड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं
स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन
वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावाप्रमेय-
मनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्
साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः
शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो
दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स
एवं ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः।"

इस आत्मा का, जो अद्वितीय है, जाति-गुण-क्रिया से हीन है, षड्विकारादि समस्त दोषों से रहित है, सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प और अशेष कल्पों का आधार है, समस्त प्राणियों के

अन्तर्यामी रूप में वर्तमान, भीतर-बाहर आकाश के समान अनुस्यूत, अखण्डानन्द स्वभाववाला, अप्रमेय, अनुभव से एकमात्र जानने में आता है, प्रत्यक्ष अभिव्यक्त है, हाथ में स्थित आँवले के समान जो कोई प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर कृतार्थ हो गया है तथा कामादि दोषों से रहित और शम-दमादि से सम्पन्न, मत्सर-तृष्णा और मोहादि से रहित है, जो इन लक्षणों से युक्त है वही ब्राह्मण है। ऐसा श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों, इतिहासों का अभिप्राय है।

निःसन्देह ऐसा ब्राह्मणत्व सम्पन्न पुरुष ही शिक्षक, लोकशिक्षक अथवा जगद्गुरु होता है। इस ब्राह्मणत्व—आचार्यत्व के स्तर पर ही हमारे शास्त्रों में आचार्य और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच में सद्भाव का सामंजस्य स्थापित है—

"सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।"

{तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3}

"हम दोनों आचार्य और शिष्य का यश एक साथ बढ़े। हम दोनों का ब्रह्म-तेज एक साथ बढ़े।"

इसी बात को दृष्टि में रखकर राजर्षि मनु ने ब्राह्मण का तप ज्ञान कहा है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्।

{मनु० 11/236}

त्यागवृत्तिसम्पन्न तथा धन की तृष्णा से परे आचार्य ही भारतीय जीवन-पद्धति में शिक्षक है। वह ब्रह्मवर्चस्व से युक्त होकर संग्रह की भी वृत्ति से नितान्त उपरत रहता है। यह आचार्य के जीवन का तप है, जिसके अभाव में उसके द्वारा शिक्षा का सम्पादन नहीं हो सकता। सद्विद्या तो अध्यात्मविद्या ही है और इसी सद्विद्या ने समग्र जगत् को व्यावहारिक जीवन— पवित्र व रत्न की प्रेरणा दी। राजर्षि मनु का कथन है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

{मनु0 2/20}

आशय यह है कि ब्रह्मदेश, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल आदि देशों में उत्पन्न विद्वानों--- आचार्यों से जगत् के सभी मनुष्यों को अपने-अपने विचार-पवित्राचरण की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

जड़ विज्ञान से प्रभावित भौतिकवाद की तमिस्त्रा में भयानक शिक्षा क्रम के परिणामस्वरूप आज तप,त्याग, वैराग्यमूलक मोक्षप्रद आध्यात्मिकी विद्या का क्रमशः लोप होते रहने के कारण भारतीय प्रायः अपनी शिक्षा का आदर्श भूलकर पाश्चात्य मनोवृत्तियों से दूषित व्यावहारिक भ्रम में अधःपतित से हो गये हैं और ऐसे भयानक परिवेश में हमने आध्यात्मिक श्रेय का विस्मरण कर प्रेय को अपना लिया है। हमारे इस दिग्भ्रमित आचरण का ही यह परिणाम है कि हम शिक्षा की सद्-उद्देश्यप्रवृत्ति से वंचित होते जा रहे हैं।

शिक्षा के सन्दर्भ में सदा ही यह भारतीय परम्परा प्राणान्वित रहती आयी है कि ऋत {सदाचार}, सत्य, तप, दम, शम और मनुष्योचित लौकिक व्यवहार पर हमारे राथीतर, पौरुशिष्ट और मौद्गल्य आदि ऋषियों ने विशेष बल दिया। "तैत्तिरीय उपनिषद्" में स्पष्ट दिशा-निर्देश विज्ञापित है---

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।.... मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च।... सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः।

{1/9}

यही विशुद्ध ज्ञान परमार्थ की प्राप्ति का राजपथ है। पुरुषार्थ चतुष्टय की

प्राप्तिपूर्वक परमार्थ की सिद्धि ही भारतीय संस्कृति में श्रेयस्करी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य स्वीकार किया गया है--

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकम्।।

{श्रीमद्भा० 5/12/11}

शिक्षाविद् आचार्य के मन में धनप्राप्ति की लिप्सा शिक्षा-कार्य की महती सिद्धि में दुर्गम अवरोधक अथवा बाधक है। यही कारण है कि हमारे भारतीय ऋषियों ने सावधान किया है--

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

{ईशावास्योपनिषद् 1/1}

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतनरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। इस ईश्वर को साथ रखते हुये त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो। इसमें आसक्त मत हो, क्योंकि धन किसका है-- किसी का नहीं।

अकिंचनता ही शिक्षाविद् आचार्य का सर्वोत्तम स्वाभाविक गुण है। इस पद का त्याग करने पर ही शिक्षा का क्रम बिगड़ जाता है और समाज वास्तविक मानवीय सद्व्यवहार से वंचित हो जाता है। ऐसे तो अनर्थों के धाम धन की अनासक्ति हमारी संस्कृति में प्रतिपादित है, पर विशेष-रूप से शिक्षक वर्ग पर जब तक इसका प्रभाव नहीं पड़ेगा, तब तक मानवता को श्रेयस्कर दिशा-निर्देश प्राप्त होना प्रायः कठिन है। जीविका-निर्वाह मात्र धन का संग्रह ही शिक्षक-वर्ग के लिये--- आचार्य पद को गौरवान्वित करने के लिए ही सापेक्ष है, अन्यथा सामाजिक विकृति सम्भाव्य है।

अतः प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। जीवन-निर्माण के लिए योग्य गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। वर्णाश्रम-धर्म तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की चरितार्थता में शिक्षा की अनिवार्यता स्पष्ट

है

थी। भारतीय जीवन-दर्शन में सत्य, अहिंसा, त्याग और परोपकार— ये चार प्रमुख स्तम्भ थे। इन पर राष्ट्र के भवन का निर्माण हुआ, जिसने संसार में अपना प्रमुख स्थान बनाया।

शिक्षा के प्राचीनतम केन्द्र ऋषि-मुनियों के आश्रम थे। नगरों की भीड़-भाड़ से दूर प्रायः रम्य प्राकृतिक स्थलों पर ये आश्रम स्थापित हुए। भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, गालव, अगस्त्य आदि के आश्रम प्रख्यात थे। इनमें प्रायः बालकों को छोटी आयु से ही रखकर उन्हें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। किसी-किसी आश्रम में ज्ञान के लिये विशिष्ट विषयों का अध्यापन होता था। ऐसे स्थानों पर अन्य आश्रमों के विद्यार्थी जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करते थे।

भवभूति-रचित उत्तररामचरित नाटक में मिलता है कि अगस्त्य के आश्रम में उच्च-तत्व-ज्ञान की शिक्षा श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा प्रदान की जाती थी। आत्रेयी नामक महिला ने वाल्मीकि जी के आश्रम से अगस्त्य-आश्रम में जाकर "निगमान्त-विद्या" उपलब्ध की—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे
भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्यो धिगन्तुं निगमान्तविद्यां
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि।।

{उत्तररामचरितम्, अंक-2, श्लोक3}

ग्रामीण क्षेत्रों में मन्दिर बड़ी संख्या में शिक्षा-केन्द्र बने। पावन वातावरण में शिक्षा प्राप्त कर शिष्यों में पवित्र भावनाएँ जाग्रत होती थीं। यह परम्परा आधुनिक युग तक कुछ स्थलों पर जीवित है।

भारतीय साहित्य में शिक्षा-सम्बन्धी जो प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे यहाँ शिक्षा को ऊँचा स्थान दिया गया था।

जनता तथा शासन के उद्योग से देश में बड़ी संख्या में विद्यालयों की स्थापना हो गयी। गाँवों तथा नगरों में विद्यालय खुले। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, वलभी आदि स्थानों में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये, जिनमें ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों का शिक्षण होता था। विदेशों से भी विद्यार्थी कुछ विषयों में उच्च-शिक्षा का ज्ञान अर्जित करने के लिये भारत आते थे। तक्षशिला में मगध, कलिंग और उज्जैन तक से विद्यार्थी जाते थे। वहाँ शल्य-चिकित्सा तथा धनुर्विद्या का शिक्षण उच्चकोटि का था। नालन्दा के विश्व-विद्यालय में चीनी यात्री हुएन-सांग ने अध्ययन किया था।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।

§श्रीमद्भा०11/3/21§

"जो परमोच्च कल्याण का मार्ग जानना चाहता हो उसे गुरुदेव की शरण लेनी ही चाहिए। गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द-ब्रह्म में—वेदादि शास्त्रों में निष्णात हों तथा नित्य-निरन्तर परब्रह्म में प्रतिष्ठित रहते हों और जिनका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो।"

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

"ध्यान का मूल है गुरु की मूर्ति, पूजा का मूल है गुरु के चरण, मन्त्र का मूल है गुरु का वाक्य, और मोक्ष का मूल है गुरु की कृपा।" ब्रह्मज्ञानी गुरु यथा-विधि समीप आये हुए दर्प आदि दोषों से मुक्त शान्तियुक्त शिष्य को ब्रह्म-विद्या का तत्व समझावे, जिससे वह सत्य को और वास्तविक अक्षर पुरुष को जान सके।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा

च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदा थर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते।

{मुण्डकोपनिषद् 1/1/4-5}

"वह ब्रह्मज्ञाता उसे बताऐगा कि दो विद्याएं जानने योग्य हैं। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। उनमें अपरा विद्या है— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, धर्मविधि, व्याकरण, वैदिक-शब्द-विवरण, छन्दशास्त्र और ज्योतिष। परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है।"

—ज्ञानप्राप्ति हेतु अध्याय-अनध्याय के पौराणिक-नियम—

अध्याय के अतिरिक्त उस समय अनध्याय की भी व्यवस्था थी जो परिस्थितियों के अनुसार निश्चित की जाती थी। इनमें से कतिपय अनध्याय तो निश्चित थे तथा कुछ किन्हीं विशेष परिस्थितियों में निश्चित किये जाते थे। निश्चित अनध्याय जैसे प्रतिमास में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णमासी {4/113, 119,26-6/10}। किन्हीं विशेष परिस्थितियोंवश आकस्मिक अवकाश भी होते थे जैसे वृष्टि, आँधी, भूकम्प आदि दैवीय-विपत्ति के समय। इसके अतिरिक्त श्मशान या चौराहे पर भी अध्ययन वर्जित था। सम्भवतः कतिपय छात्र अनध्याय में भी अध्ययन प्रवाह बनाये रखने के इच्छुक होते होंगे। हाट-मेले के समय भी अनध्याय रहता था। इस प्रकार अनध्यायों का उल्लंघन करने वाले छात्र उस समय तक के लिए श्माशानिक तथा चातुष्पार्थक या अन्य किसी नाम से अभिहित किये जाते थे। {अनध्याय-देशकालात् 4/4/71} उपर्युक्त दोनों परिस्थितियाँ ग्रह्य सूत्रों में निर्दिष्ट की गयी हैं। अध्ययन करने के दिवस कहे जाते थे। {3/3/122-अधीयते अस्मिन्निति अध्यायः।}

उपरोक्त अध्याय एवं अनध्याय वस्तुतः उपयोगी और आवश्यक थे। श्रावण मास एवं माघ माह की मनोहरता विद्यार्जन हेतु अति लाभप्रद थी। वस्तुतः

उन दिनों अधिक आँधी, तूफान की सम्भावना नहीं थी। प्राकृतिक वातावरण अध्ययन हेतु अनुकूल होता था। बसन्त-पंचमी एवं श्रावणी पूर्णमासी का समय शिक्षार्जन में ध्यान केन्द्रित करने हेतु अत्यन्त सहायक था। अवकाश की प्राप्ति भी सुलभ थी। अतिवृष्टि, अत्यधिक शीत, अथवा अन्य नैमित्तिक अवकाश भी उपलब्ध हो जाते थे, जिनमें अध्ययन हेतु अनवरत कठोर अनुशासन एवं कष्टप्रद-दिनचर्या से मुक्ति प्राप्त होती थी इसीलिये छात्रों को यह दिवस अत्यधिक प्रिय था।[1]

अध्याय सम्पूर्ण होने पर छात्र की योग्यता निर्धारण हेतु परीक्षा का विधान भी था। इससे अध्याय एवं छात्र दोनों के अध्ययन व अध्यापन का साफल्य इंगित होता था। ऐसा निर्देश पाणिनि एवं पतंजलि दोनों से उपलब्ध होता है। ये परीक्षायें मौखिक होती थीं तथा छात्र ने गुरु द्वारा उपादिष्ट ज्ञान किस सीमा तक ग्रहण किया है इसका ज्ञान हो जाता था। इस कार्य के लिये विद्वत्सम्मेलनों का आयोजन होता था, जिनमें वाद-विवाद या शास्त्रार्थ द्वारा विद्वानों की विद्वता का मूल्यांकन हो जाता था। बाद में उपाधियों का भी प्रचलन हुआ जैसे मध्य युग में बंगाल में तर्कचक्रवर्ती एवं तर्कालंकार।[2]

यथार्थतः ज्ञान निरन्तर प्रज्ज्वलित होने वाली ज्योति के सदृश है जो कदापि बुझ नहीं सकती ऐसा ही भाष्यकार ने निर्देश किया है।[3] अतएव यह ज्ञान प्रवाह भी सतत् प्रवाहित होता रहता है। परीक्षा-पद्धति अत्यन्त उपयोगी

---

1. [काशिका- 6-2-16] "छात्र प्रियोऽनध्यायः"।
2. ऋग्वैदिक आर्य- श्री राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद।
3. 2-3-21 पृ० 423
   "अध्ययनात्प्रमाद कि नात्यन्तायापक्रामन्ति सन्ततत्वात्।
   अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।"

थी जिससे अध्येता एवं अध्येतृ दोनों किस सीमा तक अपने प्रयास में सफल अथवा असफल रहे इस तथ्य का वास्तविक ज्ञान हो जाता था। इस प्रकार उपलब्ध ज्ञान किस सीमा तक व्यवहारिक एवं जीवन में उपयोगी होगा यह भी ज्ञात हो जाता है।

-शिक्षण-शुल्क {गुरु दक्षिणा}-

ज्ञानार्जनोपरान्त गुरु के प्रति हार्दिक कृतज्ञता एवं स्वसामर्थ्यानुसार येन-केन-प्रकारेण गुरु-दक्षिणा प्रदान करने की अति गौरवमय परम्परा का तत्कालीन व्यवस्था में विशेष-रूपेण उल्लेख प्राप्त होता है। उज्ज्वलतम् जीवन-निर्माण हेतु गुरु से प्राप्त उपदेश के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी को विभिन्न रूपों में शिष्यों द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। प्रशासन एवं धनिक-वर्ग आर्थिक-दृष्टिकोण से द्रव्य के रूप में तथा जन-सामान्य या निर्धन-वर्ग अपने पराक्रम बौद्धिक-प्रतिभा अथवा अन्य किसी भी रूप में गुरु हेतु शिक्षण-शुल्क या गुरु-दक्षिणा प्रदान करता था। कतिपय छात्र अध्ययन-पर्यन्त शारीरिक-क्षमता के अनुसार गुरु-परिचर्या द्वारा ही इस परम्परा का निर्वाह करते थे। उत्तर-वैदिक काल के परवर्ती- तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र जैसे विश्वविद्यालयों में केवल प्रवेश के समय ही शुल्क लिया जाता था।

वस्तुतः शिक्षण-शुल्क का विशेष औचित्य नहीं था, क्योंकि तत्कालीन शिक्षा विशेष बाह्याडम्बर से रहित थी। तदपि गुरुदक्षिणा का स्वरूप अवश्य गौरव-मय दृष्टिगोचर होता है। शिक्षण-शुल्क की पूर्ति तो प्रशासन द्वारा होती थी जो गुरुकुलों के जीवन-निर्वाह हेतु ग्राम-दान देते थे। इनकी आय से ही शिक्षण-शुल्क पूर्ण हो जाता था। गुरु को दक्षिणा प्रदान करने हेतु अपनी सामर्थ्यवश छात्र अवश्य प्रयास करते थे यह उचित भी था। वास्तव में गुरुजन अपना सम्पूर्णजीवन अध्ययन एवं अध्यापन में ही व्यतीत करते थे। उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करने

का उत्तरदायित्व छात्रों पर भी था। वे अध्ययन से अवकाश प्राप्त कर इस उत्तर-दायित्व को पूर्णरूपेण वहन भी करते थे।

-गुरु-दक्षिणा का स्वरूप-

भली-भाँति गुरु के निवास-स्थान में निवास करते हुए एवं विविध विद्याओं में पारंगत होने के उपरान्त शिष्य का भी यह कर्तव्य हो जाता था कि गुरु द्वारा किये गये इस महान उपकार के प्रतिकार में किंचित मात्र तो स्वसेवा अर्पित कर सके। इस तन-मन-धन से उसके लिये महत्वपूर्ण सिद्ध हो सके। इसके लिये सामान्यतः गुरु-दक्षिणा की व्यवस्था थी। गुरुदक्षिणा शिष्य अपनी सामर्थ्यानुसार किसी भी रूप में सम्पन्न करता था। यदि आर्थिक रूप से वह निर्धन है तब भी साहस, पराक्रम, चारित्रिक बल की उच्चता, सेवा-शुश्रूषा की तीव्रतम भावना से, सहिष्णुता जैसे विविध माध्यमों से यह शुभ कार्य सम्पन्न किया जाता था जैसा कि गुरुवर द्रोण ने शिष्यों से गुरुदक्षिणा के रूप में राजा द्रुपद को पराजित करवाया था।[1] इसी प्रकार इन्द्र ने अर्जुन से निवात-कवचों का संहार करने के माध्यम से गुरुदक्षिणा की कामना प्रकट की थी जिसको अर्जुन ने भली-भाँति पूर्ण किया था।

सर्वान्त में गुरुदक्षिणा का एक अन्यतम उदाहरण शिष्य एकलव्य द्वारा अंगूठे को काटकर प्रदान करने में जहाँ एक ओर विशेष रूप से शिष्य की गुरु के प्रति तीव्रतम आस्थाभाव को प्रकट करता है, वहीं गुरु के प्रति तीव्रतम आस्था भाव को प्रकट करता है, वहीं गुरु के प्रति अन्तर्मन में आश्चर्य, दुःख एवं क्षोभ का भाव कुछ समय के लिये अवश्य उत्पन्न होता है।

---

1. महाभारत— सप्तत्रिंशदधिक शततमोऽध्यायः पृ०415.
"पांचालं राजं द्रुपदं ग्रहीत्वा रणमूर्धनि।
सम्बन्धी कुरु वीराणां द्रुपदो राजसत्तमः, पर्यन्त
पर्याप्यत भद्रं वः सा स्याद् परम दक्षिणा।"

इसके अतिरिक्त श्री कृष्ण-बलराम ने सान्दीपनि गुरु के सम्पर्क में रहते हुए विशिष्ट ज्ञानार्जन किया एवं अन्त में स्वयं गुरु से अभीष्ट दक्षिणा हेतु प्रार्थना की। उन्होंने अपनी भार्या से परामर्श लेकर मृत पुत्र को जीवितावस्था में लाने को कहा तथा इस कार्य को बन्धुद्वय ने भली-भाँति पूर्ण भी किया।[1]

-गुरु दक्षिणा तथा शिक्षण-शुल्क का प्राविधान-

हमारे प्राचीन कालिक ग्रन्थकारों ने अपनी श्रेष्ठतम कृतियों में गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के विपर्यय में शुल्क तथा गुरु दक्षिणा प्रदान करने का प्राविधान सम्यक् रूपेण चित्रित किया है। यथार्थतः यदि इस परम्परा का अवलोकन किया जाये,तो इस प्रथा का महत्व हमारे सम्मुख स्पष्ट होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त अलौकिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि गुरु द्वारा किये गये इस महान उपकार के बदले में सर्वस्व त्याग भी विशिष्ट महत्वशाली नहीं है।, क्योंकि माता-पिता एवं गुरु द्वारा किये गये उपकारों से हम कदापि उऋण नहीं हो सकते तथापि आत्म-संतोष हेतु एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से गुरु हेतु किया गया यत्किंचित सेवाकार्य अथवा अकिंचनभाव शिक्षण-शुल्क को सम्पन्न कर देता है।

आजीवन गुरु के आश्रम में ही निवास करने का संकल्प लेने पर यह नितान्त आवश्यक है कि तन,मन व धन से सामर्थ्यानुसार गुरुकुल के संचालन में अपेक्षित सहयोग प्रदान किया जाये। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पूर्ण होने पर गुरुदक्षिणा देने का प्राविधान निश्चित परम्परा से था। इसके अभाव में शिक्षा का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं होता था, इसीलिये तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व गुरु को दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट करने का विधान था।

शिष्य द्वारा अध्ययन समाप्ति पर गुरु हेतु दक्षिणा प्रदान करने की प्रार्थना की जाती थी। इस प्रार्थना को पूर्ण करने हेतु गुरुजन किसी भी माध्यम से अपनी मनोकामना पूर्ण करते थे। यह गुरुजनों के विवेक पर निर्भर करता था कि शिष्य

1. श्रीमद्भागवत द्वितीयखण्डे दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धः -[47],[48],पृष्ठ-432-435

उनकी अभिलाषा पूर्ण करने में किस सीमा तक समर्थ है।

शिष्य येन-केन-प्रकारेण गुरु की अभिलाषा पूर्ण अवश्य करता था। इस परम्परा के निर्वाह में शिष्य के अर्जित ज्ञान, उसकी परिपक्व मानसिक-अवस्था का भी भली-भाँति बोध हो जाता था। वस्तुतः xxxxxxxxxxxxxxxx उपर्युक्त परम्परा द्वारा व्यक्ति की परीक्षा भी होती थी कि जीवन में आने वाली विविध विषम परिस्थितियों का वह किस प्रकार सामना करेगा। यही शिक्षा का व्यावहारिक स्वरूप था। गुरु को अभीष्ट दक्षिणा की पूर्ति हेतु सर्वोत्कृष्ट निदर्शन कविकुल गुरु कालिदास ने अपने महाकाव्य में प्रस्तुत किया है। विद्यो-पार्जनोपरान्त शिष्य कौत्स गुरु वरतन्तु से दक्षिणा की कामना प्रकट करने को कहते हैं और गुरु शिष्य द्वारा भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक की गयी सेवा को ही गुरु-दक्षिणा मान लेते हैं।[1] यहाँ यह तथ्य-विशेष रूप से उल्लेखनीय है, एक ओर शिष्य का श्रद्धापूर्वक भक्ति से परिपूर्ण चित्त से गुरु को दक्षिणा देने का आग्रह करना, एवं दूसरी ओर गुरु द्वारा उसकी चिरन्तन सेवा-भाव को ही दक्षिणा के रूप में स्वीकार कर अपनी दयालु प्रवृत्ति का प्रदर्शन करना।

एक ओर त्याग, आस्था एवं भक्ति का, दूसरी ओर निस्वार्थ-भाव एवं करुणा से आपूरित गुरु का अभूतपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कहाँ रह गयी है ऐसी निस्वार्थ एवं आत्मोत्सर्ग की भावना, आस्था एवं भक्ति का उत्कृष्ट-तम संयोग। वस्तुतः इन्हीं तथ्यों के अभाव में गुरु एवं शिष्य के मध्य सम्बन्धों में तनाव व्याप्त हो गया है। दोनों ही स्वकर्तव्यों के निर्वाह हेतु नितान्त उपेक्षा-पूर्ण दृष्टिकोण स्वीकार किये हुये हैं। दोनों ही अपने-अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है।

1. रघुवंश [5/20] पृ053
"समाप्त विद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्।।"

उपर्युक्त परिस्थिति के अतिरिक्त विपरीत अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है, जब गुरुदक्षिणा के विशेष आकांक्षी नहीं है तथा शिष्य निरन्तर दक्षिणा हेतु आग्रहकिये जा रहे है।[1] परिणामस्वरूप विवेक का परित्याग कर क्रोध की भावना से आपूरित हो गुरु ने ऐसी दक्षिणा का प्रस्ताव रख दिया, जिसको पूर्ण करना शिष्य के लिये असम्भव ही हो गया। शिष्य के सत्प्रयास, श्रद्धा, संकल्प एवं साहस से आपूरित होकर की गयी प्रतिज्ञा के भली-भाँति निर्वाह में यहाँ अत्यन्त आश्चर्य-प्रसन्नता-मिश्रित अनिर्वचनीय अनुभूति होती है।

उपर्युक्त गुरु एवं शिष्य के मध्य मधुरतम सम्बन्धों के अतिरिक्त शिष्य की संतोषी प्रवृत्ति का दर्शन भी विशेष रूपेण प्रशंसनीय है। जबकि गुरु की अभिलाषा की पूर्ति हेतु शिष्य धन की याचनार्थ प्रशासक के समक्ष उपस्थित होता है। यहाँ भी याचक एवं दानकर्ता के मध्य विचित्र स्थिति विशेष रूप से दर्शनीय है। एक ओर प्रशासक सर्वस्व समर्पण हेतु प्रस्तुत है तो दूसरी ओर याचक आवश्यकता से अधिक स्वल्पांश भी ग्रहण को सर्वथा अप्रस्तुत है।[2]

वस्तुतः वर्तमान सन्दर्भ में उपर्युक्त परिस्थिति की कल्पना भी नितान्त असम्भव एवं व्यर्थ ही प्रतीत होती है। विपरीत परिस्थितियों एवं परिवेश में उपर्युक्त योजना का निर्वाह भी अत्यन्त दुष्कर-कार्य है, क्योंकि बहुमत तो अधिकाधिक ग्रहण करने में तल्लीन रहता है। आत्म-त्यागी तो ऐसे परिवेश में नितान्त असहाय सा प्रतीत होता है।

---

1. रघुवंश [5/20]

"समाप्त विद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।"

2. रघुवंश [5/31] पृ055

"जनस्य साकेत निवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ।
गुरु प्रदेयाधिक निःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिक प्रदश्च।।"

-शिष्य के अपराध पर दण्ड की व्यवस्था-

मनुष्य को आजन्म श्रेष्ठपथ पर अग्रसर करने वाले गुरु का स्थान इतना अधिक महत्वपूर्ण है तथा पौराणिक युग में भी उसका स्वरूप ऐसा विलक्षण था कि उसका अपमान करने का सम्भवतः किसी को भी साहस नहीं होता था। वस्तुतः मनुष्य चाहे किसी भी पद पर सुशोभित हो रहा हो यह उसके स्वयं के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है कि वह इतना शुद्ध एवं परिष्कृत हो, आध्यात्मिक एवं मानसिक-स्तर पर इतना उन्नत हो कि उसके समक्ष आने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वयमेव उसके प्रति श्रद्धा से पूर्ण हो जावे।

इसलिये पुराण-काल में मानव-जीवन को ज्ञानमय निर्मित करने के कारण गुरु से किसी भी प्रकार से द्रोह न करने, उनके प्रति अविनयाचरण न करने का निर्देश दिया गया है।[1] प्रशान्तमूर्ति गुरु तो शिष्य की समस्त त्रुटियों को क्षमा भी कर देगा, क्योंकि वह तो विशालहृदयी है तथा शिष्य के ज्ञान से भी अनभिज्ञ नहीं है। तथापि मनुष्य स्वरूप होने के कारण स्वाभाविक-मनोवृत्ति कब तक चित्त में स्थिर रह सकती है। वह ईश्वर का भी दर्शन कराने वाला होता है। अतः ईश्वरभक्त होने के कारण भगवान भी भक्त के प्रति किये गये अपराध को क्षमा नहीं करते।

प्रस्तुत विवेचना का तात्पर्य यही है कि गुरु का अपमान अत्यन्त दारुण होता है। यह तो ऐसा ही हुआ जिस प्रकार घन-तिमिराच्छादित वातावरण को प्रकाशित करने वाले दीपक के प्रज्वलित रहने में बाधा उत्पन्न की जावे। वर्तमान काल में गुरु की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है, जिसके मूल में अनेकानेक कारण निहित हैं।

---

1. विष्णु पुराण {3/9} "4"

"स्थिते तिष्ठेद् व्रजेद्याते नीचैरासीय चासति।
शिष्यो गुरोर्नृपश्रेष्ठ प्रतिकूलं न संचरेत॥"

सर्वप्रथम तो गुरु का व्यक्तित्व स्वयं इतना सुदृढ़ नहीं है जिससे वह शिष्यों को प्रभावित कर सके। प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व के अभाव में गुरु-सम्मान का पात्र नहीं हो पाता था। इस प्रकार निर्मित शिष्यों से ही सम्पूर्ण समाज का निर्माण होता है, जो पूर्णतः गुरु के व्यक्तित्व से ही प्रभावित रहता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक-अव्यवस्था हेतु माता-पिता स्वयं ही पूर्णरूपेण उत्तरदायी हैं। बालकों को सुसंस्कारित न करने के लिये। पारिवारिक वातावरण में अव्यवस्था का दर्शन कर बालक परिवार से बाहर समाज के विविध वर्गों में भी अव्यवस्था का ही दर्शन करता है।

इस प्रकार, आधुनिक सन्दर्भ में उच्चतम्-शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त अव्यवस्था के लिये माता-पिता, साथियों और सम्बन्धियों के अतिरिक्त स्वयं शिक्षक वर्ग भी उत्तरदायी है। सम्भवतः इसीलिये उन्हें यत्रतत्र अवमानना की त्रासजन्य अनुभूति होती है। यहाँ छात्र भी कम अपराधी नहीं है। आरम्भिक अवस्था से उच्चतम्-अवस्था तक प्राप्त शिक्षा में क्या कभी किसी माध्यम से सदाचार-पालन का निर्देश अनुपलब्ध नहीं होता है? इसके अतिरिक्त उच्चतम शिक्षा प्राप्ति तक मस्तिष्क भी परिपक्व हो जाता है। सत्कर्म एवं कुकर्म का भली-भाँति ज्ञान भी हो जाता है। फिर यह अव्यवस्था, अपराधवृत्ति दिन-प्रतिदिन क्यों तीव्रतम होती जा रही है?

इस प्रकार हमारे जीवन को ज्ञान-पुंज से भली-भाँति आलोकित करने वाले गुरु की अवज्ञा का भयंकर परिणाम हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।[1]

---

1. पद्मपुराण— "गुरुणामवमानेन प्रशूर्वं कौप विस्मयैः।

पुण्यानि समयायान्ति व्यर्थानि हि दुर्धियः।।"

तुलनीय शिवपुराण—

"भर्त्सयेत् गुरुं यो हि त उपेक्षयति पापधीः।

तस्यापि पातकं घोरं चिरयं नरक दायकम्।।"

जिसमें हम कदापि उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते हमारे सभी पुण्य-क्षीण हो जाते हैं और हम नरकगामी बन जाते हैं।[1] यह नरक हमें इसी जन्म में इसी शरीर में प्राप्त होता है फिर चाहे वह नाना व्याधियों के रूप में, अनेकों दुःखद विपत्तियों के रूप में अथवा जीवन-निर्वाह में असीम बाधाओं के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित अवश्यमेव होता है। अतएव हम किसी प्रकार से गुरु शुश्रूषा के प्रति उदासीन एवं असावधान न हों। उनके प्रति उपेक्षा का व्यवहार न करें।

हम अपने जीवन के चरमोत्कर्ष तक तभी पहुँच सकते हैं जबकि ज्ञानदाता, मंगलमय एवं सम्पूर्ण विश्व को उन्नतिशील बनाने वाले शिक्षक वर्ग का सर्वविध सम्मान करें। उनके प्रति कभी अविनयाचरण न करें एवं विद्योपलब्धि के प्रति निरन्तर सचेत रहें। तभी ईश्वर से की गयी हमारी ये प्रार्थनाएँ भी सफल होंगी।[2]

-दण्ड व्यवस्था-

आश्रम में विद्याध्ययन करते हुए विद्यार्थियों को यदा-कदा असावधान होने पर दण्ड की कड़ी व्यवस्था थी। अत्यधिक-प्रेम भी अनिष्ट-कर होता है। पारिवारिक वातावरण में मोहान्ध पारिवारिक सदस्यों द्वारा बालक में अनेकानेक अवगुणों के बीज अज्ञानवश आरोपित कर दिये जाते थे। उस स्नेहिल परन्तु अमांगलिक वातावरण से दूर करने एवं जीवन-निर्माण। हेतु मंगलकामना करते हुए लाभप्रदत्त वातावरण के निर्माणार्थ अथक प्रयास हमारे गुरुजन करते रहते थे।अतएव विद्यार्थियों को आश्रम द्वारा निर्दिष्ट आचारों की अवहेलना करने पर बाधित किया जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि दण्ड शुभ-परिणाम हेतु प्रदान

---

1. पद्मपुराण-

"यो गुरुमवमन्येत सुविद्याचारवर्जितः।
स मृतः पात्यते घोरे नरकेऽधोमुखः पुमान्।।

2. यजुर्वेद 19/9

"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि।।"

किया जाता है था। किसी भी प्रकार से इस व्यवस्था में क्रूरता का प्रदर्शन अथवा शारीरिक अवयवों को हानि पहुंचने की सीमा तक दण्ड देने का विधान नहीं था।

इस व्यवस्था से असावधान छात्र कृत अपराध को पुनः दोहराने का कोई साहस नहीं करता था। यहाँ विशेष रूप से इसका यही तात्पर्य था कि असावधानी अथवा अपराध करने की प्रवृत्ति के प्रति विद्यार्थी विरत हो जाये तथा भविष्य में सावधान रहे। वस्तुतः यह व्यवस्था उन छात्र-वृन्दों के हेतु विशेष उपयोगी थी जो प्रमुख रूप से किसी लोभवश अथवा स्वार्थपूर्ति हेतु अपराध कार्य में प्रवृत्त होते थे। उदाहरणार्थ— अच्छे भोजन, विवाह हेतु आश्रम के नियमों की ये छात्र अवज्ञा कर देते थे।

वस्तुतः उपर्युक्त व्यवस्था वर्तमान समय में बहुपयोगी सिद्ध होगी। यदि उद्दण्ड छात्रों को किसी भी माध्यम से सीमित रूप में दण्डित किया जाये। ऐसी दण्ड-व्यवस्था जो आधुनिक सन्दर्भ में प्रभावोत्पादक हो, मानसिक, मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक रूप से किसी प्रकार से भी छात्रों हेतु अपकारी न हो, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए। यहाँ गुरु का शिष्य के प्रति वही सम्बन्ध माना जाना चाहिये जो उस माँ व शिशु के मध्य होता है, जहाँ वह अपने बालक के कल्याणार्थ चिकित्सक से उपचार करवाने में उसके रोदन के प्रति नितान्त उदासीन बनी रहती है। ऐसी व्यवस्था अत्यावश्यक है कि सम्पूर्ण समाज इस ओर विशेष रूप से प्रयत्नशील हो। साथ ही शिक्षक भी छात्र के कल्याण हेतु विशेष रूप से कटिबद्ध हो जायें।

शिक्षा प्रदान करते समय असावधान छात्रों के लिये दण्ड का भी उन दिनों विशेष विधान था। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार की अनावश्यक

कठोरता का निर्देश नहीं था।[1] शारीरिक प्रताड़ना की एक सीमा के अन्दर थी। अधिकांशतः विविध व्यंग्यात्मक नामावलियों[2] से ही कार्य चलता था। तथापि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में शारीरिक दण्ड की भी व्यवस्था थी।[3] यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अत्यधिक स्नेह प्रेम के प्रदर्शन से अध्ययन के प्रति गम्भीरता एवं सतर्कता बनाये रखने में कठिनाईहोती थी। अतएव, सीमित दण्ड-व्यवस्था का निर्धारण न्यायोचित ही था। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उपवास दण्ड का उल्लेख प्राचीनकालीन साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत शिक्षण-प्रणाली में भी दण्ड-व्यवस्था की नितान्त उपेक्षा की गयी। आधुनिक समय में शिक्षण-शुल्क अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है, जिसको कतिपय-निर्धन छात्र दे सकने में असमर्थ होते हैं। उनके लिए प्रशासन की ओर से पुस्तकों का अतिरिक्त प्रबन्ध किया गया एवं शुल्क में भी शिथिलता प्रदान की गयी है। इसी प्रकार, दण्ड विधान को मनोवैज्ञानिक रूप से भी अनावश्यक माना गया है।

---

1. "पतंजलि कालीन भारत" डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
   -बी-1-8, पृ० 27।
   "सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो॰न विषोक्षितैः।
   लालनाश्रयिणो दोषास्ता नाश्रयिणो गुणाः॥"
2. तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक {यथातैपेण क्षेपे 2/1/4। भाष्य-
   यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थ काक इति}
3. 1-1-1, वा० 13 पृ० 104-
   "ये उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति।"

-सफल विद्यार्थी का समावर्तन-

[दीक्षान्त समारोह]

ब्रह्मचर्याश्रम में अवधि-पर्यन्त ज्ञानार्जनोपरान्त छात्र स्नातक के परिवर्तित रूप में विद्यमान होता था। इस अवस्था के उपरान्त वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था। इस कार्य के लिए भी गुरुकुल के निवासी गुरुजन इन नवीन स्नातकों को सदुपदेश प्रदान करते थे कि किस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में समुपलब्ध ज्ञान को जीवन की नानाविधि समस्याओं के समाधान हेतु व्यवहार में लाया जाये। अतः स्नातक को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर यावज्जीवन आचरण विषयक निर्देश गुरु प्रदान करता था जो सम्पूर्ण जीवन में निर्वाह हेतु अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता था। जैसा कि तै0उ0 में उपदिष्ट दीक्षान्त भाषण उल्लेखनीय है।[1]

उपर्युक्त समावर्तन संस्कार शुभदिन में सम्पन्न होता था। विद्यार्थी पूर्ण रूपेण विद्वान एवं शुभ संस्कारों में परिपूर्ण होकर स्वगृह वापस लौटता था। मध्याह्न काल में वह समस्त ब्रह्मचर्य के प्रतीकों दीक्षित, कमण्डलु, मृगचर्म को जल में प्रवाहित कर देता था।

इस प्रकार, गृहस्थाश्रम में उपरोक्त चिन्हों को धारण कर वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने का अधिकारी बन जाता था। हवन की समाप्ति पर उसका गुरुजनों द्वारा हाथी या रथ पर बैठाकर विद्वान के रूप में परिचय कराया जाता था तथा स्नातक गुरु को दक्षिणा देकर अपने गृह को वापस जाता था।

1. [तै0उ01/3]

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यंवद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुंमा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।"

-समीक्षा-

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि कतिपय स्थलों पर तो ईश्वर से भी अधिक महत्वपूर्ण गुरू का पद रहा है क्योंकि ईश्वर से साक्षात्कार हेतु मार्ग-प्रवर्तक भी तो गुरू ही होता है। यदि गुरू उपयुक्त मार्ग-दर्शन न करे तो साधक अथक प्रयास करने पर भी स्वउद्देश्यों में सफल नहीं हो सकता। अध्ययन-काल में विविध-विषयों का ज्ञान प्राप्त कराने हेतु अनेकों विद्वज्जन नियुक्त किये जाते थे। इसीलिए तो एक स्थान पर 24 गुरू बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

तद्युगीन गुरू परोपकार, करूणा, सर्वविद्या सम्बन्धित, वीतरागी, समस्त संदेहों का निराकरण करने[2] जैसे सर्वोत्कृष्ट गुणों का आगार होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र का भाग्य-परिवर्तन कर देते थे, क्योंकि उनके सद्गुणों और आचरणों का सम्पूर्ण राष्ट्र अनुकरण करता था। यत्र-तत्र असावधानी होने पर स्वयं प्रशासक (चन्द्रगुप्त) भी गुरू (चाणक्य) द्वारा ही उचित-पथ खोजने में सफल होता था। बिना गुरू की कृपादृष्टि के देवता भी प्रसन्न नहीं होते थे। इसीलिये तो गुरू का स्थान देवों से भी श्रेष्ठ माना गया था।[3]

---

1. श्रीमद्भागवत (11/7/32-34)
2. स्कन्दपुराण 2/5/16/26
   "सुपूर्णः सर्वतत्त्वोपकारकः। निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्या विशारदः सर्वसंशय विच्छेता नमलो गुरुराहृतः।।"
3. ब्रह्मवैवर्त० (1/26/11)
   "गुरु प्रदर्शितो देवो मन्त्रपूजा विधिर्जपः।
   न देवेन गुरुर्दृष्टस्तस्माद् देवाद् गुरुः परः।।"

शिष्य द्वारा किया गया प्रत्येक आचरण उसके सम्पूर्ण जीवन को किसी न किसी प्रकार प्रभावित करता था। उसके प्रत्येक आचरण का अपना विशेष महत्व था। यथा--- भिक्षा ग्रहण करने एवं गुरु हेतु पुष्प, हवन, सामग्री आदि के चयन जैसे आचरण से उसके स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव पड़ता था। प्रातःकालीन स्वच्छ वायु का सेवन, श्रम वृत्ति एवं प्रकार का उच्च या निम्नस्तरीय कार्य के करने में संकोच-भाव की समाप्ति होती थी।

किसी भी प्रकार का राजसी या तामसी भोजन न करने, सादी वेश-भूषा एवं सदाचार का पालन करने से मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त सरलता से व्यतीत होता था। वह अपने जीवन में आने वाली विविध कठिनाइयों का सामना अत्यन्त दृढ़तापूर्वक करता था। भोजन करते समय यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मात्र उदर-पूर्ति हेतु भोजन किया जाता था। विद्यार्थीगण स्वाद के प्रति इतने आकांक्षी न थे। मन को रोचक न लगने पर भी उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसका अन्य विकल्प तो नहीं विद्यमान है। इसके अतिरिक्त निन्दित भोजन का शरीर एवं मन पर भी प्रभाव पड़ता था। जैसी मानसिक-स्थिति में मनुष्य भोजन करेगा वैसा ही उसके शरीर पर भी प्रभाव पड़ेगा।

निष्कर्षतः बाहर से देखने में कठोर एवं रुक्ष नारिकेलफल के समान शिष्य का विद्यार्थी जीवन होता था जो आभ्यंतर में सन्निहित मंगलमय मधुर-रस के समान मांगलिक परिणाम के रूप में सम्पूर्ण जीवन को सुखद बना देता था।

सप्तम अध्याय

परवर्ती संस्कृत-साहित्य की विविध विधाओं की कृतियों में प्राचीन शिक्षा पद्धति के निरूपण में पुराणों का प्रभाव

-सप्तम अध्याय-

-परवर्ती- संस्कृत- साहित्य की विविध विधाओं की कृतियों में प्राचीन शिक्षा-पद्धति के निरूपण में पुराणों का प्रभाव-

मानव अत्यन्त प्राचीनकाल से ही ज्ञान-पिपासा के शमन हेतु विविध माध्यमों का आश्रय ग्रहण करता रहा है। ज्ञानोपार्जन के प्रति तीव्र जिज्ञासा भाव मनुष्य की मूल-वृत्तियों में से एक है जो निरन्तर उसके स्वभाव में निहित रहती है। इस पिपासा के शमन हेतु अपने पूर्वजों से प्रदत्त ज्ञान रश्मियों से स्वयं को प्रकाशित करता रहा है। निरन्तर ज्ञान रूपी जल के द्वारा उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त होती रही साथ ही इस ज्ञानरूपी पिपासा को जितना शान्त करने का प्रयास किया जाता था। उतनी ही वह अधिक तीव्रतम स्वरूप में उत्पन्न होती थी। अत-एव ज्ञानोपलब्धि का यह तीव्रतम प्रकाश अनवरत रूप से प्रज्ज्वलित होने वाला था इसमें यत्किंचिद् बाधा समुत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं था।

उपर्युक्त ज्ञान-पिपासा का शमन प्रकृति के माध्यम से, पूर्वजों द्वारा संचित ज्ञानराशि से एवं अनेकानेक साधनों के माध्यम से होता है तथापि सर्वोत्कृष्ट माध्यम पूर्वजों द्वारा प्रदत्त ज्ञान पुंज था, जिसके आलोक में अज्ञान रूपी अन्धकार सब प्रकार से नष्ट हो जाता था। वस्तुतः उपर्युक्त माध्यम में स्वयं अनुभव सिद्ध ज्ञान होने से किसी भी प्रकार के संदेह का स्थान ही नहीं रह जाता था। अनेकानेक वर्षों से निर्बाध रूप से ज्ञान साधन में तल्लीन ऋषियों से उपलब्ध ज्ञान सरिता में मज्जन करने से निश्चित रूप से समस्त आशंकायें निर्मूल सिद्ध हो जाती है, हमारी विविध समस्याओं का समाधान भी निश्चित रूप से हो जाता है। अतएव अनादिकाल से प्रवाहमान ज्ञानोपार्जन एवं ज्ञान प्रदान की यह अटूट शृंखला अपने सुदृढ़ एवं पावन स्वरूप में विद्यमान रहेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ज्ञानोपलब्धि का तात्पर्य मात्र प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराओं को[1] उनके मूल स्वरूप में ग्रहण करना, केवल भोजन, शयन एवं वस्त्रों द्वारा अपने जीवन की रक्षा करना ही नहीं था, अपितु ऐसा दिव्य ज्ञानार्जन करना था, जिसके प्रदीप्त आलोक के सम्मुख हमारी सम्पूर्ण जीर्ण-शीर्ण परम्परायें विनष्ट हो जायें। उनके स्थान पर स्वस्थ्य एवं हमारे परिवेश के अनुकूल परम्परायें निर्मित हो सकें एवं हमारा सर्वांगीण विकास हो सके। यह अलौकिक-ज्ञान हमें मात्र शास्त्रों व पुराणों के अध्ययन से ही उपलब्ध नहीं हो सकता जब तक कि हम इसके लिये स्वयं सिद्ध प्रत्यक्ष आत्म-द्रष्टा गुरु का अन्वेषण नहीं करते। वस्तुतः गुरु शिष्य की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण परम्परा है, जिसका पालन सर्वशास्त्रविद होने पर भी जगद्गुरु शंकराचार्य ने स्वयं पूर्णरूपेण किया। गुरु के अन्वेषण कार्य में सहस्त्रशः बाधाओं का अतिक्रमण किया एवं अपने उद्देश्यों में पूर्णतः सफल होकर विशिष्ट गुरु-शिष्य को सतत्-रूप से प्रवाहित किये रखा। उनके गुरु गोविन्द पादाचार्य से पूर्व भी गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अप्रतिम सौन्दर्य-शालिनी माला के मुक्ता-समूह की अटूट-श्रृंखला के समान प्रवाहित होती रही थी, जिनमें आदि गुरु नारायण, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पाराशर, व्यास, शुक एवं गौडपाद है।[2]

---

1. उद्धरित शांकर वेदान्त गुरु पृ021।

   योग वशिष्ठ [निर्वाण प्रकरण] 30, 22-4

   "अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञान शब्दवाच्य।

   व सनाशनदा शेषव्यवस्था शिल्पजीविका।।"

2- उद्धरित शांकर वेदान्त गुरु पृ0 212

   ब्रह्म सूत्र भाष्यम् [कामकोटि कोश स्थानम्]

   सन् 1954 पृ051

   मुण्डक उप0 3-2-11.

प्रस्तुत अध्याय में उपर्युक्त गुरु-शिष्यों के अन्तर्गत शुकनास-पुण्डरीक, विविध शास्त्रों एवं कला-विद्याओं के मनीषी आचार्यगण, दण्डी विरचित "दशकुमार चरितम्" के दसों राजकुमारों का श्रेष्ठ शिष्य-निदर्शन सर्वत्र संस्कृत-गद्य-साहित्य में प्राप्त होता है।

सर्वप्रथम गद्यकार बाणभट्ट प्रणीत कादम्बरी एवं दण्डी विरचित "दशकुमार चरितम्" के अध्ययन से तत्कालीन शिक्षा पद्धति, शिक्षण-संस्थाओं [मुनिजनों के आश्रमों], शिष्यों के आचरणों, उनकी योग्यता, तत्कालीन शिक्षा-विषयों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

तपोमूर्ति भगीरथ के अथक प्रयास से प्रवाहमान, परमपावन भागीरथ के सदृश्य गुरु-शिष्य- श्री अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रारम्भ होकर मानव-मात्र की कल्याण-कामना से सदा अग्रसर होती रही है, क्योंकि ज्ञान-प्रसार की परम्परा रूपी पुरातन ज्योति ग्रह-नक्षत्रों की भाँति सदैव प्रकाशित होती रहती है। उसके बाह्यावरण में स्वल्पगत किंचित् परिवर्तन एवं संशोधन होता रहेगा, परन्तु उसका पुरातन मूलस्वरूप कदापि समाप्त नहीं हो सकता। संस्कृत के विशाल रूपक-साहित्य में भी हमें विभिन्न रूपकों में भाँति-भाँति से प्रवाहमान पौराणिक-गुरु-शिष्य रूपी सलिला के दर्शन अपने मूल एवं स्वच्छ रूप में समुपलब्ध होतेहैं।

गुरु-माहात्म्य के अभाव में तो सम्भवतः कोई कृति अपने समुज्ज्वल रूप में उपस्थित नहीं हो सकती। प्रत्येक रचनाकार सृजन के पूर्व आराध्य अपने इष्टदेवों, गुरुजनों साधु-महात्माओं एवं विद्वज्जनों जो किसी महापुरुष का स्तवन एवं अभिनन्दन अवश्य प्रस्तुत करता है, तदुपरान्त वह अपनी ग्रन्थ-रचना के निर्माण में संलग्न होता है। यथा-कविकुल गुरु कालिदास के परम पूज्य, समस्त विश्व में वन्दनीय, माता-पिता स्वरूप शिव-पार्वती में से शिव का स्थान शारदातिलक[1] तन्त्रकार एवं

1. "संसार सिन्धोस्तरणैक हेतुं, वंदे गुरुन् मूर्धिन विमलत्वमाप्य

ईं रजांसि येषां पदपंकजानां, तीर्थाभिषेक श्रियमावहन्ति।।"

[शारदातिलक तंत्र]।

रामचरितमानस[1] के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में परमपूज्य गुरु के रूप में ही स्वीकृत किया गया है।

प्राची दिशा से अवतरित होने वाले, सम्पूर्ण विश्व के लिये मंगलमय स्वरूप को प्रस्तुत करने वाले, एवं पावन आलोक से- आच्छादित करने वाले भगवान भास्कर के सदृश्य गुरु एवं निरन्तर ज्ञान से अतृप्त रहने वाले शिष्यों की परम्परा आदि-काल से अनवरत रूप से चली आ रही है। इस परम्परा में काल-क्रमानुसार समय-समय पर अनेकों परिवर्तन हुए। सामाजिक-परम्पराओं को दृष्टिगत करते हुये आचार्य प्रवरों ने उसमें परिवर्तन तो किये, परन्तु उसका मूल-स्वरूप अपरिवर्तनशील ही रहा।

जैसे परम-पावन जाह्नवी विविध स्थानों पर एवं परिस्थितियों में नाना-विध रूपों में परिवर्तित होती है, परन्तु उसका मूल स्वरूप एक सा बना रहता है। वस्तुतः प्राणी-मात्र निरन्तर ज्ञानोपार्जन की क्रिया में संलग्न रहने का इच्छुक होता है, फिर चाहे वह ज्ञान उच्च, मध्यम अथवा निम्न-कोटि का ही क्यों न हो? जैसा उसका परिवेश उपलब्ध होगा, उसको मानसिक-संस्कार प्राप्त होंगे उसी ओर वह अग्रसर होगा अपने ज्ञान को विस्तृत करने हेतु। गुरुजन भी निरन्तर इसी कार्य को पूर्ण करने में तत्पर रहते हैं।

वस्तुतः यदि कुएँ के पास जाने पर भी तृषित-व्यक्ति अपनी प्यास शान्त नहीं कर सकता तो यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। मधुर एवं शीतल जल-युक्त कूप तथा पिपासा-शमन का इच्छुक दोनों ही जैसे इस विश्व में अनादिकाल से गतिमान रहे हैं, भयानक ग्रीष्म-ऋतु के ताप से अखिल-जगत को त्राण प्रदान करने हेतु जिसप्रकार शशि अपनी स्वच्छ एवं स्निग्ध ज्योत्सना का प्रसार करता रहा है उसी प्रकार प्राचीन शिक्षा-पद्धति भी युगों-युगों तक सम्पूर्ण विश्व का मंगल करती

---

1. "वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते।।"
{रामचरित मानस 1/3}।

चली आ रही है इसमें किसी भी प्रकार का विशेष व्यवधान नहीं पड़ा है।

कविकुल गुरु कालिदास द्वारा रचित "रघुवंश" में महर्षि वशिष्ठ-दिलीप, ऋषि-प्रवर वरतन्तु- कौत्स, "कुमार-सम्भव" में अल्पायु एवं व्रतकावृत्ता स्त्री-शरीरधारिणी पार्वती, कविवर भारवि प्रणीत "किरातार्जुनीयम्" में चित्रित द्रोणाचार्य- अर्जुन, पराक्रमी एवं तेजवान परशुराम, महाभारत के प्रणेता वेदव्यास-अर्जुन, श्री हर्ष विरचित "नैषधीयचरितम्" एवं महाकवि माघप्रणीत "शिशुपाल वध" में वर्णित प्रसंगो में इस परम्परा का विशिष्ट स्वरूप सैनविहित होता है। गुरु-शिष्य परम्परा तत्कालीन आदर्श-व्यवस्था एवं परिस्थितियों का समुज्ज्वल दृष्टान्त है। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन-शिक्षा-जगत् कितनी समृद्धि एवं परिष्कृत अभि-रुचि से परिपूर्ण था।

संस्कृत-साहित्य की अन्य विधाओं मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, धर्मशास्त्रों, वेदान्त आदि दर्शन-ग्रन्थों में निरूपित गुरु-शिष्य-परम्परा आधुनिक संस्कृत-साहित्य- "गुरु-माहात्म्य शतकम्" आदि काव्य ग्रन्थों में प्रतिपादित गुरु का स्वरूप एवं लक्षण, महत्व आदि का निरूपण।

संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे गुरु-शिष्य-सम्बन्धों के हमें विविध युगों में भाँति-भाँति के परिवर्तित स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रस्तुत सम्बन्ध मूल-रूप में तो एक से बने रहे तथापि परिस्थितियों के अनुसार अध्ययन-अध्यापन की विधि, दण्डनीति, शुल्क, विधियों का वर्गीकरण, शिक्षा की अवधि जैसे विविध-स्तरों पर परिवर्तन हुआ। मूलरूप में गुरु व शिष्य का स्वरूप अपरिवर्तित ही रहा। किसी सामान्य-विषय ज्ञान से परब्रह्म-ज्ञान तक जिज्ञासु

मनुस्मृति 2/117 पृष्ठ-63

"लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽध्यात्मिकमेव च।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।।

की जिज्ञासा गुरु के समीप जाने पर ही शान्त होती है।

गुरु के लक्षणों एवं उसके स्वरूप में विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। आचार्य एवं गुरु के विविध लक्षण हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः गुरु का कार्य ही शाब्दिक-अर्थानुसार शिष्य को लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान प्रदान करना था। लौकिक-ज्ञान प्राप्त करने हेतु बालक का उपनयन-संस्कार होता था जिससे बालक अपने परिवार से नितान्त पृथक् रहकर अपना उद्देश्य पूर्ण कर सके। बालक का उपनयन-संस्कार करने वाला तथा उसको वेद-वेदांग की शिक्षा प्रदान करने वाला आचार्य नाम से सम्बोधित किया जाता था।[1] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी आचार्य शब्द के विषय में समर्थन उपलब्ध होता है। वह उपनयन अथवा यज्ञोपवीत-संस्कार के माध्यम से बालक को बाह्यरूप से तथा वेदोपनिषदों के माध्यम से नैतिक-ज्ञान प्रदान करता था।[2]

इसी प्रकार गुरु शब्द भी स्वयं में कितना महत्वपूर्ण है इसका हमें तभी ज्ञान हो सकता है जब गुरु का सामीप्य लाभ प्राप्त किया जाये तथा उससे कुछ ज्ञानार्जन किया जा सके। वस्तुतः गुरु का उद्देश्य भी पहले यही होना चाहिए कि वह अपने संरक्षण में आये शिष्य का भली-भाँति पोषण कर सके, उसको ज्ञान

मनु0 2/140 पृ069

1. "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
   संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।"

2. याज्ञ0 स्मृति- आचाराध्याये ब्रह्मचारि प्रकरणम् [34] पृ016
   "स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वावेदमस्मै प्रयच्छति।
   उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।।"
   श्री याज्ञवल्क्य स्मृतिः-

महर्षिवर्य श्रीयोगि याज्ञवल्क्य विरचिता[धर्मशास्त्रम्]श्री मन्महोपाध्याय पण्डित वर्य श्री मिहिरचन्द्र विरचितया दीपिकया नितान्त प्रकाश परनाम्न्या भाषाटीकया सहिता। सेठ खेमराज-श्रीकृष्णदास श्रेष्ठिना मुम्बय्यां स्वकीये "श्री वेंकटेश्वर" [स्टीम] मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशिता संवत् 1966.

प्रदान कर सके तथा उसके जीवन को ज्ञान-रश्मियों से पूर्ण कर सके। शिष्य का मात्र बाह्य-जगत् ही नहीं अपितु अभ्यन्तर भी आलोकित हो उठे जैसा कि कबीर ने भी समर्थन किया है।[1] व्यावहारिक रूप से भी उसको परिवारजनों को छोड़-कर आये शिष्य का पालन करना महत्वपूर्ण हो जाता है जैसा कि मनुस्मृति में गुरु का कर्तव्य-निर्धारण प्राप्त होता है।[2] उपर्युक्त उदाहरणों से जीवन का लौकिक एवं पारलौकिक अथवा भौतिक एवं मानसिक-पक्ष स्पष्ट रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

गुरु के उपर्युक्त लक्षण तो उसके उद्देश्यों का परिचय प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त गुरु को अपने नैतिक उत्तरदायित्वों के प्रति भी पूर्णतः जाग्रत रहना चाहिए। वस्तुतः जब तक गुरु का मानसिक-स्तर अत्यन्त उच्चकोटि का नहीं होगा वह शिष्य को सुयोग्य बनाने में समर्थ कैसे हो सकेगा? भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसी-दास ने स्पष्ट कहा है।[3] इसके लिये परम आवश्यक है कि गुरु स्वयं परिपक्व आयु, ज्ञान, मानसिक-स्तर से युक्त हो करुणा, तप, तेज, प्रमादहीनता जैसे गुणों से ओत-प्रोत हो।

इसी प्रकार शिष्य को भी गुरु के समीप रहकर उनकी तन-मन-धन से सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। यद्यपि आधुनिक युग में इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव

---

1. "जो गुरु होवें बनारसी, शिष्य समुन्दर तीर।
   आठ पहर लागी रहै, जो गुन होई शरीर।।"

2. मनु0 2/142 पृ068
   "निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
   सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।"

3. "हरै शिष्य धन शोक न हरई,
   सो गुरु घोर नरक महँ परई।"

   (श्री रामचरित मानस)

नहीं है तथापि काल एवं परिस्थितियों के अनुसार थोड़ा तो सामंजस्य करना ही पड़ता है। स्मृतियों में शिष्यों के विविध रूप प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुतः जिस प्रकार गुरु सर्वतोभावेन शिष्य की कल्याण-कामना में तल्लीन रहता है वैसे ही शिष्य के लिये भी यह आवश्यक है कि वह सामान्य-शिष्टाचार का निर्वाह तो करे ही। यह विशेष रूप से वर्णनीय विषय है कि इस प्रकार के सामान्य-शिष्टाचार का परिचय बालक को प्रारम्भिक-अवस्था में ही करा देना चाहिये, जिससे गुरु-शिष्य-परम्परा के स्वस्थ्य रूप के विकास में अपेक्षित सहयोग प्राप्त हो सके। शिष्य गुरु के समीप ज्ञान प्राप्त करने हेतु जाता है उसके लिये परमा-वश्यक है कि वह विनय, सेवा, सहिष्णुता की त्रिमूर्ति बनकर गुरु को सर्वविध सन्तुष्ट करने का प्रयास करें क्योंकि विद्या प्राप्ति के लिए या तो शिष्य पूर्ण-रूपेण विनय एवं श्रद्धा से सम्पन्न होकर गुरु के समीप जाये अथवा अत्यधिक धन व्यय करे। तृतीय मार्ग है विद्यादान कर विद्या ग्रहण की जाये इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।[1] इस कथन की पुष्टि डा० सम्पूर्णानन्द ने भी की है।

उपर्युक्त वर्णित विद्या-प्राप्ति के विभिन्न उपायों में से गुरु की शुश्रूषा के विनिमय द्वारा ज्ञानार्जन ही अधिक सुलभ एवं श्रेष्ठ होगा क्योंकि धन अधिक व्यय करने की सामर्थ्य प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती। ज्ञान प्रदान भी वही करेगा जो स्वयं ज्ञानी होगा एवं स्वयं ज्ञानी व्यक्ति तो पहले ही ज्ञानयुक्त है फिर शिष्य तो अल्पायु में ही गुरु के समीप जाता है उस समय तो वह अज्ञानान्धकार से आवृत्त होता है। अतएव गुरु की सेवा ही एक मात्र विकल्प रह जाता है ज्ञान-प्राप्ति के

---

1. उद्धृत योग-दर्शन—— डा०सम्पूर्णानन्द, प्रथम संस्करण 1965

"गुरु शुश्रूषया विद्या, पुष्कलेन धनेन वा।

अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थं नैव विद्यते।।"

के हेतु। अपने गुरु को ही सब कुछ मानकर उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने में ही शिष्य का सर्वविध कल्याण निहित है जैसा कि दादू के शिष्य सुन्दर दास जी ने भी पुष्टि की है।[1]

गुरु के समीप जाकर सर्वप्रथम शिष्य के लिये यह अति-आवश्यक है कि वह आदरपूर्वक गुरु को प्रणाम करे एवं अपना परिचय प्रदान करे। जब गुरु भली-भाँति संतुष्ट हो जाये कि शिष्य वस्तुतः ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है तभी उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा सफल होगी। वर्तमान समय में परिचय प्रदान करने की परम्परा बालक की आयु, माता-पिता का व्यवसाय, प्रतिष्ठित व्यक्तियों से प्राप्त चरित्र प्रमाण पत्र जैसी विविध-प्रक्रियाओं में समाहित हो गयी है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि याज्ञवल्क्य० में भी की गयी है।[2] यहाँ "सावहद्" पद विशेष रूप से इस ओर इंगित करता है।

गुरु के समीप रहकर शिष्य का गुरु के प्रति आचरण कैसा हो? यह भी प्रस्तुत परम्परा को स्वस्थ्य रूप प्रदान करने हेतु एक महत्वपूर्ण सोपान है जिस पर सफलतापूर्वक बढ़कर शिष्य उत्कृष्ट सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। शिष्य को वस्तुतः गुरु के प्रति कृतज्ञ, द्रोहरहित, शुद्ध, नीरोग, निन्दा न करने वाला होना चाहिए। इन गुणों के अभाव में शिष्य ज्ञान-प्राप्ति का वास्तविक अधिकारी न रह सकेगा

---

1. "और तो संत सबै सिर ऊपर,
   सुन्दर के गुरु है गुरुदादू।"
   [योग-दर्शन"— संकलित डा०सम्पूर्णानन्द]

2. याज्ञ० स्मृति आचाराध्याये [26] पृ013
   "ततो भिवाद वेद् वृद्धान सावहमिति ब्रुवन्।
   गुरुं चवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः।।"

वह स्वाभाविक है। कतिपय गुणों जैसे शुद्ध अन्तःकरण, उत्तम स्वास्थ्य एवं श्रद्धा के अभाव में गुरु की सेवा तन-मन से न हो सकेगी और न ही एकाग्रचित्त होकर विद्या का अध्ययन ही किया जा सकेगा। जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में निर्देश प्राप्त होता है।[1]

गुरु से विद्या प्राप्त करते समय शिष्य का आचरण प्रत्येक दृष्टि से महत्व-पूर्ण है बालक को अपने परिवार से ही ऐसा संस्कारयुक्त वातावरण प्राप्त होना चाहिए जिससे गुरु के समीप रहकर वह स्वाभाविक रूप से सामान्य-शिष्टाचार का पालन कर सके। अध्ययन के समय वह किस प्रकार करे, किसका अभिवादन करे आदि दैनिक-चर्या के विषय में विशद ज्ञान का उल्लेख मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों[2] में प्राप्त होता है।

नाना प्रकार के कोलाहलपूर्ण वातावरण से नितान्त पृथक रखने हेतु आश्रमों में प्राचीनकालिक निवास का प्रबन्ध कम युक्ति-संगत न था। यद्यपि वर्तमान समय में इस व्यवस्था का पूर्णरूपेण पालन नितान्त असम्भव है तथापि कतिपय नियमों का पालन अवश्यमेव होना चाहिए। यथा सात्त्विक एवं पौष्टिक भोजन, सादी एवं स्वच्छ वेशभूषा, इन्द्रिय संयम जैसे विशिष्ट गुणों का छात्र अपने अन्दर सुविधा-पूर्वक समावेश कर सकता है। इस प्रकार प्राचीन एवं आधुनिक पद्धतियों के सम्मिलन से गुरु-शिष्य-परम्परा को स्वस्थ्य रूप प्रदान करने में अपूर्व सहयोग प्राप्त होगा

---

1. याज्ञ0 स्मृति आचाराध्याये ब्रह्मचारि प्रकरणम्, पृ0 14, | 28 |
"कृतज्ञ द्रोहि मेधा विशुचि कल्पान सूयका:।
अध्याप्या धर्मतः साधु शक्ताप्त ज्ञान वित्तदा:।।"

2. मनु0 2/119 पृ064
"शय्यासने ध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्।।"

ऐसा निर्देश ब्रह्मचारियों हेतु मनुस्मृति में समुपलब्ध होता है।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त गुणों से ओत-प्रोत शिष्य अपने ज्ञानार्जन के उद्देश्य को सम्यक् रूपेण पूर्ण कर सकेगा। तथा पूर्वकथित मार्ग के अनुसरण से कतिपय कठिनाइयों का सामना तो करना पड़ सकता है परन्तु इसी संघर्ष की कसौटी पर कस जाने से उसका जीवन शुद्ध स्वर्णाभा के सदृश ज्योतिर्मय भी हो उठेगा।

गुरु के समीप रहते हुए उनके लिये भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं की व्यवस्था करना, उसके दैनिक कार्यों में अपेक्षित सहयोग प्रदान करना, रुग्ण हो जाने पर सेवा शुश्रूषा जैसे गुण भी शिष्य के लिये अपेक्षित है। प्राचीनकाल में भिक्षा-वृत्ति के विषय में भी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। तत्कालीन परिस्थितियों में यह आवश्यक भी था, क्योंकि नागरिक जीवन से सौ-सौ योजन कीदूरी पर बसे गुरुकुलों में भोजन आदि की उचित व्यवस्था असम्भव ही थी क्योंकि गुरु को इतना अवकाश ही कहाँ था कि वह इतनी दूर जाकर भोजन एवं वस्त्रादि की व्यवस्था कर सके इसके लिए शिष्य ही प्रयास करता था। वह प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर गुरु की दैनिक चर्या हेतु अपेक्षित सहयोग प्रदान करता था, स्वयं दैनिक-कार्यों से निवृत्त होकर अध्ययन व स्वाध्याय करता था। तदुपरान्त अवकाश प्राप्त होने पर भिक्षाटन करता था। इस विषय में भी विविध प्रकार के निर्देश स्मृतियों में

---

1. मनुस्मृति पृ079 से पृ081 तक। ब्रह्मचारिणो नियमाः—
"वर्जयेन्मधुमांसं0" {2/177}.
"अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानह 0" {2/178},
"द्यूतं च जनवादं च0" {2/179},
"नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा"0 {2/198},
"नित्यमुद्धृत पाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंयतः"।
{2/193}।

प्राप्त होते हैं।[1] भिक्षार्जन के विषय में कहा गया है कि शिष्य प्रतिदिन भिक्षार्जन करे। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से शिष्य के मन का समस्त संकोच एवं आलस्य विनष्ट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त वह परिश्रमी भी होगा। भिक्षार्जन हेतु गुरु तथा स्वयं के परिजनों के निकट जाने का निषेध था[2] क्योंकि इस प्रकार के आचरण में सुविधा लाभ होता था, विद्यार्थी को तो सुखार्थी बनने की कल्पना का भी त्याग करने को कहा है। इसमें श्रम का अभाव हो जायेगा जो ब्रह्मचारी को विशेष रूप से वर्जित है।

भिक्षा ग्रहण करने हेतु शिष्य को यह भी ध्यान में रखना पड़ता था कि भिक्षा श्रेष्ठ कुल से प्राप्त की जाये यदि कहीं भी भिक्षा न प्राप्त हो तो महापातकियों को त्यागकर ग्राम में प्रत्येक व्यक्ति के घर जाकर भिक्षार्जन का प्रयास करे।[3]

उपर्युक्त निर्देशों से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि श्रेष्ठ-कुल की भिक्षा के अभाव में भोजन में पवित्रता, सात्विकता एवं पौष्टिकता का समावेश असम्भव हो जायेगा और ऐसा कि प्रचलित है कि भोजन के अनुसार तथा भिक्षा देने वाले के संस्कारों के अनुसार भोजन ग्रहण करने वाले पर प्रभाव पड़ता है। प्रतिदिन भिक्षार्जन न कर यदि एक ही दिन में आवश्यकता से अधिक भिक्षा देने वाले को कठिनाई का सामना

---

1. मनुस्मृति 2/182 पृ078
2. मनुस्मृति 2/184 पृ078
3. मनुस्मृति 2/185 पृ078

करना पड़ता है जिससे उसके [गृहस्थ] मन में आस्था एवं प्रेम कम हो जाते हैं। ब्रह्मचारी भी तो एक दो नहीं होते अपितु विविध गुरुओं के आश्रमों में निवास करने वाले शिष्यों की संख्या भी पर्याप्त होती होगी।

गुरु की सेवा शिष्य कैसे करे इस हेतु अति प्राचीनकाल से विविध विधान प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव गुरु-सेवा का महत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है।वस्तुतः जितना एकाग्रचित्त होकर गुरु की सेवा हो जायेगी उस सेवा में जितनी श्रद्धा, विश्वास एवं निश्छल भाव होगा वैसा ही परिणाम भी सामने आयेगा। गुरु को ईश्वर से भी सर्वशक्तिमान मानने में, यह तथ्य सम्यक्-रूपेण विचारणीय है कि ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग तो गुरु ही बताता है। किस प्रकार ईश्वर का ध्यान किया जाये विविध सोपान जिनको पार कर परब्रह्म का दर्शन साधक करता है परन्तु सिद्धि के हेतु पथ-प्रदर्शक तो गुरु ही बनता है। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान तो गुरु के माध्यम से ही होता है तभी तो निर्गुणोपासक कबीर भी भ्रमित होकर कह उठते हैं।[1] कबीर के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों ने भी गुरु को विशेष महत्व प्रदान किया है।

गुरु-शिष्य के लिये संसार रूपी सागर को भली-भाँति तैरकर पार करने हेतु एक मात्र अवलम्बन है ऐसे गुरु का पूजन-विधान शारदातिलक तन्त्र में इंगित किया है।[2] ऐसा ही उल्लेख संत कवियत्री दयाबाई भी करती है। अतएव गुरु को सामान्य मानव के समान न मानते हुये उसकी अत्यन्त भक्ति-भाव से सेवा-पूजा

---

1. योगदर्शन से उद्धृत—

"गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।"
[कबीर]

2. शारदातिलक-तन्त्र-

"संसार सिन्धोस्तरणैकहेतुन, दये गुरून् गुर्वि [illegible]।
एवाँति येषाँ पदपंकजानां तीर्थानि [illegible]।।"

करनी चाहिये तभी कार्य में सिद्धि भी उपलब्ध हो सकेगी।[1]

इस प्रकार ईश्वर तुल्य, ब्रह्मनिष्ठ, क्षमा, तप एवं संयम की मूर्ति के आश्रम में रहने वाले विद्यार्थी भी सामान्यजन ही नहीं वरन् श्रेष्ठतम-कोटि के नागरिकों में गिने जाते थे, जो अपने उज्ज्वल आचरण से समाज में प्रत्येक वर्ग का कल्याण करते थे। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार द्विज अध्ययन, अध्यापन में, क्षत्रिय प्रशासन कार्य में, वैश्य व्यापारिक-कर्म में एवं शूद्र अन्य सेवा-कार्यों तथा समस्त वर्णों की सेवा-शुश्रूषा में युक्त होते थे। ये ब्रह्मचारी आश्रम में वास करते हुए सभी नियमों का कठोरता पूर्वक पालन करते थे।

नियम-पालन में असावधानी होने पर दण्ड की भी पर्याप्त व्यवस्था थी क्योंकि इसके अभाव में प्रमाद होना स्वाभाविक भी है, परन्तु इसके लिये सुधारवादी दृष्टिकोण विचारणीय था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यधिक मानसिक एवं शारीरिक प्रताड़ना से बालक एक जिज्ञासु के रूप में विद्याध्ययन हेतु आता है। परन्तु यहाँ से वह एक कुण्ठित व्यक्तित्व लेकर ही बाहर निकलता है।अतएव स्मृतिकारों ने मनोवैज्ञानिक सुधारवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया था। सर्वप्रथम तो प्रमादी बालक को मधुर वचनों एवं सदुपदेश से सावधान किया जाता था।[2]

---

1. शारदातिलक तन्त्र से उद्धरित—

"गुरू न मर्त्य बुध्येत, यदि बुध्येत तस्य तु।
कदापि न भवेत सिद्धिर्न मन्त्रैदेव पूजनैः।।

2. मनुस्मृति 2/159 पृ073.

"अहिंसयैव भूतानां कार्य श्रेयो नुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।"

तदुपरान्त आवश्यकता पड़ने पर अनुशासन हेतु पतली छड़ी या रस्सी का प्रयोग किया जाना समीचीन प्रतीत होता है।[1] स्मृतियों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। वस्तुतः पारिवारिक वातावरण से पृथक होकर नये वातावरण में सामंजस्य कर पाना जिज्ञासु के लिए अत्यन्त दुर्लभ हो उठता है। कुछ समय व्यतीत होने पर शिष्य स्वयं को वातावरण के अनुकूल बना ही लेते हैं परन्तु फिर भी कतिपय बालकों के साथ विशेष परिस्थितियों में उपर्युक्त नीति का पालन परिहार्य हो उठता है। इतना विशेष ध्यातव्य है कि प्रताड़ना मर्मस्थलों पर न की जाये।

उपर्युक्त विधि से दण्डित विद्यार्थी स्वयं अपने व्यक्तित्व को उचित दिशा में विकसित करने का प्रयास करेगा। लॉक ने भी दण्ड-व्यवहार को विशेष रूप से उचित नहीं माना है।[2] अतएव निश्चित आयु तक, सीमित दण्ड की व्यवस्था अनुशासन हेतु उचित ही है। इसके नितान्त अभाव में उद्दण्डता एवं अनुशासनहीनता का साम्राज्य दृष्टिगोचर होगा जैसा कि वर्तमान युग में स्पष्ट लक्षित हो रहा है।

---

1. मनुस्मृति 2/159 पृ073,
2. P.N. Prabhu "Hindu Social organization" Page 134
"If the mind be curbed and humbled too much in childhood, if their spirits be abased and broken much by too strict hand over them, they loose all their vigour and industry and are in a worse state than the former. For extravagant young fellows that have liveliness and spirit come sometimes to be set right and to make able and great man, but dejected minds and low spirits hardly ever to be raised and very seldom attain to any thing."

आधुनिक काल में परिस्थितियों के अनुसार उपर्युक्त ताड़ना का विशेष महत्व है जो उपयोगी भी सिद्ध होता है। यह व्यवस्था वेदोपनिषदों, महाभारत जैसे अनेकानेक युगों से चली आ रही है। प्रारम्भ में मनोवैज्ञानिक-दृष्टिकोण का कोई स्थान ही नहीं था। तत्कालीन परिस्थितियों में अवज्ञा तथा अनुशासनहीनता की स्थिति में दण्ड विधान निश्चित था जो दण्डित मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रभावित करता था। स्मृतिकारों की दण्ड व्यवस्था आधुनिक एवं प्राचीन दोनों युगों हेतु समीचीन प्रतीत होती है। कतिपय परिवर्तनों एवं संशोधनों द्वारा यह व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।

-संस्कृत रूपक-साहित्य में निरूपित प्राचीन-शिक्षा-पद्धति-

गुरु का माहात्म्य- गुरु का माहात्म्य तो सामान्यतः सर्वस्वीकृत है। इसी माहात्म्य का संस्कृत-रूपक-साहित्य में अत्यन्त सजीवता से चित्रण किया गया है। गुरु को अपनी शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार विभिन्न मानवीय श्रेष्ठ गुणों का आगार होना चाहिए। जिससे उसके महान प्रभाव से विद्यार्थी-वृन्द स्वयं प्रभावित हो उठें एवं अपने उद्देश्य की सिद्धि में भली-भाँति संलग्न हो सके। वस्तुतः गुरु के सद्गुणों से आकृष्ट होकर ही शिष्य-वृन्द जिज्ञासु भाव से आपूरित होकर उसके समीप ज्ञानार्जन हेतु स्वतः पहुँचता है। उसके अन्दर यदि वस्तुतः श्रेष्ठ गुणों का आवकोष होगा। गुरु उत्कृष्टतम-विद्या का विशाल बहुकुंज होगा तभी तो वह अपने ज्ञान के आलोक का चतुर्दिक प्रसार कर सकेगा। इस व्यापक ज्ञान-प्रसार की योग्यता के निकष पर सभी प्राकृत पुरुष खरे नहीं उतरते। आधुनिक काल में इस सन्दर्भ में व्यावहारिक रूप से यह तथ्य विशेष-रूप से चिन्तनीय है। गुरु में यदि ज्ञान की विपुल निधि है तथा वह उसको समुचित रूप से प्रसारित करने की कला में भी मर्मज्ञ है तभी वह सम्यक्-रूपेण गुरु की श्रेणी में आ सकेगा। इस सन्दर्भ

में कविकुल गुरु कालिदास[1] की अवधारणा विचारणीय है जो सर्वथा तथ्यपूर्ण है। आधुनिक सन्दर्भ में शिक्षण-पद्धति उपर्युक्त गुरु के वैशिष्ट्य का समर्थन करती है।

गुरु के माहात्म्य में वर्णित विविध गुणों के साथ सामान्य अवगुणों का भी यत्र-तत्र समावेश हो जाता है, जो परिस्थितियों को देखते हुए स्वाभाविक भी है। वास्तव मेंयदि दृष्टिपात किया जाए तो गुरु में समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ कतिपय दुर्बलताओं{दोषों} का भी समावेश हो जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम तो वह कितना भी महान् क्यों न हो, विविध दिव्य गुणों से विभूषित भी क्यों न हो, तथापि मानवीय-दुर्बलताओं से असम्पृक्त कैसे रह सकता है? इसी प्रकार कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है कि सम्पूर्ण-जीवन में संचित तप, धैर्य, क्षमा, करुणा जैसे अपूर्व-निधियों के मध्य दुर्बलता अपना स्थान अक्षय निर्मित कर लेती है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वर्षों की तपस्या एवं परिश्रम से उपलब्ध इन्द्रिय निग्रह {क्रोध, अधैर्य, अहंकार जैसे अवगुणों पर नियन्त्रण} परिस्थितियों के ही कारण नष्ट हो जाता है जब द्वितीयाङ्क में शान्त-संयमी तपस्वि जनों के दाहक तेज की समता सूर्यकान्तमणि से की जाती है।[2] इसी प्रकार चित्त में क्रोध के प्रबल रूप से आविर्भाव होने पर कैसा भयंकर दुष्परिणाम दारुण दुर्वासा शाप के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है इसका उल्लेख भी चतुर्थांक में प्राप्त

---

1. मालविकाग्निमित्रम् 1/16 पृ0 275

   महाकवि कालिदास कृत {मालविकाग्निमित्रम् 1/16},

   संस्करण 3, स्थान अलीगढ़, 2019वि0

   "श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

   यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्यएव।।"

2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 2/7

   "शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

   स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।"

होता है।[1]

उपरिवर्णित विविध निदर्शनों से यह नहीं समझना चाहिए कि सभी गुरु-शिष्य एक से होते होंगे। दूसरी ओर शकुन्तला के पालक/धर्म-पिता महर्षि कण्व का क्षमाशील स्वरूप चित्रित किया गया है, जो सर्वसाधन सम्पन्न एवं समस्त शक्तियों से ओत-प्रोत होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक एवं दूरदृष्टि रखने वाले हैं। तभी तो अपनी अनुमति के बिना शकुन्तला द्वारा गन्धर्व-विवाह कर लेने पर वह उसको किसी भी प्रकार से प्रताड़ित न कर उसके इस आचरण की प्रशंसा ही करते हैं।[2]

यद्यपि विविध विषम परिस्थितियों में धैर्य एवं संयम से स्खलित हो जाना एक सामान्य बात थी, तथापि किसी भी प्रकार से सामाजिक प्रतिष्ठा की हानि एवं पुत्री के लोक-निंदा भाव की चिन्ता न करते हुए उन्होंने अपने धैर्य स्खलन का परिचय नहीं दिया। इसी उदात्त कार्य से वह आश्रम के स्वजनों के लिये ही नहीं वरन् एक जन-सामान्य के लिए भी श्रद्धा के पात्र हो उठे एवं क्षमा की प्रतिमूर्ति बन गये।

इसी प्रकार मानव जन्म लेने के कारण सामाजिक सम्पर्कों से मानवीय सद्गुणों के साथ दोष या दुर्बलता भी कतिपय अंश में गुरु के स्वभाव में सामान्यतः आ जाती है। वस्तुतः रूपक-साहित्य तक आते-आते तद्जन्य परिस्थितिवश गुरु के वैशिष्ट्य में क्रमशः परिवर्तन स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा था। गुरुओं को

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4/1 पृ059.

"विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।

2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक 4, पृ063.

"दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।"

अपने-अपने विषय में विशेष दक्षता प्राप्त थी परन्तु सर्वविध गुणों से युक्त होने पर भी उनके दुर्गुण स्वयमेव स्पष्ट हो जाते है। इस समय तक उनमें पारस्परिक गुणों की प्रशंसा का भाव समाप्तप्राय हो गया था। वे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के साथ ईर्ष्या-द्वेष-भाव का प्रदर्शन करने तथा आत्मविज्ञापनवश-स्वज्ञान के बढ़-चढ़कर प्रदर्शन करने जैसी कुप्रवृत्तियों से ग्रस्त हो गये है। ईर्ष्या, मद, मत्सर, क्रोध जैसे मानवोचित्त दुर्गुण प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में किसी न किसी रूप में समाविष्ट रहते हैं। ये स्थान-समय-पात्र पाकर किसी परिस्थित विशेष में प्रकट हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ— "मालविकाग्निमित्र" में दो अभिनयाचार्य हरदत्त एवं गणदास परस्पर प्रतियोगी वेश में राजा अग्निमित्र के सम्मुख जाने को प्रस्तुत हो उठते हैं, जिनकी विजिगीषु वृत्ति का वर्णन कंचुकी ने किया है।[1] यहाँ यह विशेष रूप से विचारणीय प्रश्न है कि कला-मर्मज्ञ ही कला के विषय में विशेष ज्ञान रख सकता है। विशिष्ट अभिनयाचार्यद्वय के मध्य श्रेष्ठता व लघुता का निर्णय राजा कैसे कर सकता है। सम्भवतः तत्कालीन परिस्थितियों में योग्य प्रशासक विविध कलाओं का ज्ञाता भी होता होगा। इसके अतिरिक्त राज्याश्रय में पालन-पोषण होने से ज्ञान की गरिमा एवं स्वाभिमान जैसे उत्कृष्ट गुणों का लोप हो गया था। तभी तो अपने विषय के विद्वद्द्वय को अपने ज्ञान की श्रेष्ठता का परिचय प्राप्त करने हेतु राजा के सम्मुख जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई।——>

---

1. मालविका० अंक 1/10 पृ०270
"उभौ अभिनयाचार्यौ परस्पर जयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ।"

मालविकाग्निमित्र नाटक का ऐसा ही एक और प्रसंग भी उल्लेखनीय है।[1]

कालिदासयुगीन अध्यापकों की प्रवृत्ति में भी प्राय: स्वार्थपूर्ति की भावना क्रमश: विकसित होने लगी थी, यदि यथार्थ दृष्टिकोण से देखा जाये तो भी वैयक्तिक जीवन-निर्वाह हेतु आर्थिक स्तर बनाना पड़ता है। समाज में निरन्तर होते रहने वाले विविध प्रकार के परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव डालते हैं। प्राचीनकाल की भाँति आधुनिक युग में गुरु भी एक सामान्य मानव-मात्र है। उसका जीवन-निर्वाह भी एक सामान्य व्यक्ति के समान होता है। वस्तुत: अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर इस समय तक गुरु के माहात्म्य में निर्बलता का प्रवेश हो गया था। यद्यपि अधिकांश ऐसे नहीं थे तथापि स्वार्थपूर्ति एवं आलस्य, पेट पालने जैसी प्रवृत्ति का आविर्भाव होने लगा था। गुरु के अन्दर उन गुणों का ह्रास होने लगा था, जिनके कारण वह समाज में आदर एवं आस्था का पात्र बनता था। अतएव समाज में उपर्युक्त दोषों से युक्त गुरुजनों को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, जैसा कि मालविकाग्निमित्रम् में कालिदास[2] की अवधारणा है। आधुनिक सन्दर्भ में गुरुजनों की स्थिति मालविकाग्निमित्रम् के समय के गुरुजनों की स्थिति के समान प्रतीत होती है।

गुरु का महत्व उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षण विधि से प्रकट होता है। स्वयं गुणी बने रहना ही उतना प्रशंसनीय नहीं है जितना अपने ज्ञान एवं गुणों को समाज

---

1. मालविका० 1/20 अर्धांश पृ०279

"राजा—————— प्राय: समान विद्या: परस्पर यश: पुरोभागा:।।"

2. मालविका० 1/17 पृ०276

"लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागम: केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।"

में पर्याप्त मात्रा में प्रसार करना श्लाघनीय है। जितनी दक्षता से गुरु अपने ज्ञान से शिष्य वृन्द को प्रभावित कर सकेंगे उनके नेत्रों पर पड़े भौतिक एवं असत्य के पर्दे को हटाकर नैतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक-ज्ञान को स्पष्ट कर सकेंगे, उतने ही वे प्रशंसा के पात्र होंगे। शिक्षक कितना भी उच्चस्तरीय ज्ञान-सम्पन्न क्यों न हो? जब तक उसका ज्ञान व्यावहारिक-जीवन में उपयोगी नहीं होता, उसकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है। समाज में रहकर उसको विविध वर्गों के व्यक्तियों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके ज्ञान का चरमोत्कर्ष उसके लौकिक-व्यवहार में ही दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि अभि० शाकुन्तलम् में रचनाकार ने महर्षि कण्व के व्यावहारिक गुणों का विशद एवं सुष्ठु विवेचन किया है।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों में इस तथ्य की ओर इंगित किया है। समाज से पृथक् रहते हुए भी सामाजिक व्यवहारों का, रीति-रिवाजों का ज्ञान अत्यावश्यक था। जिसके अभाव में ज्ञान का विपुल भण्डार महत्वपूर्ण नहीं रह जाता था। प्रथम प्रसंग कन्या की विदा-वेला पर दिये गये लोक-जीवन पर आधृत उपदेश की व्यावहारिकता पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। प्रस्तुत उपदेश में भी सर्वप्रथम "शुश्रूषस्व गुरून्" पद का माहात्म्य स्वयं स्पष्ट हो उठता है कि गुरु का महत्व केवल ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं, अपितु गृहस्थाश्रम में भी उसकी वैसी ही उपादेयता थी। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने पर भी अपने जीवन को भली-भाँति चलाने, विविध-समस्याओं के समाधान, प्राप्त ज्ञान के सम्वर्द्धन जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर गुरु का

---

1. "सन्तोऽपि वयं लौकिकाः" [अभि०शा० चतुर्थांक] पृ०74.

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।"

[अभि० शा० 4/18] पृ०75

× × ×

"भगवन्! ओऽवगन्तोऽस्मिन्प्रेष्यैतोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते।"
[अभि० पृ० 489 सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी चौ०सं०पु० संस्करण]

परामर्श अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था। इसी समय अनुभव होता था गुरु के उच्चस्तरीय ज्ञान का। जीवन-पर्यन्त सर्वविध विद्याओं का परिचय प्राप्त करने, अत्युच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त करने, गुरुकुल में निष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत करने से ही गुरु का माहात्म्य महिमा-मण्डित नहीं होता जब तक कि उसका प्रभावी-प्रतिबिम्ब समाज पर न पड़े। वस्तुतः गुरु का श्रम, उसका उच्चस्तरीय-ज्ञान एवं लौकिक-व्यवहार की वास्तविक परीक्षा तभी होती है जब उसका शिष्य अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर जीवनचर्या प्रारम्भ करता है। सामाजिक रीतियों का वह सम्यक् पालन करता है। यदि शिष्य अपने व्यवहार से किसी भी प्रकार की अदूरदर्शिता प्रकट करता है तो उससे गुरु की शिक्षण-पद्धति अवश्यमेव प्रभावित होती है, जैसा कि मालविकाग्नि० में गणदास कहता है।[1] अन्यत्र विदूषक का कथन भी विशेषरूपेण उल्लेखनीय है।[2]

अभिज्ञान शाकुन्तलम् के चतुर्थांक में श्लोक 17 भी गुरु के माहात्म्य एवं व्यावहारिक ज्ञान पर सम्यक् प्रकाश डालता है। जबकि महर्षि कण्व पूर्णतः ब्रह्मनिष्ठ, तप, धैर्य, संयम, तेज एवं सर्वज्ञवित्तमत्ता जैसे गुणों से ओत-प्रोत है, तथापि शकुन्तला की विदा-वेला के समय प्रमत्त दुष्यन्त हेतु सन्देश प्रदान करने में एक ओर तो वह नितान्त सामान्यजन के समान व्यवहार करते हैं तो दूसरी ओर अत्यन्त महत्वपूर्ण उच्चकोटि का व्यवहार करते हैं। उनमें सन्निहित ज्ञान मात्र शास्त्र-ज्ञान का निर्जीव ढेर नहीं है अपितु उस ज्ञान-पुंज से विकीर्ण होने वाली

---

1. मालविका० [2/9] पृ० 285- गणदासः-

अद्य नर्तयितास्मि। कुतः

"उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायेत न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु।।" [9]

2. विदूषक— "सुशिक्षितोऽपि सर्वउपदेश दर्शनेन निष्णातो भवति।"
[अंक-1, पृ०27], रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौ०स०पु० प्रथम संस्करण]।

ज्ञान-रश्मियाँ सामान्य जन से लेकर शीर्षस्थ प्रशासक को भी प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं। महाराज दुष्यन्त उस समय तक कुशल प्रशासक, समस्त सुलक्षणों से सुशोभित, सर्वशक्तिमान व्यक्तित्व के स्वामी थे। तथापि महर्षि कण्व को पूर्ण अधिकार प्राप्त था, तत्कालीन परिस्थिति में उपदेश प्रदान करने का। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि वह अपनी कन्या के लिये किसी सुख-सुविधा विशेष की स्वार्थमय आकांक्षा रखते थे अपितु सामान्य स्त्रियों के समान व्यवहार की ही आशा रखते हैं। इससे अधिक, असामान्य सम्मान पाना, कन्या के भाग्य पर निर्भर करता है, यह तो वह स्वयं भी जानते थे।

इससे तत्कालीन गुरुजनों की पक्षपात एवं अहंकाररहित प्रवृत्ति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त प्रसंग आधुनिक युग में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा यदि इसका किंचिद् मात्र भी पालन किया जाये।

समीक्षा:- उपर्युक्त विवेचना से गुरु का माहात्म्य तो भली-भाँति सुस्पष्ट हो जाता है। गुरु का व्यक्तित्व विविध प्रकार के उच्चस्तरीय आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामान्य लौकिक ज्ञान से समन्वित होने पर भी, अहंकार, क्रोध, असूया, प्रमाद जैसे दुर्गुणों से सर्वथा असम्पृक्त रहने से ही गौरवमय हो उठता था। अपने संयत आचरण से ही वह प्रत्येक वर्ग की दृष्टि में श्रद्धास्पद हो उठते थे। इसके विपरीत किसी भी प्रकार का प्रमाद उन्हें जन-सामान्य की दृष्टि में निन्दा का पात्र भी बना देता था।

संस्कृत-साहित्य की प्रस्तुत रूपक विधा में किसी भी प्रकार की दक्षिणा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। तथापि अध्ययन पद्धति पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला गया है, जिसका पूर्व में ही उल्लेख कर दिया गया है। इसका एक विशेष कारण यही समझ में आता है कि तत्कालीन व्यवस्था में विविध-विद्याओं के ज्ञाता किसी प्रशासक के आश्रय में रहते थे। महर्षियों के गुरुकुलों को प्रशासन की ओर से पर्याप्त

संरक्षण एवं आर्थिक सहायता उपलब्ध थी।

-गुरुकुलों का परिवेश-

तत्कालीन आश्रमों का वातावरण पर्याप्त मात्रा में समुल्लिखित प्राप्त होता है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है उसका उस व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों एवं सम्पूर्ण दिनचर्या पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा-प्राप्ति हेतु व्यक्ति की सरलता एवं पवित्रता का उसकी शिक्षा पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। जितना ही शिक्षा क्षेत्र सरल, प्रशान्त, कृत्रिमता से रहित एवं तपोमय होगा उतना ही शैक्षिक-स्तर उन्नत होगा। प्राचीन गुरुकुलों का प्रतिबिम्ब आधुनिक युगीन विद्या-लयों पर भी यत्किंचित् दृष्टिगोचर होता है। नगर अथवा ग्रामीण कोला-हल से अत्यन्त दूर, प्राकृतिक सम्पदा के मध्य प्रशान्त वातावरण में दत्तचित्त हो अध्ययन करने में सहायक प्रकृति का चित्रण करने में चतुर कवि कुलगुरु कालिदास ने कण्वाश्रम का सुन्दर वर्णन किया है।[1]

आश्रम का उपर्युक्त प्रशान्त एवं रमणीय वातावरण किसके मन को अध्ययन के लिये प्रेरित नहीं करेगा? प्रस्तुत श्लोक[2] में वर्णित इंगुदी के फल फूट जाने से स्निग्ध प्रस्तर-खण्ड इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि चिकित्सा हेतु वनस्पतियों

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1/14 पृ० 10

"नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखा निष्यन्दरेखांकिताः।।"

2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् {1/15 पृ०10}
"कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः,
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भांकुरायां,
नष्टाशंका हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति।।"

का आश्रम अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। चोट लग जाने पर उपर्युक्त फल को पत्थर पर घिसकर घाव के स्थान पर प्रलेप कर दिया जाता था। महर्षि की अनुपस्थिति में भी दुर्गों की निडरता से आश्रम की सुरक्षा की ओर विशेष संकेत प्राप्त होता है। अतः तत्कालीन आश्रम-व्यवस्था पूर्णरूपेण निरापद थी।

अन्यत्र द्वितीय प्रसंग में उल्लिखित कण्व आश्रम का मनोहारी एवं सजीव चित्रण भी विविध तथ्यों को स्पष्ट रूप से लक्षित करता है। सर्वप्रथम तो यज्ञ की अनिवार्यता दृष्टिगोचर होती है जिससे यह तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि स्वयं भोजन करने से पूर्व घृत, सुगन्धित लकड़ी, हवन-सामग्री तथा अन्न के द्वारा अग्निदेव को संतुष्ट करते हैं। साथ ही प्राकृतिक वातावरण को पवित्र एवं रमणीय बनाने, वैज्ञानिक रूप से हानिप्रद कीटों को दूर करने, एवं श्वास-प्रश्वास हेतु स्वास्थ्यप्रद एवं पवित्र वायु जैसे अनेकानेक उद्देश्य निहित है।

कुशाएँ उखाड़ लिये जाने से तत्कालीन श्रम-साध्यता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः कुश का अग्र भाग अत्यन्त तीव्र होता था, जिसके स्पर्श-मात्र से अतीव कष्ट प्रतीत होता था। उसको उखाड़ने का कार्य तो और भी कष्टप्रद था जिसको आश्रम के छात्रगण ही करते थे। अतएव उपर्युक्त विवेचना से तद्युगीन आश्रमों की व्यवस्था एवं उनके माहात्म्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

उपर्युक्त आश्रम-व्यवस्था एवं परिवेश का यत्किंचित् चित्रण आधुनिक कतिपय शिक्षण संस्थाओं में भी उपलब्ध होता है। आधुनिक शिक्षा-जगत में भी शान्त वातावरण बनाये रखने एवं गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु अधिकतम यही प्रयास किया जाता है कि शिक्षण संस्थाएँ नागरिक अथवा ग्रामीण-कोलाहल से दूर ही रहें जिससे किसी भी प्रकार से भौतिक-आकर्षण विद्याध्ययन में बाधक न बनें। वाराणसी में निर्मित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय [बी०एच०यू०] तथा बोलपुर के पास शान्ति-निकेतन [विश्व भारती] विश्वविद्यालय एक उत्कृष्टतम् उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया

जा सकता है। बाह्यरूप से-ही क्यों न हो उसका अत्यन्त मनोरम प्राकृतिक परिवेश आज भी पर्यटकों को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। इसी प्रकार संस्कृत महा-विद्यालयों एवं सरस्वती शिशु मन्दिरों में भी उपर्युक्त वातावरण प्राप्त होता है। इन संस्थाओं के निर्माण में नदियों का पावन तट एवं पर्वतों की उपत्यकाओं[1] का विशेष माहात्म्य था, जिससे भौतिक परिस्थिति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठी थी। यह सब प्रकृति का सामीप्य प्राप्त करने की कामना से किया जाता था।

वस्तुतः हमारे प्राचीन गुरुकुलों का निर्माण अनेकानेक तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए किया जाता था। आध्यात्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक जैसे विविध पक्षों से सम्बन्धित उल्लेखनीय तथ्य हमारे प्राचीन महर्षिजनों के मस्तिष्क में सदैव विद्यमान रहते थे। अतएव भारतीय शिक्षा विदों का सम्पूर्ण समाज को सुशिक्षित करने का उद्देश्य भी भली-भाँति सम्पूर्ण होता था। वर्तमान समय में निरं-तर बढ़ते हुए वैभव के आकर्षण में समस्त समाज के साथ भारतीय शिक्षा जगत् भी उप-र्युक्त बाह्याडम्बर से समन्वित व्यवस्था का शिकार बन रहा है। इसके लिए हमें यथार्थ परिस्थितियों का सामना करते हुए प्राचीन-आदर्शों को व्यवहार में लाना होगा तभी शिक्षा-जगत् का वास्तविक तथ्य पूर्ण हो सकेगा।

<u>शैक्षिक विषय</u>--- समाज को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार शिक्षित करने हेतु विविध विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। अत्यन्त प्राचीनकाल में जब पठन-पाठन एवं शिक्षा के प्रसार की बहुलता थी उस समय वेदोपनिषद्, छन्द शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन प्रभृति अनेकानेक

---

1. "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रो अजायत"

गम्भीर विषयों का अध्ययन अत्यावश्यक समझा जाता था।[1] इनके अतिरिक्त जीवन-निर्वाह हेतु समाजोपयोगी सामान्य-ज्ञान-प्रदायिनी शिक्षा की भी विशेष व्यवस्था थी। कुछ समय उपरान्त मानव-वृत्तियों के परस्पर विरुद्ध होने से युद्ध-सम्बन्धी-शिक्षा की व्यवस्था भी हुई, जिसमें विभिन्न जातियों के अश्व, गज जैसे अनेक पशुओं के विषय में ज्ञान प्रदान करने की व्यवस्था थी, भाँति-भाँति के शस्त्रास्त्रों का निर्माण एवं उनके प्रयोग की भली-भाँति शिक्षा दी जाती थी। क्रमशः परिवर्तित युगानुसार सैन्य-व्यवस्था के विषय में भी पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार चिकित्सा, ज्योतिष, साहित्य, कला जैसे विविध नवीन विषयों का प्रशिक्षण दिया जाने लगा जिससे नागरिक सभ्य, सुसंस्कृत, स्वरक्षा में समर्थ प्रकाण्ड विद्वान् एवं कलामर्मज्ञ हो सकें।

अतएव उपर्युक्त शैक्षिक विषयों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस समय प्रत्येक विषय का अपना विशेष महत्व था। वेद, वेदान्त, उपनिषद, व्याकरण आदि गम्भीर विषयों से मानव-मन परिपक्व हो उठता है। वह अध्यात्म एवं यथार्थ की ओर उन्मुख हो उठता है एवं प्रकाण्ड विद्वान् बनकर अपने संचित-ज्ञान का प्रसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को करने लगता है। इस प्रकार अर्जित ज्ञान सुरक्षित बना रहता है, उसमें नित-नूतन अन्वेषण होते रहते हैं। कतिपय त्रुटियों का परिमार्जन भी होता है। व्यवसाय के आधार पर सभी विषय विप्र वर्ग के लिए विशेष-उपयोगी थे। इसी प्रकार अन्य विषय जैसे साहित्य, कला, सैन्य विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा

---

1. मुद्रा0- 3/33, चौखंबा सं0 पृ0227

मुद्रा0-

"ये तुल्यैमेव न गुरुन् प्रतिमानयन्ति,

तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जाम्।।"

एक ओर मनु[1] के द्वारा व्यवस्थित समाज के विभिन्न वर्णों {वर्गों} क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को उनके व्यवसायों में दृढ़ता प्रदान करते थे, वहीं आत्मरक्षा की भावना भी बलवती होती थी। इसके अतिरिक्त निरन्तर व्यवसाय की एकरसता के मध्य कुछ क्षण मनोरंजन हेतु भी प्रयुक्त होते थे जिसमें सहायक होते थे नृत्य, गायन, वादन एवं चित्रकला जैसे कलात्मक विषय।[2]

इसी प्रकार साहित्यिक अध्ययन से तत्कालीन रचनाकारों, राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों एवं राष्ट्रीय-संस्कृति का विशद् ज्ञान उपलब्ध होता है। साहित्य की विविध विधाओं के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों एवं कलाओं के गम्भीर अध्ययन से भी मानव अति सुसंस्कृत हो उठता है।[3]

वर्तमान काल में निर्धारित विषय प्राचीनतम विषयों के ही नवीन स्वरूप हैं, परन्तु जिनका प्राचीन कालिक महत्व एवं उद्देश्य समाप्त प्राय हो गये हैं। उनके मूल रूप के स्थान पर बाह्याडम्बर ही शेष रह गया है। सर्वप्रथम तो किसी भी विषय के अध्ययन हेतु प्रमुख भाषा के माध्यम की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह भी नितान्त सत्य है कि मातृभाषा के अभाव में अर्जित ज्ञान

---

1. मनु०

2. मालविकाग्निमित्रम्- 1/5 पृ०266.

3. उत्तररामचरितम् पृ०116.

सर्वदा अपूर्ण ही रहता है।[1] आधुनिक युग में सर्वविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु मातृभाषा का ही अभाव दृष्टिगोचर होता है। अत्यन्त उच्चस्तरीय ज्ञान- दर्शन, विज्ञान, अध्यात्म, भाषा जैसे अथवा सामान्य विषयों के अध्ययन हेतु भी हमें विदेशी भाषा विशेष रूप से आकृष्ट करती है जबकि इस प्रकार विदेशी भाषा के माध्यम से ज्ञान-प्राप्ति का मूल उद्देश्य ही विलुप्त होता जा रहा है।

यही ज्ञान प्राचीनकाल में अपनी मातृभाषा के माध्यम से प्राप्त करने पर मानव-जीवन का मूल उद्देश्य सरलतापूर्वक पूर्ण होता था। वह सुशिक्षित होकर मात्र ज्ञान का भार धारण किये नहीं रहता था, उसका जीवन में सदुपयोग भी करता था। मातृभाषा की सरलता से वह प्रत्येक विषय को सुविधापूर्वक हृदयंगम कर सकता था। धर्मशास्त्र, दर्शन, वेद-वेदान्त का अध्ययन कर शिष्यगण व मनस्वि जन मनन एवं चिन्तन में लीन रहा करते थे। राजनीति-शास्त्र का अध्ययन करने वाला कुशल प्रशासक बनता था एवं समाज को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करता था जैसा कि दुष्यन्त के प्रशासन का उल्लेख कण्व का एक शिष्य शार्ङ्गरव शाकुन्तलम् में करता है।[2]

अर्थशास्त्र का अध्ययन कर शिष्य अपने ज्ञान से सम्पूर्ण राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का कुशलता पूर्वक संचालन करता था। विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस में चित्रित कौटिल्य [चाणक्य][3] अपनी नीतियों से तद्युगीन संक्रमण कालीन राष्ट्र एवं समाज

---

1. "शिक्षा और चरित्र निर्माण" द्वारा श्री शिवकुमार शास्त्री पृ0 345
[कल्याण-चरित्र निर्माणांक]

2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 5/10 पृ084

3. मुद्राराक्षस 3/17, 3/15 उपशकलेतर———————जीर्णकुड्यम्।
राक्षसेवित:— 7/7 आकर: सर्वशास्त्राणां रत्नानामिवसागर: 7/18

के ख्याति प्राप्त प्रणेता थे। आधुनिक युग में ऐसे सुयोग्य राजनयवेत्ता एवं अर्थ-शास्त्री पात्र कहाँ उपलब्ध होते हैं, इसी प्रकार भाषा का गहन अध्ययन व चिन्तन करने वाले सम्पूर्ण विश्व में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करते थे। सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा एक ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार संगीत-कला में दक्ष स्वामी हरिदास व तानसेन जिनके गायन से दीपक प्रज्वलित हो उठते थे तथा मेघ उल्लसित होकर जल-वृष्टि प्रारम्भ कर देते थे। चित्रकारी में खजुराहो, अजन्ता व एलोरा की चित्रित प्रस्तर भित्तियाँ अपने आप में बेजोड़ उदाहरण हैं जिनकी समता करने वाले आधुनिक युग में अत्यल्प ही सुलभ होंगे।

समीक्षा:- शास्त्र एवं कला सम्बन्धी विविध विषयों के अध्ययन में सतत अभ्यास एवं विनय सम्पन्न बुद्धि से विषय को सूक्ष्मता से ग्रहण करने का विशिष्ट गुण शिष्यों में था। इसीलिये वे ब्रह्मचर्यजीवन में इनका अध्ययन करते एवं गृहस्थाश्रम में इनका व्यावहारिक प्रयोग करते थे। आज के विद्यार्थी अध्ययन करते हुये उपरि-लिखित तथ्यों की ओर समुचित रूप से ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते तथा अल्पायु में भौतिक-व्यसनों से आत्मरक्षा नहीं कर पाते। वे विषय का अध्ययन मात्र आजी-विका-पालन हेतु करते हैं, जिससे केवल डिग्री प्राप्त हो जाये और फिर प्रारम्भ होती है रोजगार की खोज जो अधिकांशतः निरर्थक सिद्ध होती है क्योंकि बेरोज-गारों का बाहुल्य एवं अध्ययन के गम्भीर ठोस क्षेत्र में उनका खोखलापन ही बढ़ता जाता है।

अतएव आज आवश्यकता है शिक्षाविदों व प्रशासन की ओर से ऐसे विषयों का निर्धारण जिनसे गहन ज्ञानार्जन हो एवं जीवन का समुज्ज्वल बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त हो साथ ही गुरु-स्वरूपी पावन-सलिला निरन्तर प्रवाहित होती रहे। आज आवश्यकता है परम ज्ञानी एवं प्रशान्त महर्षि कण्व उनके शिष्य, महर्षि वाल्मीकि

व लव कुश, गणदास व उनकी शिष्या की जो इस प्रशस्त परम्परा को निरन्तर स्वस्थ्य रूप में प्रवर्तित कर सकें।

-संस्कृत गद्य एवं गीति-काव्य में निरूपित आदर्श गुरु का स्वरूप-

गद्य-रचनाओं में चित्रित गुरु का स्वरूप आदर्श गुणमय था, वह सरल वेशभूषा, स्वभाव, क्षमा एवं तप की मूर्ति, अप्रतिम-विद्वता के आगार थे। वस्तुतः उपर्युक्त शुभ लक्षणों से सुशोभित गुरु स्वयमेव ईश्वर[1], ब्रह्म, परमात्मा जैसी संज्ञाओं से अभिहित होता था। यहाँ यह तथ्य सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने आचरणों से ही गौरवास्पद स्थान प्राप्त करता है, सामान्य-जनों के मध्य श्रद्धा का पात्र बनता है। अनाचार के मार्ग पर चलने से वह सर्वथा ह्रासोन्मुखी होता है।

उपरोक्त संज्ञाओं से अभिहित गुरुजन सर्वविध सदाचार एवं कर्तव्यों के निर्वाह में पूर्णरूपेण सक्षम थे। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को उसके व्यवसाय के अनुसार सुशिक्षित करने में पूर्णतः दक्ष थे। विविध विषयों में दक्ष एवं कलामर्मज्ञ विद्वज्जनों के समूह सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

भगवान् जाबालि का सजीव-चित्रण हमारे समक्ष तत्कालीन गुरु के स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करता है।[2] गुरु जाबालि की वेशभूषा, उनका

---

1. श्री शंकर दिग्विजय पृ0362- [10/97]
"मुनोनुवर्तित दिवाम्भिा गुरो गुरुर्हि साक्षाच्छिव एव तत्त्ववित्।
नियानुवृत्त्या परितोषितो गुरुर्विनये वस्त्रं कृपया हि वीक्षेत।।"

2. कादम्बरी कथा मुख पृष्ठ- 129-135
"तस्य च एवं विधस्य मध्य भागे वता शोकतरोः अधः छायायाम्
उपविष्टम्------------------ भगवन्तं जाबालिमपश्यत्।"

प्रकृति-सुषमा से समन्वित पावन निवास-स्थान, उनके सहयोग तपस्विजनों का यथोचित उल्लेख, उनकी विद्वत्ता उनके द्वारा किये गये यशस्वि-कर्म एवं उनका तेजोमय शारीरिक-सौष्ठव प्रकृति विषयों के विस्तृवत उल्लेख से यह सिद्ध होता है तत्कालीन गुरुजन सर्वथा परिस्थितियों के अनुकूल आचरण करते थे।

महर्षि जाबालि की बाह्य वेशभूषा दृष्टव्य है। तपस्वि मुनिजनों से आवृत, वृद्धावस्था में स्थित होने से श्वेत केश, विरल भौंहें, गति में लड़खड़ाहट, कृश गाल में काले मस्से, श्वेत जटाओं से पूर्ण मुख, श्वेत भस्म से प्रलिप्त काया, भस्म के त्रिपुण्ड से सुशोभित मस्तक, वक्र रूप तथा वृद्धावस्था के कारण यत्किंचित् शिथिल भौंहें, मन्द दृष्टि, निरन्तर मन्त्रों के जाप करने से किंचित् विवृत मुख, किंचित् अस्पष्ट धवल दन्त पंक्ति, उन्नत नासिका, गालों पर उभरी अस्थियाँ, बाहर को निकली पुतलियों से युक्त विशाल नेत्र, स्कन्ध प्रदेश पर श्वेत यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष की माला फेरते हाथ, मानस-सरोवर में धुले स्वच्छ वस्त्र को धारण किये, समीपस्थ कमण्डल, उभरी नसों के जाल से आच्छादित सम्पूर्ण काया।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त बाह्य स्वरूप को विशद्-वर्णन से तत्कालीन गुरुजनों की वेशभूषा की सरलता, आयु की परिपक्वता एवं मानसिक-स्तर के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप दर्शन से हमें ज्ञात होता है कि उस समय गुरु का अपना विशेष महत्व था। उन्हें किसी भी प्रकार के राजसी वैभव की यत्किंचित् भी आकांक्षा न थी। सर्व-समर्थ

---

1. कादम्बरी कथामुखे जाबालि वर्णनम्- पृ0130

"समन्तान्महर्षिभिः परिवृतम्, जरया शीतेनैव कम्पितदेहया, प्रणयिन्येव विहित-केशग्रहया, क्रुद्धयेव कृत भ्रूभंगया, मत्तयेवाकुलित गमनया---------- विकच पुण्डरीकराशिमिव राजहंसेनोप शोभमानम्।"

होते हुये भी अकिंचन बने रहना ही उन्हें इष्ट था। बाह्याडम्बर की अपेक्षा यथार्थ जीवन एवं अन्त तक ज्ञान-साधना में लीन रहना उन्हें रुचिकर था।

इसी प्रकार वह बाह्य वेशभूषा एवं स्वरूप के अतिरिक्त उनका आन्तरिक व्यक्तित्व भी उतना ही भव्य एवं समुज्ज्वल था गंभीरता, तेज, तप ही उनका पराक्रम था। जन्म से ही वह केशधारी थे, कान्ति उनमें अन्ततक विराजती थी, सत्यवृत्ति निरन्तर दुग्ध का सेवन करने वाले थे, दोनों पर दया करने वाले थे।[1]

उपरोक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि आडम्बर के स्थान पर इन गुरुजनों में सरलता एवं विद्वता का मणिकांचन संयोग था। जिससे सामान्य-जनों की दृष्टि में भी अत्यन्त महान् बन गये थे।

गुरुजनों की उपरिवर्णित भव्य एवं महिमामण्डित स्वरूप विविध-दिशाओं में ज्ञानार्जन के इच्छुक सामान्य जनों के अतिरिक्त विद्वज्जनों को भी आकृष्ट करता था। स्वयं सरल स्वभाव एवं
में विश्वास करने वाले गुरुजन ही शिष्यों को भी सदाचार के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर कर सकेंगे। स्वयं जब तक उन्होंने वन-साधना नहीं की परम-विद्वान नहीं बने, तपश्चर्या-यज्ञ-यागादि कर्म नहीं किये, तो शिष्यों को उपदेश प्रदान कैसे कर सकते हैं।

प्राचीन कालिक गुरुजनों में आर्जव का विशेष माहात्म्य था, उन्हें सर्वसिद्ध उपलब्ध होने पर भी अभिमान स्पर्श भी न कर गया था। मनुष्य शरीर होने

---

1. कादम्बरी-पूर्ववत् पृ0134

"स्थैर्येणाचलानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः

प्रशमेन————————————भगवन्तं जाबालिम् पश्यत्।"

के कारण स्वाभाविक कतिपय दोषों को अपने सहयोगियों एवं शिष्यों के सम्मुख स्पष्ट करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं था।[1] परमविद्वान होने पर भी किसी प्रकार के आडम्बर-प्रदर्शन में उन्हें विश्वास न था।[2] कर्तव्य-निर्वाह के प्रति वह पूर्णतः सावधान थे। सत्पात्र, विनय एवं श्रद्धा से उपेत, सरल-स्वभाव से युक्त शिष्य को ज्ञान प्रदान करने में वह सदैव तत्पर रहते थे। वे कदापि असत्य ज्ञान प्रदान नहीं करते थे।[3]

आचार्य प्रवर शंकर ने मनुष्य के लिए ज्ञानोपार्जन हेतु गुरु का माहात्म्य विशेषरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार आत्मज्ञ गुरु के अभाव में ज्ञान साधन-पूर्ण रूपेण सम्पन्न नहीं कर पाता है। इनके अनुसार गुरु ही परब्रह्म है[4], क्योंकि गुरु तो स्वयं ईश्वर से साक्षात्कार करने में निरन्तर लीन रहता है एवं उस परब्रह्म के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव स्वयं सिद्ध गुरु ही शिष्य को वास्तविक ज्ञान उपलब्ध करा सकता है और इसीलिए वह परब्रह्म के समकक्ष स्वीकार किया जाता है। ईश्वर के विषय में ज्ञान-परिचय हेतु आचार्य का उपदेश

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1/11 4 साधनखण्ड-गुरु-1 पृ0212
"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"

2. प्रश्नोपनिषद् 1-2 यदि विज्ञास्यामः सर्वं वो वक्ष्याम इति।"

x x x

3. शंकर भाष्य 1-3
"अतो न्यायाद् उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्याअन्ततं च न वक्तव्यं सर्वास्ववस्थासु।"

4. कबीर, सन्तसुधासार, खण्ड-1 दोहा 6 पृ0119
"ज्ञान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिनि बीसरि जाई।
जब गोविन्द कृपा करि, तब गुरु मिलिया आई।।

अत्यनिवार्य है।[1]

उपरिवर्णित गुरुजनों के अतिरिक्त मनुष्य को सन्मार्ग पर प्रेरित करने वाला, अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर करने वाला मित्र भी गुरु की ही श्रेणी में आ जाता है। ऐसे ही सदुपदेशक मित्र रूप गुरु शुकनास, कपिंजल का उल्लेख हमें कादम्बरी में प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि गुरु के समान श्रद्धेय पद हेतु मात्र अनुभव आयु ही अभीष्ट नहीं होती वरन् अवसरानुकूल परिस्थिति का निर्माण करने एवं कठिनाइयों में सहयोग की भावना रखने वाला सामान्य बौद्धिक स्तर का मित्र भी वस्तुतः गुरु बन जाता है। जो प्रतिकूल परिस्थिति में मित्र के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है, उसके कल्याण हेतु अथक प्रयास करता है एवं महानतम् उपदेश से अपने मित्र को यथोचित मार्ग का दर्शन कराता है।[2]

आधुनिक सन्दर्भ में गुरुजनों के उपर्युक्त स्तर में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन विशेषकर इस स्वरूप के परिवर्तन में निहित है। साथ ही परिवेश के प्रभाव से भी गुरुजनों का समूह असम्भृतवत

---

1. केन उपनिषद् शांकर भाष्य 1-3
   "ब्रह्म च एवमा चार्योपदेश परम्परया एवाभि गन्तव्यम् न तर्कतः प्रवचनमेधा बहुश्रुतमोच्चादिभ्यश्च।"

2. कादम्बरी [शुकनासोपदेश वर्णना] पृ0313-316.
   "तात चन्द्रापीड़। विदितवेदितव्यस्य अधीत सर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युप देष्टव्यमस्ति।———— गुरु वचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य
   × × ×
   [पुण्डरीकायोपदेशारम्भः पृ0 348-39 "सखे पुण्डरीक। नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजन क्षुण्णएषमार्गः। धैर्यधना हि साधवः।——— अमहता नामधेन, इदमपि तावदपह्रियमाणम् अनया अनार्यया निवार्यतां हृदयम्।"

नहीं रह सका। आधुनिक परिवेश की चकाचौंध में वह अपने गौरवमय अतीत को विस्मृत कर बैठा है कर्तव्यपालन के प्रति वह विमुख हो गया है। यत्किंचिद् इस विषय में प्रयास करने पर भी उसको सर्वतोभावेन असहयोग ही प्राप्त हुआ अतएव वह यदा-कदा असहाय के समान भी आचरण करने लगा है।

समीक्षा- वस्तुतः समस्त शिक्षक वर्ग जब तक स्वयं अनिहित-आचरणों में संशोधन एवं परिमार्जन नहीं करता, अपने नैतिक-मूल्यों को यथोचित दिशा की ओर अग्रसर नहीं करता। नवीनतम परिवेश के अनुकूल प्राचीन संस्कृति को परिवर्तित नहीं करता तब तक वह प्राचीनकालिक श्रद्धा का पात्र भी नहीं बन सकता। शिक्षक अधिकांशतः अपनी दयनीय-स्थिति के लिये स्वयं उत्तरदायी है। सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के निर्माण का मूल आधार शिक्षक ही जब स्वयं अपना स्थान समाज में सम्माननीय नहीं बना सकता तो राष्ट्र के निर्माण में उससे सहयोग की अपेक्षा कैसे की जा सकती है।

तत्कालीन गुरुकुलों का परिवेश--- कादम्बरी गद्य-ग्रन्थ के रचनाकार ने अपनी इस कृति में गुरुकुलों का अत्यन्त सजीव एवं विशद्-चित्रण किया है। कादम्बरी में वर्णित महर्षि अगस्त्य एवं जाबालि का आश्रम एक ओर प्रशान्त एवं रमणीय वातावरण का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर चन्द्रापीड के विद्याध्ययन हेतु निर्मित विशाल, भव्य एवं सर्वविध सुरक्षित शिक्षण-संस्थान का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय वन प्रान्तर में विद्यमान महर्षियों द्वारा संचालित आश्रम संभवतः सामान्य वर्ग एवं सन्यासियों द्वारा विशेषतः यज्ञ, तप, स्वाध्याय प्रभृति प्रयुक्त किये जाते होंगे। प्रशासक वर्ग हेतु विद्यालयों का पृथक रूप से निर्माण किया जाता होगा।[1] यह उचित नहीं

1. कादम्बरी- चन्द्रापीडस्य शिक्षा वर्णन पृ० 229-30
"तत्रस्थं चैनं केसरिकिशोरकमिव पंजरगतं कृत्वा प्रतिषिद्ध निर्गमम्, आचार्य कुल-पुत्र-प्राय परिजनम्, अपनीता शेष-शिशुजनक्रीडनव्यासंगम्------------ वैशम्पायन द्वितीयश्चर्यामग्रहीत्।"

प्रतीत होता है जैसा कि चन्द्रापीड द्वारा प्रवेश किये शिक्षण-संस्थान में उल्लेख प्राप्त होता है।

राज-परिवार के बालकों के अध्ययन हेतु निर्मित शिक्षण-संस्थाएँ संभवतः वर्तमान (Central schools) (केन्द्रीय विद्यालयों का प्राचीन स्वरूप रही होंगी। यह शिक्षण-संस्थान भी राजकीय-वैभव से एवं नगरीय कोलाहल से नितान्त पृथक् एवं सरिता के शीतलकूल पर सुदृढ़ व सुरक्षित निर्मित किये जाते थे। इनकी सुरक्षा हेतु चारों ओर अत्यन्त सुदृढ़ प्राचीर (चहार दीवारी) का निर्माण किया जाता था।[1] ये विद्यालय अत्यन्त विशाल एवं भव्य होते थे। चूने से इनको श्वेतवर्ण में प्रलिप्त किया जाता था। इनकी सुरक्षा में अधिक दृढ़ता हेतु इस बाह्य प्राचीर के चारों ओर अत्यन्त विस्तृत खाई का प्रबन्ध था।[2] प्रवेश करने हेतु मात्र एक ही द्वार खुला रहता था जो अति सुदृढ़ बनाया जाता था। अन्य द्वार बन्द रहते थे। इन संस्थाओं में एक ओर व्यायामशाला[3] तथा दूसरी ओर घोड़े-गाड़ियों[4] के ठहरने हेतु स्थान निर्मित किया गया था। इस भवन में अत्यन्त परिश्रम से विविध विषयों में पारंगत आचार्यों को तारापीड ने नियुक्त किया था।

उपरिवर्णित शिक्षण संस्थाओं के स्वरूप-दर्शन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन निर्मित विद्यालयों की दृढ़ता एवं सुरक्षा का सम्यक् रूपेण ध्यान रखा जाता

---

1. पृ० 230 पर कादम्बरी
   "सुधाधवलितेन प्राकार मण्डलेन परिवृतम्————————"

2. कादम्बरी वही- "————————अनुप्राकारमाहितेन महता परिखावलयेन परिवेष्टितम्————————"

3. वही- "————————अधः कल्पित-व्यायामशालाम्————————"

4. वही- "———————— एकान्तोपरचित- तुरग- वाह्याली विभागम्————————"

था। आधुनिक विद्यालयों के समान किसी भी प्रकार से उनमें असुरक्षा का अभाव था। सुदृढ़ भवन-निर्माण के कारण बाहर से इनमें हानि पहुँचने की यत्किंचित् भी संभावना नहीं थी। दूसरी ओर सामाजिक-व्यवस्था में अनुशासन के कारण विद्यालय के परिसर में भी किसी प्रकार के तनाव की आशंका नहीं थी।

व्यायामशाला तथा घोड़े गाड़ियों के ठहरने हेतु समुचित व्यवस्था से यह भी ज्ञात होता है कि छात्रों को मानसिक-स्तर की दृष्टि से समुन्नत निर्मित करने के साथ शारीरिक-दृष्टिकोण से भी सर्वांगीण विकास पर पर्याप्त ध्यान केन्द्रित किया जाता था। वर्तमान शिक्षण-संस्थाएँ भी उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर निर्मित की जाती हैं तथापि इनमें असुरक्षा का भाव अवश्य रहता है, जिसके मूल में सामाजिक-अनुशासनहीनता विशेष-रूपेण उपस्थित रहती है।

ये शिक्षण-संस्थाएँ प्रशासक-वर्ग द्वारा विशेष रूप से निर्मित की जाती थीं। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक श्री सम्पदा से सुशोभित एवं प्रशान्त-वातावरण में निर्मित मुनिजनों के आश्रम कृत्रिमता से सर्वथा असम्पृक्तवत् रहते थे। जाबालि के आश्रम में किसी भी प्रकार के भेद-भाव का प्रदर्शन दृष्टिगोचर नहीं होता था। आश्रमवासी हिंसक एवं कोमल दोनों मनोवृत्ति वाले जीव परस्पर सहयोग से निवास करते थे। गुरुजनों एवं शिष्यों की वेशभूषा उनके क्रिया-कलाप समस्त आचरण तत्कालीन शिक्षण-संस्थाओं के प्रतीक थे।

महर्षि अगस्त्य का आश्रम उपर्युक्त दृष्टि से दर्शनीय है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये विद्यार्थियों के समूह[1], पुत्र के समान वात्सल्य भाव से स्वयं

---

1. "तत्पुत्रेण च प्रहीत प्रतेनाषिठिना पवित्रं भस्म-विरचित-
त्रिपुण्ड्काभरणेन"

—कादम्बरी-अगस्त्याश्रम वर्णनम् पृ063-66.

कर लेते है।

हमारी प्राचीन शिक्षा स्थली प्राकृतिक आनन्द प्रदान करने के अतिरिक्त नाना प्रकार के पुष्पों, फलों एवं मसालों के विषय में अप्रतिम ज्ञान प्रदान करती थी। एक ओर आश्रमवासी शुककुल वेद-पाठियों की वैदिक ऋचाओं का अपनी भाषा में अनुसरण कर हमें आश्चर्यचकित कर देते है।[1] दूसरी ओर पशुओं के पारस्परिक द्वेषभाव की अनुपस्थिति[2] का बोध कराकर आधुनिक सन्दर्भ में हमें पारस्परिक ईर्ष्या-जन्य व्यवहार के प्रति ग्लानि भी होती है। इसी प्रकार गुरु का अनुसरण करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित याज्ञिक अनुष्ठान हेतु हवन-सामग्री लाते हुए शिष्यगण, निरन्तर होम करते रहने से तत्कालीन नियमों के प्रति निष्ठाभाव का अभूतपूर्व दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की सेवा एवं उनके प्रति सम्मान भाव भी सम्यक् रूपेण प्रदर्शित होता है।[3]

उस समय भी खाद्य सामग्री का विशिष्ट परिचय उपलब्ध होता है जो शक्ति के स्रोत एवं सात्विक वृत्ति से युक्त थे। स्वयं वृक्षों का सिंचन करने में आत्मनिर्भरता की भावना निहित थी। शिक्षा का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं

---

1. "जाबालि आश्रम वर्णनम् पृ0 119 "अनवरत श्रवण गृहति कादकार- वाचाल- शुककुलम्, अनेक- सारिकोद्घुष्यमाण सुब्रह्मण्यम्——————"।

2. वही-पृ0 141- "अहो प्रभावो महात्मनाम्। अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुप शान्तान्तरात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवन वसति- सुखम्- अनुभवन्ति।"

3. जाबाल्याश्रम वर्णनम् पृ0 118—— "आग्रहीत समित्कुश कुसुम मृदिभः अध्ययनमुखर- शिष्यानुगतैः सर्वतः प्रक्षिप्तिः मुनिभिरभ्युन्योषच्यम्।"

सिंचित पादप समूह[1], ~~xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx~~ ~~xxxxxxxxxxx~~ एवं करुणामय नेत्रों से युक्त हरिणों का कलाप, विविध वर्णी पद्म पुष्पों से सुशोभित पम्पा सरोवर, नाना-वर्णी पुष्पों से सुरभित एवं पुष्पित वन पंक्तियों से सुशोभित,[2] निरन्तर यज्ञ-कार्यों, प्रशान्त, पावन एवं शीतल अमृतोपम सरित प्रवाह, शान्तिप्लुत कपोत,[3] महर्षि अगस्त्य का परम पावन आश्रम तत्कालीन मुनिजनों के आचार-विचार, रहन-सहन, स्वभाव की सरलता, परिश्रम के महत्व एवं प्रकृति के परम-रम्य सम्पर्क की मनोहर झाँकी प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार आचार्य प्रवर जाबालि का आश्रम भी स्वयं में अत्यन्त विशिष्ट है। महर्षि अगस्त्य के आश्रम से कहीं अधिक विशद, सजीव एवं चित्रोपम वर्णन मुनि जाबालि के आश्रम का है जो तद्युगीन शिक्षा-संस्था का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है। तद्युगीन गुरुजनों एवं उनके शिष्यों, उनके बाह्य एवं आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व, उनके द्वारा अनुसरण की जाती आचरण-संहिता का पालन, आश्रमवासी जीवों का परस्पर व्यवहार, तत्कालीन आश्रमों की प्राकृतिक सौन्दर्य स्थली का अनूठा चित्रण प्रकृति उल्लेख हमारे रसिक आकर्षणों में भट के चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट

---

1. "आर्यपालोचा मुदया स्वयमुपरचितालवालकैः करपुट सलिल-सेचन-संवर्द्धितैः सुत निर्विशेष्य शोभितं पादपै————"
2. कादम्बरी अगस्त्याश्रम वर्णनम् पृ063-66.
   "————अनेक कुसुम-परिमल-वाहिनीभिर्वन देवताभिः————"
3. "चिरशून्ये दृयाभि यत्र शाखानितीन-निभृत-पाण्डु-कपोल-पंक्तयोः लग्न तापसाग्नि होत्र- धूम राजय इव लक्ष्यन्ते तवः।"
4. ~~"जाबालि आश्रम वर्णनम् पृ0119 "अनवरत श्रवण ग्रहति वषट्कार- वाचाल-शुककुलम्, अनेक- सारिकोपकुद्धमाय शुकबन्ध————"।~~

कर लेते हैं।

हमारी प्राचीन शिक्षा स्थली प्राकृतिक आनन्द प्रदान करने के अतिरिक्त नाना प्रकार के पुष्पों, फलों एवं मसालों के विषय में अप्रतिम ज्ञान प्रदान करती थी। एक ओर आश्रमवासी शुकुल वेद-पाठियों की वैदिक ऋचाओं का अपनी भाषा में अनुसरण कर हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं।[1] दूसरी ओर पशुओं के पारस्परिक द्वैभाव की अनुपस्थिति[2] का बोध कराकर आधुनिक सन्दर्भ में हमें पारस्परिक ईर्ष्या-जन्य व्यवहार के प्रति ग्लानि भी होती है। इसी प्रकार गुरु का अनुसरण करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित याज्ञिक अनुष्ठान हेतु हवन-सामग्री लाते हुए शिष्यगण, निरन्तर होम करते रहने से तत्कालीन नियमों के प्रति निष्ठाभाव का अभूतपूर्व दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की सेवा एवं उनके प्रति सम्मान भाव भी सम्यक रूपेण प्रदर्शित होता है।[3]

उस समय भी खाद्य सामग्री का विशिष्ट परिचय उपलब्ध होता है जो शक्ति के स्रोत एवं सात्विक वृत्ति से युक्त थे। स्वयं वृक्षों का सिंचन करने में आत्मनिर्भरता की भावना निहित थी। शिक्षा का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं

---

1. "जाबालि आश्रम वर्णनम् पृ० 119 "अनवरत श्रवण गृहीति वषट्कार-वाचाल- शुककुलम्, अनेक- सारिकोद्घुष्यमाण सुब्रह्मण्यम्-----------"।

2. वही-पृ० 141- "अहो प्रभावो महात्मनाम्। अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुप शान्तान्तरात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवन वसति- सुखम्-अनुभवन्ति।"

3. जाबाल्याश्रम वर्णनम् पृ० 118--- "आग्रहीत समित्कुश कुसुम मृदिभः अध्ययनमुखर- शिष्यानुगतैः सर्वतः प्रविशद्भिः मुनिभिरापूर्यमाणकण्ठम्।"

प्रत्युत पशुओं पर भी अद्भुत दृष्टिगोचर होता है।[1] यहाँ शिक्षकों की शिक्षण-योग्यता का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है।

<u>समीक्षा-</u> वस्तुतः प्राचीनकालिक आश्रमों का वातावरण छल-प्रपंचरहित, समस्त विकारों से शून्य, सद्वृत्तियों से समन्वित, प्रकृति के क्रोड में स्थित होने से अत्यन्त शोभाशाली एवं सम्पूर्ण निवासियों के लिये सुखद था। क्यों न हो? जहाँ साक्षात् भगवान श्रीराम ने निवास किया हो एवं जिसका संचालन आचार्य श्रेष्ठ जाबालि तथा अगस्त्य कर रहे हों वह निवास-स्थान तो स्वयमेव ब्रह्मलोक[2] दिव्य-ज्ञान का श्रोत बन गया था, जिससे विभिन्न प्रान्तों से आगत जिज्ञासु जन अपनी ज्ञान-क्षुधा तृप्त करते थे।

<u>अध्ययन के विषय-</u> गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त करने के साथ देशाटन[3], प्राकृतिक-सम्पदा, किम्बहुना यहाँ तक कि अति सूक्ष्म घटनाओं के माध्यम से भी शिक्षा प्राप्त करने का उस समय विधान था। महर्षि जाबालि के आश्रम में विविध फलों एवं पुष्पों के वृक्षों के उल्लेख[4], शासन-भार वहन करते समय चन्द्रापीड को मंत्रि-प्रवर

---

1. जाबाल्याश्रम वर्णनम् पृ0।20- "धारिचित शाखामृग- कराकृष्टयष्टि-निष्काष्यमान- प्रवेश्यमानजरदन्ध तापसम्————————।"
   जाबाल्याश्रम वर्णनम् पृ0।21— "उपजात- परिचयैः कलापिभिः पक्षपुट-पवन सन्धुक्ष्यमाण मुनि- होम- हुताशनम्————————"।
2. जाबाल्याश्रम वर्णनम् पृ0।25
   "अतिरमणीयमपरमिव ब्रह्मलोकमाश्रममपश्यत्।"
3-4. दशकुमारचरितम्- "एवंमिलितेन कुमार मण्डलेन सहबालकेलीरनुभवन्नधि-स्तानेक राजवाहनोनुक्रमेण चौलोपनयनादि संस्कार जातमलभत ततः सकललिपि ज्ञातं————————तं कुमार निकरं निरीक्ष्य महीवल्लभः सः"————————।

शुकनास द्वारा प्राप्त उपदेश,[1] एवं कामविदग्ध पुण्डरीक को उसके मित्र कपिंजल द्वारा प्रदत्त ज्ञान प्रकाश[2] प्रभृति उल्लेखों से तत्कालीन शिक्षण-पद्धति का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त विषयों के सम्यक्-दर्शन से यह तथ्य भली-भाँति ज्ञात होता है कि उस समय बेरोजगारी की समस्या का प्रश्न ही नहीं था। वस्तुतः तत्कालीन शिक्षण-पद्धति की यह विशेषता है कि कोई भी वर्ग समाज पर भार-स्वरूप नहीं था। विविध कलाओं का, विज्ञान के नानाविध भेदों, समस्त वैदिक एवं शास्त्रीय विषयों, सम्पूर्ण नीतियों, विविध धातु एवं शिल्प कर्म, काष्ठ-कर्म-प्रभृति विषयों के अतिरिक्त ब्रह्म ज्ञान[3] जैसे सर्वोत्कृष्ट कोटि के धर्माधर्म-रहित तथा मृत्युभय से विमुख करने वाले ज्ञान का उल्लेख भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

गहन गम्भीरतम विषयों का अध्ययन विलक्षण प्रतिभावान् विद्यार्थी ही करते थे। जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा पठित विषयों के उल्लेख से ज्ञात होता है[4] कि तत्कालीन विषय ज्ञानवर्द्धक होने के साथ कितने प्रभावोत्पादक, उपादेय एवं व्यावहारिक भी होते थे। अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर प्राप्त की विद्या का ही यह अद्भुत प्रभाव था कि निर्धन ब्राह्मणी का घर भिक्षुक शंकर द्वारा कृतलक्ष्मी की आराधना से स्वर्णिम आँवलों से पूर्ण हो गया।

---

1. कादम्बरी शुकनासोपदेश वर्णना पृ० 313-316

2. कादम्बरी पृ० 134

3. कठोपनिषद् 2/3/18 "ब्रह्मप्राप्तो विरजो भूद् विमृत्युरन्यो प्येवं यो विदध्यात्ममेव।"

4. शंकर दिग्विजय 4/20 पृ०96

शील समन्वित आचरण करते हुए शिष्यवर्ग अपने गुरुजनों से समस्त विषयों में दक्षता प्राप्त करता था तथा निरन्तर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए शुभ परिणाम से व्याप्त जीवन पर अग्रसर होता था। वस्तुतः गुरुजनों के शुभाशीर्वाद से उसका सम्पूर्ण जन्म सार्थक होता था। प्राप्त-ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग से वह अपने जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र में लाभान्वित भी करता था। कपिंजल द्वारा प्रदत्त पुण्डरीक के प्रति उपदिष्ट ज्ञान वस्तुतः चन्दन के लेप के समान सांत्वना प्रदान करने वाला था। इसी प्रकार राजनीतिज्ञ मंत्रि-प्रवर द्वारा चन्द्रापीड को प्रदत्त उपदेश से तत्कालीन राजनीतिज्ञ-ज्ञान का विशद परिचय प्राप्त होता है।

आधुनिक युग में ऐसी अद्भुत योग्यता, असीम तेज एवं अपने विषय पर वास्तविक स्वामित्व प्रकट करने वाले शिक्षक एवं विद्यार्थी विलुप्त-प्राय हो गये हैं। यत्र-तत्र कतिपय शिक्षार्जन करने वाले एवं विद्यादान करने वाले सुलभ भी हों (असम्भव ही प्रतीत होता है) तो बहुसंख्यकों के मध्य अल्पमत वालों का स्थान ही नगण्य हो जाता है इसके अतिरिक्त वे out of date भी हो जाते हैं।

बालकों को मात्र जन्म देने एवं विद्यालयों में प्रवेश कराने मात्र से ही अभिभावकों के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। विद्याध्ययन हेतु बालक को गुरु के समीप उपस्थापित करने के उपरान्त भी वह निश्चिन्त नहीं होते थे। गुरु के पास भेजने के पूर्व संरक्षक स्वयं अपने बालकों को प्रारम्भिक-ज्ञान प्रदान करते थे। पिता के अभाव में माता भी[1] इस कर्तव्य का भली-भाँति निर्वाह करती थी। आचार्य शंकर ने भी बाल्यकाल में प्रारम्भिक ज्ञानोपार्जन माता-पिता के संरक्षण में प्राप्त किया था।[2]

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (4/15) पृ०94
2. वही (4/1) पृ०91।

उपर्युक्त तथ्यों से इस तत्य पर विशेष प्रकाश पड़ता है। आधुनिक-युग के समान माता-पिता बच्चों को स्वयं शिक्षित करने के प्रति इतने उदासीन नहीं थे। वस्तुतः बालक को विविध कार्य-कलापों का ज्ञान प्रदान करने के साथ जितना शीघ्र सुशिक्षित वातावरण उपलब्ध होगा उतना ही वह शिक्षा के प्रति सजग होगा। इसमें अभिभावक को सहयोग अवश्य प्रदान करना पड़ता है। संस्कार तो माता-पिता ही डालते हैं यथेष्ट संशोधन स्वयं शिक्षक करता है।

आचार्यों को चन्द्रापीड के सम-वयस्क मित्रों हेतु सुप्रतिष्ठित करने के उपरान्त तारापीड निश्चिन्त होकर नहीं बैठे थे, अपितु स्वयं प्रतिदिन विद्यालय जाते थे तथा चन्द्रापीड के निरन्तर होने वाले सर्वांगीण विकास का निरीक्षण करते थे।[1] शिक्षकों के पास बालकों को भेजने के उपरान्त भी यदि अभिभावक स्वयं उनकी शिक्षा के प्रति सावधान रहें एवं नित्यप्रति उनके शिक्षण-कार्य एवं उनकी समस्याओं के समाधान में रुचि लें तभी बच्चों के बौद्धिक-विकास में विलक्षणता का समावेश होगा। तारापीड द्वारा प्रस्तुत उदाहरण वर्तमान में संरक्षकों हेतु विशेषरूपेण दृष्टव्य है।

आधुनिकता के भँवर जाल में फँसकर वे अपने बालकों के समुचित विकास की ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते एवं बालक अज्ञानवश अपने अपरिपक्व विवेक से दिशा-बोध में संलग्न रहते हैं। जहाँ समाज में व्याप्त विविध प्रकार की बाधाएँ उसके मार्ग को अवरुद्ध करती हैं एवं उसको अपने मार्ग से भटकने हेतु अनेकों मृग-तृष्णाएँ विवश कर देती हैं।

शिक्षक के पास वस्तुतः इतना समय नहीं होता कि वह प्रत्येक बच्चे के सर्वविध विकास की ओर दृष्टिपात कर सके। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में विविध

---

1. कादम्बरी- चन्द्रापीडस्य शिक्षा वर्णना पृ0230
"प्रतिदिनैवोत्थायोत्थाय सह विलास वत्या विरल परिजनस्तत्रैव गत्वैनमालोकयामास राजा।"

तनावों, कार्य-भार का आधिक्य, अथवा फल-तत व्यर्थ के बाह्याडम्बर
कार्य में व्यवधान बनकर शिक्षकों के सम्मुख आते हैं। इसमें प्रशासन भी उत्त-
होता है।

अतः बालकों के समुचित विकास हेतु संरक्षकों का स्वयं सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत होना, बालकों की शिक्षा में रुचि लेना अभिभावकों का विशेष कर्तव्य है। अतः शिक्षा-जगत् में व्याप्त तनावों को दूर करने में अभिभावक भी पर्याप्त सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

गुरुजनों के सम्पर्क में यावदवधि निर्दिष्ट आचरणों का पालन करते हुए विद्यार्थी विद्योपार्जन करता था। इस प्रकार परम-विद्वान होकर समस्त विषयों में चातुर्य प्राप्त करता था। विभिन्न विषयों में पारंगत होकर विद्यार्थी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए सर्वविध प्रस्तुत होता था। विद्याध्ययन के उपरान्त गुरुजनों को समुचित दक्षिणा प्रदान करने एवं उनकी आज्ञा प्राप्त कर ही विद्यार्थी गृहस्थ बन सकता था। चन्द्रापीड समस्त विषयों में निष्णात होकर तारापीड द्वारा बुलवाये जाने पर, गुरु की आज्ञा प्राप्त कर ही[1] अपने निवास स्थान को गमनार्थ इन्द्रायुध पर सवार होता है।

वस्तुतः गुरु की आज्ञा का पालन सर्वत्र अत्यावश्यक होता है। बिना गुरु की अनुमति लिए किसी भी कार्य में सफलता की आशा करना व्यर्थ ही है। ब्रह्मचर्याश्रम के अतिरिक्त समस्त आश्रमों में प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने हेतु गुरु की अनुमति

---

1. कादम्बरी— राजाज्ञा निवेदन वर्णनम् पृ0235
"एवंच क्रमेण समारूढ यौवनारम्भं परिसमाप्त- सकल- कलाविज्ञापन् अधीता-शेषविद्यैवाव गम्यानु मोदितामाचार्येण चन्द्रापीडमानेतुं राजा बलाधिकृतं बलाहकनामान माहूय बहुतुरग-बल-पदाति परिवृतम् अतिप्रशस्तेऽहनि प्राहिणोत्"।

प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक के लिये अत्यनिवार्य था। वस्तुतः गुरु का परामर्श सर्वत्र औषधि के समान कल्याणप्रद होता था।

गुरु से अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त शिष्य का यह भी परम-कर्तव्य होता था कि [आधुनिक सन्दर्भ में शिक्षण-शुल्क-स्वरूप] गुरुजनों से निरन्तर विद्योपार्जन के प्रतिदान में दक्षिणा-स्वरूप कतिपय द्रव्य, शारीरिक परिश्रम अथवा मानसिक दृढ़-संकल्प के माध्यम से उनको सन्तुष्ट करे। इसके लिये वह हर-सम्भव प्रयास करता था। यद्यपि गुरूपदिष्ट-ज्ञान से सर्वस्व न्योछावर करने पर भी मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता, तथापि यह तो उसके भावनात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का विशिष्ट माध्यम है जिससे गुरु के प्रति शिष्य के चित्त की सदाशयता एवं श्रद्धाभाव की अभिव्यक्ति होती है।

इसके अतिरिक्त गुरु के उपदेश का भी कम महत्व नहीं होता। मनुष्य जीवन-पर्यन्त गुरुजनों के उपदेशामृत से स्वयं को अभिषिक्त करता है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं को अग्रणीय पाता है। साक्षात् शिवस्वरूप आचार्य शंकर[1] भी सम्पूर्ण विश्व को चमत्कृत कर सके थे। अपने ज्ञानोपदेश से प्रभावित कर सके थे।

गुरुजनों को शिष्य द्वारा अपने अविनयाचरण से कदापि पीड़ित नहीं करना चाहिए। सदैव उनको प्रसन्न बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए। श्री शंकर दिग्विजय के रचयिता के मतानुसार गुरुसेवा के साथ उनकी आज्ञा-पालन करते हुये उनको सदैव अपने प्रति दयालु बनाये रखना चाहिए। कदापि गुरुजनों के प्रति क्रुद्ध होकर अविहित आचरण न करे क्योंकि गुरु की कृपा रूपी कल्पलता हमारे सम्पूर्ण मनोवांछित फलों को पूर्ण करती है।[2] यदाकदा परिस्थितिवश अथवा अज्ञान-

---

1. श्री शंकर दिग्विजय [10/98] पृ0363.
2. वही [10/102] पृ0364

क्या क्रुद्ध भी हो जायें तो उनके कोप के निवारणार्थ सदैव प्रयासरत रहना चाहिए क्योंकि गुरुजनों के रूष्ट होने पर तो ईश्वर भी हमारा सहायक नहीं हो सकता। गुरु की सेवा मन्दबुद्धि व्यक्ति के लिए भी उसी प्रकार कल्याणकारिणी होती है तथा आत्मविषयक-ज्ञान-प्रदायिनी होती है जिस प्रकार अत्यन्त सामान्य-स्तर के व्यक्ति के लिये राम का नाम ही भवसागर को पार करने में सहायक होता है। अतः गुरुचरणों की सेवा में लीन रहने से मनुष्य का सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार विनष्ट होजाता है।

समीक्षा- आधुनिक सन्दर्भ में यत्र-तत्र स्थलों को छोड़कर अधिकांशतः शिक्षा, शिक्षण, एवं शिक्षार्थी मूलस्वरूप में तो प्राचीनवत् ही है तथापि परिस्थितियोंवश उनमें परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है, जो कहीं तो उपयोगी एवं आवश्यक प्रतीत होता है तथा कहीं इसकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है। वस्तुतः मूलवस्तु शिक्षा का उद्देश्य ही अपने न्यायोचित-पथ से विरत हो गया है। उसमें मात्र स्वार्थ-पूर्ति का भाव रह गया है इसीलिए सम्पूर्ण शैक्षिक जगत विविध तनावों का भण्डार बनकर रह गया है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना का तात्पर्य यही है कि गुरुजनों का महत्व सम्पूर्ण समाज के निर्माण में विशिष्टतम होता है। समाज का प्रत्येक घटक बिना गुरुजनों के यथोचित परामर्श के स्वयं को समाज में प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। चाहे वे छात्र हों या अभिभावक। साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक प्रभृति किसी भी क्षेत्र के बहुचर्चित मनस्विजनों का सम्पूर्ण निर्माण गुरुजनों के माध्यम से ही होता है। अतः सर्वप्रथम गुरुजनों की दयनीय-स्थिति को सुधारने की दिशा में विविध प्रयास किये जाने चाहिए। अभिभावक व प्रशासन प्रमुख रूप से इस महत्वपूर्ण कार्य में अपेक्षित सहयोग प्रदान कर सकते हैं। साथ ही गुरु का भी परम-कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने उत्तरदायित्वों की ओर से कदापि विमुख न हो। अनेकों

विषम परिस्थितियों में स्वयं दृढ़तापूर्वक कर्तव्यपालन में तत्पर रहे क्योंकि कर्तव्य निर्वाह करते हुऐ अधिकारी की उपलब्धि उसे स्वयं होगी। दुःख के उपरान्त सुखद-स्थिति अवश्यम्भावी है, किन्तु समय की प्रतीक्षा अवश्य करनी पड़ सकती है।

उपसंहार

शोध निष्कर्षों का मूल्यांकन

-उपसंहार-

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का स्वरूप ज्ञान-परक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था। जीवन के निर्माण तथा उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक थी। शिक्षा के अभाव में समाज की आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उन्नति सम्भव नहीं। ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। शिक्षा प्रकाश का स्रोत तथा मनुष्य का तीसरा नेत्र है। यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करती है।

प्राचीन भारतीय शिक्षाविदों ने "शिक्षा" शब्द का प्रयोग विस्तृत एवं संकुचित दोनों अर्थों में किया है। व्यापक अर्थ में शिक्षा का उद्देश्य सुसंस्कृत बनाना है। संकुचित अर्थ में शिक्षा-व्यवसाय चयन का माध्यम बनकर रह जाती है। विष्णुपुराण में अज्ञान की तुलना अन्धकार से की गयी है। जिस प्रकार, अन्धकार सभी पापों का आश्रयदाता है तथा इसमें अच्छे-बुरे की परख नहीं हो पाती है, उसी प्रकार अज्ञान से युक्त व्यक्ति भी अच्छे-बुरे कार्यों में भेद नहीं कर पाता है और जीवन में उदास होकर इधर-उधर भटकता रहता है। यदि शारीरिक विकास के लिये भोजन अत्यावश्यक है तो सर्वांगीण सामाजिक-विकास के लिये शिक्षा। इस प्रकार, सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं राजनैतिक-उत्कर्ष शिक्षा के अभाव में सम्भव नहीं है। शिक्षा-सम्मान प्राप्ति का कारण है। इसीलिए विद्याविहीन मनुष्य को "पशु" कहा गया है।

विद्या सद् और असद् में भेद स्थापित करके सद् को ग्रहण करने के लिये उत्प्रेरित करती है। मनुष्यों में सद्गुणों का अनुकरण शिक्षा से होता है। इससे उसका मन पवित्र एवं परिष्कृत होता है। जीवन के मुख्य लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति विद्या से ही सम्भव है। इससे विनय की प्राप्ति होती है। विनय से पात्रता मिलती है तथा पात्रता से धन की प्राप्ति होती है। धन से धर्म एवं धर्म

से सुख प्राप्त होता है। अतएव विद्या मौक्तिकसुखों की खान है, मूलस्रोत है।

वैदिक युग में सह-शिक्षा का प्रचलन था। स्त्री-पुरुष समान रूप से शिक्षा प्राप्त करते थे। स्त्रियों ने भी वैदिक-ऋचाओं की रचना की थी। उपनिषद् युग में वे पुरुषों की भाँति गोष्ठियों में बैठकर शास्त्रार्थ करतीं थीं। वे वाद-विवाद में भी सम्मिलित होती थीं। भवभूति ने भी सह-शिक्षा का उल्लेख किया है। कामन्दकी ने भूरिवसु और देवरात् के साथ शिक्षा ग्रहण की थी। कालान्तर में, स्त्री-शिक्षा के पतन के साथ-साथ सहशिक्षा को भी आघात लगा। संक्षेपतः प्राचीन भारतीय शिक्षा की समुन्नति में पुरुषों एवं स्त्रियों का समान योगदान था।

संस्कृत में वेदों के पश्चात् पुराणोंका महत्व सर्वविदित ही है, क्योंकि भारतीय-संस्कृति सर्वात्मना इनमें प्रतिबिम्बित हुई है। पुरातन-भारतीय-प्रज्ञा के श्रेष्ठ निदर्शन रूप में इनमें भारतीय-ज्ञान-विज्ञान की प्रभा-बिन्दु भावना परिलक्षित होती है। शोध के व्यापक क्षेत्र में यद्यपि पुराणों का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक-दृष्टि से विविध पक्षों पर अनुसंधानकों ने अनुसंधान पूर्ण अध्ययन किया है, तथापि अद्यावधि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति जैसा पक्ष शोध की दिशा में सर्वथा अस्पृष्ट रह गया था।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मत्स्य, वाराह, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत, स्कन्द, शिव, नारद, कूर्म, पद्म आदि पुराणों में प्रतिपादित और अप्रत्यालोचित प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के विभिन्न-पक्षों को शिक्षाविदों के समक्ष प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है।

वैदिककालीन प्राचीन-शिक्षा-पद्धति एवं पौराणिक-शिक्षा-पद्धति में पर्याप्त समानता थी। इसमें एक प्रधान प्रतिष्ठापक होता था जो सम्पूर्ण गुरुकुल की व्यवस्था हाथ में रखता था। साथ ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों का पूर्णरूपेण निर्वाह भी करता

था। ये गुरुकुल विभिन्न युगों में विविध संज्ञाओं से अभिहित किये जाते थे, जो किसी प्रकार के नगरीय अथवा ग्रामीण-कोलाहल से नितान्त पृथक् एवं परम-शान्त, रम्य एवं प्राकृतिक-वातावरण में स्थापित किये जाते थे। इनका उद्देश्य प्रमुख रूप से यही था कि छात्रवृन्द किसी प्रकार के बाह्य विभिन्न भौतिक-आकर्षणों से पराङ्मुख होकर अपनी उन्नति में ही निरन्तर एकाग्रचित्त से संलग्न रहें।

प्राचीन संस्कृति में जीवन एवं शिक्षा की संकल्पना मानव का उत्तमोत्तम-विकास है, जिसमें अनुदात्त विचारों, व्यावरण आदि का कोई स्थान नहीं है। वैदिक-समय की शिक्षा-पद्धति मानव को एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देने की सकल्पक संकल्पना है, जो देवत्व की ओर ले जाती है। वैदिक काल में जो भी शिक्षा के मानदण्ड रहे हैं, उनमें क्रमशः क्षरण हो रहा है। मानव अपने बाह्य सुख की ओर अग्रसर है। वैदिक-शिक्षा वस्तुतः जीवन का उत्कृष्ट-दर्पण है, जिसमें त्रुटि-बोध के साथ ही सत्कर्म की प्रेरणा है। वैदिक-संहितायें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों का परोक्ष-अपरोक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। पौराणिक-शिक्षा में वर्णों का विशिष्ट स्थान रहा है। जहाँ आज की शिक्षा उदरव्यसनी हो गयी है, वहीं पौराणिक-शिक्षा आत्म-तोष की अन्यार्थ्य-संरचना है। उसका मुख्य मानव का समग्र-विकास कर देवत्व की ओर अग्रसर करना है। उसमें समग्र संसार की कल्याण-कारी-उत्कर्ष-अभिप्रेरणा है। आज तर्क से तथ्यों को झुठलाने का अवांछित प्रयास किया जाता है, जो कि निन्दनीय ही नहीं, हेय है। गुरु का महत्वपूर्ण कार्य एक ऐसे स्वस्थ्य नागरिक का निर्माण रहा है, जो राष्ट्र के विकास में सर्वतोभावेन सहयोग प्रदान करता है।—मनु0 2/14, शक्ति0 1/4/75, स्कन्द0 4/36/54

पुराणों का गुरु जहाँ क्रोधरहित-आभा और ज्ञान की प्रत्यक्ष-प्रतिमूर्ति सौमनस्यपूर्ण और अविरल प्रसन्नता से युक्त है, वहीं शिष्य के उपकार हेतु सतत कटिबद्ध प्रतीत होता है। गुरु की कथनी और करनी में ऐक्य होने के कारण शिष्य

आचरण पूर्णतः प्रभावित होता है। पौराणिक गुरु सदाचारी, सच्चरित्र एवं सौम्यता की प्रतिमूर्ति है। वह अपने समस्त कार्य-कलापों को अपने जीवन में घोले रखता है। ऐसी स्थिति में शिष्य भी उस तरह के आचरण करने में अपने को धन्य समझता है।

स्मृतियों के अनुसार पुराणों में प्रतिपादित शिक्षक के व्यापक स्वरूप की गवेषणा की गयी है। इसमें आचार्य, उपाध्याय, गुरु का स्वरूप सूक्ष्मान्तर समझाया गया है।

आचार्य उसे कहते हैं, जो शिष्य को उसके उपनयन के पश्चात् शिक्षादि अंगों के साथ तथा रहस्यों की व्याख्या के साथ समग्र वेद की विद्या प्रदान करता है। [मनुस्मृति 2/140]

उपाध्याय वह कहलाता है, जो अपनी आजीविका के लिए शिष्य को वेद के एक अंग की अथवा वेद के सभी अंगों की शिक्षा देता है। [मनुस्मृति 2/141]

गुरु वह कहलाता है, जो अपने यजमान के यहाँ गर्भाधान आदि संस्कारों को विधिपूर्वक कराता है और [अपने गुरुकुल में] शिष्यों के भोजन का प्रबन्ध करता है।

शिक्षक के इन तीन भेदों में शिष्य को पूर्ण विद्वान् बनाने की प्रवृत्ति है। गुरु की आत्मा शिष्य के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए आकुलित होती है। वह अपने ज्ञान का सर्वस्व भण्डार उसे दे देने के लिए लालायित रहता है। यहाँ तक कि अपने शिष्य के लिए अन्य दूसरे सुयोग्य गुरु से शिक्षा प्राप्त करने हेतु सहृदयता से आदेशित भी कर देता है।

पुराणों में प्रतिपादित शिष्य को गुरुजनों के आश्रम में निवास करते हुये संयम, नियम, तप, त्यागपूर्ण एवं कष्टप्रद परन्तु मंगलमय मार्ग का अनुसरण करते हुए ज्ञानार्जन हेतु अध्ययन पूर्ण करना पड़ता था। उसका बाह्य वेश अत्यन्त सरल एवं

प्रभावोत्पादक होता था जो तत्कालीन प्राकृतिक परिवेश एवं शिक्षार्थियों की स्वाभाविक बौद्धिक-प्रवृत्ति के सामर्थ्यानुसार था।

पुराणों में प्रतिपादित पौराणिक विद्याओं, शास्त्र एवं कलाओं, वेद-वेदांग, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, साहित्य आदि का आलोचनात्मक अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसकी सांगोपांग विवेचना यथास्थान उपलब्ध होती है। पहले ब्रह्मा ने पुराण-विद्या ही प्रकाशित की थी और पीछे उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए। इस पर पुराण कहते हैं कि संसार को प्रकृति ने बनाया है, जिसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने का आदेश हमारे "वेद" देते हैं। वस्तुतः पुराण आजकल की भाषा में "फिजिक्स" कहे जा सकते हैं और वेद "कैमिस्ट्री"। "फिजिक्स" के बिना "कैमिस्ट्री" कोई काम नहीं दे सकती।

पुराणों में शिक्षा-संस्थानों के स्वरूप का वर्णन बड़ा ही मनोरम है। स्कन्दपुराण के अनुसार सरस्वती के मन्दिर में विद्यादान करना पुण्य का काम माना गया है। ऐसे मन्दिरों में धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान किया जाता था। शिक्षा के लिये ऋषि-मुनियों ने गुरुकुल की प्रणाली का आविष्कार किया था। ये गुरुकुल ग्रामों और नगरों से दूर प्रकृति के शान्त-वातावरण में होते थे। नैसर्गिक जलवायु और सात्त्विक आहार-विहार के परिवेश में प्राप्त शिक्षा आनन्दमयी ही होती थी, किन्तु वहाँ विलासमय जीवन की नहीं, अपितु त्याग-तपोमयी-दिनचर्या ही अनुमोदित थी। गुरु शिष्यों को शिक्षित कर अपने अन्तेवासियों को अन्तिम उपदेश दिया करते थे---- "सत्यंवद, धर्मंचर स्वाध्याय मा प्रमदः", अतिथि देवो भव, गुरु देवो भव। अन्त में गुरु उचित शिक्षा देता हुआ यही आदेश है, यही उपदेश है, ऐसा कहकर शिष्य को विदा करता था और चलते-चलते पुनः-पुनः अपने शब्द-निर्देशों से शिष्य को अभीप्सित-प्राप्ति हेतु निर्देशित करता था, क्योंकि स्नेह-पाप-बंध की स्थिति के कारण गुरु का हृदय }शिष्य का किसी तरह

अनिष्ट न हो) के लिए प्रेरित करता है। शिष्य के विदा होने के उपरान्त भी गुरु की कामनाएँ शिष्य की प्रगति के लिए ईश्वर से अभ्यर्थना करती रहती हैं।

पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के अन्य सम्बन्धित विविध पक्षों की समालोचना की गयी है। भारतीय-साहित्य में शिक्षा-सम्बन्धी जो प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे यहाँ शिक्षा को ऊँचा स्थान दिया गया था। मनुष्य को आजन्म श्रेष्ठ पथ पर अग्रसर करने वाले गुरु का स्थान इतना अधिक विलक्षण था कि उसका अपमान करने का संभवतः किसी को भी साहस नहीं होता था। इसलिए पुराण काल में मानव-जीवन को ज्ञानमय बनाने के कारण गुरु से किसी भी प्रकार से द्रोह न करने, उनके प्रति अविनयाचरण न करने का निर्देश किया गया है। शिष्य ही नहीं गुरु का सम्मान समाज का प्रत्येक वर्ग करता था, क्योंकि गुरु में कहीं भी संग्रह की भावना नहीं थी। शिष्यों के याचनार्जन से जो भी मिलता, वही उनके जीवन का संतोषप्रद जीविकोपार्जन था। वह थोड़ी मात्रा में ही संतुष्ट रहने के अभ्यासी थे। ईर्ष्या-द्वेष का दूर-दूर तक कहीं स्थान न था। उनके लिये कोई अपना पराया न था।

जहाँ एक और गुरु का लक्ष्य शिष्य के वैयक्तिक-निर्माण की ओर था, वहीं वे उसके सर्वतोमुखी-विकास के लिये उद्वेलित रहते थे। वस्तुतः हमारे प्रतिभासम्पन्न मनीषियों ने मानव-कल्याणकारी वस्तुओं में किन्हीं-न-किन्हीं विशिष्ट प्रतिमूर्तियों को स्थापित किया है, ताकि वे श्रद्धा की प्रतिमूर्ति बने रहें। जैसे गाय श्रद्धा की प्रतिमूर्ति है। उसका प्रत्येक कार्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अतः हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने गाय में माता की संकल्पना विकसित की। उसके रोम-रोम में कोटि-कोटि देवताओं का निवास बताया। तात्पर्यतः हमारे मूर्धन्य ऋषि-मुनियों ने कल्याणकारी वस्तुओं में देवत्व को प्रतिष्ठापित किया। मूर्ति में भगवान की संकल्पना विकसित की। गंगा हमारे भारतीय-समाज के लिये जगतारिणी है। आज भी उसमें स्नान कर स्वयं एवं अपने पूर्वजों के तरने-तारने की संकल्पना करते हैं।

संस्कृत-साहित्य की विविध विधाओं की कृतियों में प्राचीन शिक्षा-पद्धति के निरूपण में पुराणों का प्रभाव दर्शाया गया है। जैसे परम-पावन जान्हवी विविध स्थानों पर एवं परिस्थितियों में नानाविध-रूपों में परिवर्तित होती रहती है, परन्तु उसका मूल-स्वरूप एक-सा बना रहता है। वस्तुतः प्राणी-मात्र निरन्तर ज्ञानोपार्जन की दिशा में संलग्न रहने का इच्छुक होता है, फिर चाहे वह ज्ञान उच्च, मध्यम अथवा निम्नकोटि का क्यों न हो?

प्राचीन शिक्षा की संकल्पना हमारे मूर्धन्य ऋषिजनों एवं विद्वज्जनों ने अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सम्प्राप्ति हेतु व्यवस्थित की, जिसका मूल अभिप्राय मानव का सर्वतोन्मुखी उत्कर्ष व्यावहारिक जीवन में उसकी उपादेयता, साथ ही मानवीय-गुणों का ऊर्ध्वमुखी विकास करना था। तदर्थ, जीवन में सात्विकता, स्वावलम्बन, अग्रजों का सम्मान, मानवीय चतुर्मुखी-विकास का उद्देश्य सन्निहित रहा है। भारतीय-शिक्षा का मूल वैशिष्ट्य जीवन के दायित्वों का निर्वाह है, जिसमें अपकर्ष का कोई स्थान नहीं। मूलरूप में "या विद्या सा विमुक्तये" का सिद्धान्त व्यवहृत ही नहीं, उच्च-पराकाष्ठाओं से समन्वित है। भारतीय प्राचीन शिक्षा में जीवन का कोई भी पहलू अछूता नहीं है। भले ही उसमें शारीरिक-सुख की अवहेलना हो, लेकिन आन्तरिक-तोष की अभिव्यक्ति का प्राचुर्य है।

स्मृतियों और पुराणों में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म तक महनीय बताया गया है। प्राचीन युग में गुरु बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही मिला था, जो अन्य विद्याओं के साथ-साथ शस्त्रविद्या, युद्धनीति तथा अर्थशास्त्र भी पढ़ाते थे, किन्तु यह आशय था कि यदि ब्राह्मण गुरु न मिले तो क्षत्रिय गुरु से भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी। आगे चलकर इन गुरुओं के दो भेद हो गये—— एक शिक्षा-गुरु, दूसरे दीक्षा-गुरु। जो विद्वान केवल विभिन्न शास्त्र मात्र पढ़ाता था, वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयन के पश्चात् छात्र

को अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार भी सिखाता था, उसे दीक्षा-गुरु कहते थे। ये दीक्षा-गुरु अपने छात्रों को रहने का स्थान भी देते थे और उनके भोजन की व्यवस्था भी करते थे। इतना ही नहीं, यदि कोई छात्र किसी दूसरे आचार्य से कोई विद्या पढ़ना चाहता था तो उसे दूसरे गुरु के पास जाकर पढ़ने की सुविधा भी देते थे।

स्मृतियों में चार प्रकार के शिक्षक माने गये हैं— कुलपति, आचार्य, उपाध्याय और गुरु। जो ब्रह्मर्षि विद्वान् दस सहस्त्र मुनियों [विद्या का मनन करने वाले ब्रह्मचारियों] को अन्न-वस्त्र आदि देकर पढ़ाता था, वह "कुलपति" कहलाता था। जो अपने छात्रों को कल्प [यज्ञ करने की विधि] और रहस्य [उपनिषद्] के साथ वेद पढ़ाता था, वह "आचार्य" कहलाता था। जो विद्वान् मन्त्र और वेदांग [शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण और छन्द] पढ़ाता था, वह "उपाध्याय" कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रों को भोजन देकर वेद-वेदांग पढ़ाता था, वह "गुरु" कहलाता था। उस समय यही विश्वास था कि विद्या-दान से बढ़कर कोई दान नहीं है, क्योंकि विद्या पढ़ाने से जीव की मुक्ति हो जाती है। इसीलिए अनेक विद्वान् सब प्रकार की तृष्णा को त्यागकर लोक-कल्याण की कामना से छात्रों को विद्या-दान करते ही रहते थे।

उपनयन के पश्चात् गुरु अपने समागत शिष्य को ऐसे शिष्टाचार की शिक्षा देते थे कि किस प्रकार अपने गुरु, सहपाठी और अतिथि के साथ व्यवहार करना चाहिए। इस शिष्टाचार की शिक्षा के साथ-साथ बालक में नियमित नित्यकर्म, संध्या-वन्दन, हवन, गुरु-शुश्रूषा तथा अपने से बड़े छात्रों के प्रति आदर का संस्कार डाला जाता था। ऐसे शिष्टाचार का संस्कार पड़ चुकने पर ही बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी।

गुरु का कार्य केवल पढ़ाना ही नहीं था। उनका यह भी धर्म था कि वे

छात्रों के आचरण की भी रक्षा और देख-रेख करें, उनमें सदाचार की भावना भरें, उनकी बौद्धिक-योग्यता में संवर्धन करें, उनके कौशल और उनकी प्रतिभा की सराहना करके उनकी सर्वांगीण अभिवृद्धि में सहायता करें, वात्सल्य-भाव से उनका पोषण करें, उनके भोजन-वस्त्र की समुचित व्यवस्था करें, उनके रुग्ण हो जाने पर उनकी सेवा करें, जिस समय भी वे विद्या सीखने या शंका का समाधान कराने आवें उसी समय उनकी शंका का समाधान करें, उन्हें पुत्र के समान मानें और यदि कोई शिष्य विद्या-बुद्धि-कौशल में अपने से बढ़ जाये तो इसे अपना गौरव समझें।

शिष्य भी गुरु को पिता और देवता मानकर उनमें अखण्ड श्रद्धा रखते थे। गुरुकुल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी सब समान रूप से रहते थे। उनमें छोटे-बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धन का कोई भेद नहीं होता था। शिष्य सब प्रकार से गुरु की कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और उन्हें प्रसन्न रखने के लिये प्रयत्नशील रहता था। यही कारण था कि उस युग के सभी शिष्य एक-से-एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। वे तपस्वी और गुरु-भक्त शिष्य अपने गुरुओं की सेवा करते थे और शुद्ध हृदय से उनका इतना सम्मान करते थे कि गुरुजी की जो भी आज्ञा होती थी उसका तत्परता के साथ तत्काल पालन करते थे। वे सदा गुरु जी के पीछे चलते थे, गुरु जी यदि उन्हें बुलाते तो वे गुरु जी की बाँयी ओर खड़े होकर उनकी बात सुनते। यदि गुरु जी हाथ में कुछ लेकर होते तो शिष्य दौड़कर स्वयं वह वस्तु उनके हाथ से लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगते। वे सदा यह ध्यान रखते थे कि गुरु जी को किसी प्रकार का कष्ट या असुविधा न हो। अध्ययन के समय वे गुरुजी के दोनों पैर धोकर आचमन करके गुरु जी के सामने बैठकर अध्ययन करते थे।

गुरुकुल में ब्रह्मचारी का धर्म था कि वह गुरु के बुलाने पर निकट आकर उनसे वेद पढ़े, मननपूर्वक वेद के अर्थ पर विचार करे, मूँज की मेखला, कृष्णाजिन [काले हरिण की छाल], स्वयं बटी हुई जटायें धारण किये रखे, दन्तधावन करे,

पहनने के वस्त्र न धुलावें, रंगीन आसन पर न बैठे, कुशा लिये रहे, स्नान, भोजन, जप और मल-मूत्र त्यागने के समय मौन रहे, नख न काटे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रातः-सायं संध्याओं में मौन होकर गायत्री का जप करता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़ों और देवताओं की उपासना करता हुआ संध्या-वंदन करे। आचार्य को सदा साक्षात् ईश्वर समझे, उनकी किसी भी बात का बुरा न मानें, जो कुछ भिक्षा मिले सब गुरु जी के आगे लाकर रख दे। उनके भोजन कर चुकने पर गुरु की आज्ञा पाकर संयतभाव से उसमें से स्वयं भी भोजन करे, नम्रतापूर्वक गुरु के निकट ही रहकर सदा गुरु की सेवा करे, गुरु सो जायें तभी सोये। जब तक विद्याध्ययन पूर्ण न हो जाये तब तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में रहे। यदि उसे महः, जनः, तपः अथवा ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा हो तो बृहद्व्रत [निष्ठिक-ब्रह्मचर्य] धारण करके जीवन भर गुरु की सेवा करता हुआ विद्यायें सीखता रहे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ब्रह्मचारी प्रज्ज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारी की कर्म-वासनायें तीव्र तप से भस्म हो जाती हैं और अन्त में वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह भारत का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि ऐसी उदात्त शिक्षा-व्यवस्था हमारे देश से पूर्णतः लुप्त हो गयी और आज हमारी सम्पूर्ण शिक्षा केवल परीक्षायें उत्तीर्ण करने-कराने का साधन-मात्र बनी रह गयी है। गुरु-शिष्य का पवित्र-सम्बन्ध समाप्त हो गया है और शिक्षा एक व्यवसाय-मात्र रह गयी है, विमुक्ति दिलाने वाली विद्या स्वप्न हो गयी है।

सम्पूर्ण पौराणिक-कार्य विधि मानव-कल्याण की उद्भावना से प्रेरित है, उसमें ईर्ष्या-द्वेष को कहीं स्थान प्राप्त नहीं है। जहाँ आज की शिक्षा व्यक्तिगत है, वहीं पौराणिक-शिक्षा समष्टिगत है। जीवन के शाश्वत-मूल्यों का यदि कहीं दिग्दर्शन हुआ है, तो वह पौराणिक-काल ही है और यदि ह्रास हुआ है तो उसका सटीक उदाहरण वर्तमान है। गुरु का सम्मान पहले ईश्वर का सम्मान था।

आज का गुरु क्रीत-शिक्षा-सेवक है। आज का वेतनभोगी अध्यापक गुरु शब्द सुनने में ही कुण्ठान्वित होता है, क्योंकि गुरु शब्द से अब वह सम्मान की अनुभूति नहीं होती, जो पौराणिक-काल में थी। आचरण की शुद्धता का अभाव आजकल शिक्षा को सर्वाधिक प्रभावित कर रहा है। यदि किंचिद्मात्र भी ईश-कृपा से प्राचीन-परिपाटी को ध्यान में रखकर कार्य करने की सोची जाये, तो यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा में सुधार होने में कहीं कोई विलम्ब की परिस्थिति सम्भव नहीं। जब तक नैतिक-मूल्यों का संवाहन करने की क्षमता हममें नहीं होती, तब तक बौने को तारा तोड़ने की स्थिति की तरह ही हास्यास्पद परिकल्पना होगी।

इतिशम्
=====

— परिशिष्ट —

सहायक ग्रन्थ सूची

-सहायक ग्रन्थ सूची-

आधार ग्रन्थ-

1- श्रीमद्भागवत पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण

2- मत्स्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, प्रथम संस्करण

3- शिव पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली, द्वितीय संस्करण

4- वाराह पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण

5- ब्रह्मवैवर्त पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण

6- स्कन्द पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण

7- नारद पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण

8- कूर्म पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण

9- पद्म पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली, प्रथम संस्करण

10-अग्नि पुराण, हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम पूना

11-मार्कण्डेय पुराण, पंचानन तर्क रत्न, कलकत्ता

12-ऋग्वेद, लेखक-पं0 रामगोविन्द द्विवेदी, सुल्तानगंज [भागलपुर]

13-ऋग्वेद, लेखक- पं0 दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, [प्रथम संस्करण]

14-अथर्ववेद- परोपकारिणी सभा, अजमेर, प्रथम संस्करण

15-शुक्ल यजुर्वेद, लेखक- दौलतराम गौड़, वाराणसी, प्रथम संस्करण

16-वाजसनेयि संहिता, काशी संस्कृत सीरीज, बनारस

17-काण्व-संहिता, भारत मुद्रणालय

18-तैत्तिरीय संहिता, आनन्दाश्रम पूना

19-मैत्रायणी संहिता, श्रोडर, अनुवादक- ए0बी0 कीथ, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी

20-शतपथ ब्राह्मण, श्रीधर अवस्थी, अच्युत ग्रन्थमाला [काशी]

21-ऐतरेय ब्राह्मण, काशीनाथ विनायक आप्टे

22-जैमिनीय ब्राह्मण, डॉ0 रघुवीर चन्द्र, नागपुर, आनन्दाश्रम पूना

23-कौषीतकि ब्राह्मण, डॉ0 मंगलदेव शास्त्री, वाराणसी, प्रथम संस्करण

24-तैत्तिरीय आरण्यक, पूना संस्करण प्रथम

25-निरुक्त यास्क, सम्पादक- देवराज, कलकत्ता

26-अष्टाध्यायी, पं0 बालकृष्ण पंचुली, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी

27-मनुस्मृति- पं0 जनार्दन झा, कलकत्ता सप्तम संस्करण

28-महर्षि बाल्मीकि प्रणीत- श्रीमद्बाल्मीकिरामायण, प्रथम भाग

[बाल0 से किष्किन्धा काण्ड पर्यन्त] गीताप्रेस,

गोरखपुर, प्रथम संस्करण

29-महाभारत- प्रकाशक- श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर

30-कालिदास ग्रन्थावली, पं0 सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, प्रथम संस्करण

31-कालिदास ग्रन्थावली, डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, प्रथम संस्करण

32-भासनाट्य ग्रन्थावली, सम्पादक- रामजी उपाध्याय, वाराणसी

33-कादम्बरी- बाणभट्ट विरचिता "चन्द्रकला" हिंदी, संस्कृत व्याख्योपेता,

व्याख्याकार- आचार्य शेषराज शर्मा, चौखम्बा, वाराणसी, प्रथम संस्करण

34-याज्ञवल्क्य स्मृतिः [आचाराध्याये-ब्रह्मचारि प्रकरणम्] मिताक्षरा प्रकाश, टीका सहिता

35-भर्तृहरि कृत नीतिशतकम्, डॉ० बाबूराम त्रिपाठी शास्त्री, महालक्ष्मी-प्रकाशन आगरा-2

36-महाकवि तुलसी विरचित श्री राम चरित मानस-
हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर

37-पातंजल दर्शनम् [व्यास टीका]
सम्पादक एवं प्रकाशक-- जीवानन्द विद्यासागर, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता

सन्दर्भ ग्रन्थ--

1- ऋग्वैदिक आर्य- राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद तथा दिल्ली

2- मत्स्य पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

3- स्कन्द पुराण एक अध्ययन, डॉ० ए०बी०एल० अवस्थी, लखनऊ

4- पुराण विमर्श, पं० बल्देव उपाध्याय, वाराणसी, प्रथम संस्करण

5- पुराण परिशीलन, पं० क० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पटना, प्रथम संस्करण

6- पुराण पर्यालोचनम्, श्री कृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, प्रथम संस्करण

7- पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेव शरण अग्रवाल, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

8- पतंजलिकालीन भारत, डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

9- पुराणतत्वमीमांसा, श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, ढुंढिघाट, वाराणसी

10-प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, डॉ0 रांगेयराघव, दिल्ली

11-योगदर्शन, डॉ0 सम्पूर्णानन्द

12-श्री शंकर दिग्विजय- लेखक श्री माधवाचार्य, प्रकाशक- महन्त महादेवनाथ, श्री विश्वनाथ मंदिर, हरिद्वार

13-गीता प्रवचन- आचार्य विनोबा भावे, परंधाम प्रकाशन, पवनार, वर्धा।

14-गुरु महात्म्य शतकम्- डॉ0 कैलाशनाथ द्विवेदी, प्रकाशक- सुबोध प्रकाशन, कानपुर।

15-भारतीय दर्शन- म0म0 उमेश मिश्र (उपकुलपति-कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा ।

16-ऋग्वैदिक- कल्चर, डॉ0 ए0सी0 दास, वाराणसी।

17-वैदिक इण्डिया, सी0वी0 वैद्य, बम्बई

18-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पी0वी0 केन0

19-कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम मत्स्य पुराण, एस0जी0 कन्टा

20-एजूकेशन इन एनसीएण्ट इण्डिया, डॉ0 अलटेकर, दिल्ली

21-संस्कृत साहित्य में निरूपित गुरु-शिष्य परम्परा- डॉ0 रंजन तिवारी, कानपुर विश्वविद्यालय

पत्र एवं पत्रिकायें-

1- कल्याण (शिक्षा विशेषांक) प्रकाशन- गीता प्रेस, गोरखपुर

2- सरस्वती, सम्पादक- श्रीहरिकेशव घोष, श्री देवीदत्त शुक्ल, इलाहाबाद

3- गीर्वाण ज्ञानेश्वरी